प्रकाशक —

लालजीभाई सत्यस्नेही

मन्त्री- सत्याश्रम मंडल वर्धा



मुद्रक —

सदाशिव गोमारो

मैनेजर- सत्येश्वर प्रि. प्रेस वर्धा

विषय सूची

प्रास्ताविक — पृ.

१— महामानव का जीवन ७
२— जीवन सामग्री ९
३— महावीर जीवन और जैनधर्म १२
४— अन्तस्तल १६
५— तुलना १८
६— दैनन्दिनी की तिथियाँ २०

महावीर का अन्तस्तल—

१— अशान्ति १५
२— भीगी आंखें २३
३— फीका वसन्त २७
४— आंसुओं का द्वन्द ३०
५— मां की शक्ति ३५
६— अधूरी सान्त्वना ४१
७— संन्यास और कर्मयोग ४३
८— सीता उर्मिला के उपाख्यान ४९
९— नारी की साधना ५३
१०— सर्वज्ञता की सामग्री ५४
११— पितृवियोग ५६
१२— मातृ वियोग ६०
१३— भाई जी का अनुरोध ६३
१४— गृह तपस्या ६५
१५— उलझन ७१

१६- देवी की अनुमति	७२
१७- निष्क्रमण	७७
१८- अब भी राजकुमार	८६
१९- पारिपार्श्वक एक बाधा	८६
२०- रस समभाव	९४
२१- केश लौंच	९५
२२- अदर्शन विजय	९७
२३- तापसाश्रम में	९९
२४- शूलपाणि यक्ष का मन्दिर	१०३
२५- दम्भी का भण्डाफोड़	१०६
२६- वस्त्र छूटा	१११
२७- अहिंसा की परीक्षा	,,
२८- शुद्धाहार	११४
२९- सत्कार विजय	११६
३०- संवर्तक (बड़ा तूफान)	१२०
३१- गोशाल	१२३
३२- नियतिवाद के बीज	१२६
३३- उदासीनता की नीति	१३१
३४- एक राज्य की आवश्यकता	१३४
३५- शृंगार का प्रवाह	१३७
३६- बीभत्स टोटके	१४१
३७- पथिक का उत्तरदायित्व	१४६
३८- श्रमण विरोध	१४८
३९- दुःख निमन्त्रण हेय	१५४
४०- स्वघातक विद्वेष	१५७
४१- यक्षपुजारी की श्रमणभक्ति	१५९
४२- जीवसमास और अहिंसा	१६१
४३- विरोध और सभ्यता	१६९

४४- मल्लि अर्हन्त	१७२
४५- सत्य और तथ्य	१७३
४६- पांच व्रत	१७८
४७- बाईस परिषह	१८०
४८- मन्त्र तंत्र	१८६
४९- गणतन्त्र और राजतंत्र	१९२
५०- अनुमति की आवश्यकता	१९६
५१- अवधिज्ञानी आनन्द	१९९
५२- सर्वज्ञता	२०३
५३- त्रिभंगी	२०५
५४· सप्तभंगी	२०८
५५- दासता की कुप्रथा	२११
५६- स्वप्न जगत्	२१३
५७- क्या लूटें	२१६
५८- तत्त्व	२१७
५९- पुण्य पाप	२१९
६०- शुभत्व के दो किनारे	२२१
६१- तप त्याग का प्रभाव	२२४
६२- निमित्त और उपादान	२३०
६३- दासता विरोधी अभिग्रह	२३१
६४- जीव सिद्धि	२३४
६५ संघ की आवश्यकता	२३७
६६- गुणस्थान	२४०
६७- केवलज्ञान	२४५
६८- लोक संग्रह के लिये	२४८
६९- मुख्य शिष्य	२५२
७०· साध्वी संघ	२६४
७१- सफल प्रवचन	२६५

७२– मनोवैज्ञानिक चिकित्सा २६८
७३– नन्दीषेण की दीक्षा २७१
७४– जन्मभूमि दर्शन २७३
७५– जयन्ती के प्रश्न २७८
७६– गौतम की क्षमायाचना २८०
७७– स्वाभिमानी शालिभद्र २८५
७८– कालगणना २८६
७९– कठोर अनुशासन २८७
८०– देवलोक की अवधि २८९
८१– चतुरता का उपयोग २९२
८२– अनेकांत का उपयोग २९५
८३– परिचित की ईर्ष्या २९८
८४– मृगावती की दीक्षा ३०२
८५– शब्दालपुत्र ३०४
८६– पत्नी का अपमान ३०९
८७– स्कन्द परिव्राजक ३१०
८८– जमालि की जुदाई ३११
८९– गोशाल का आक्रमण ३१६
९०– मेरी बीमारी ३२३
९१– प्रियदर्शना का पुनरागमन ३२४
९२– केशी गौतम संवाद ३२८
९३– सामायिक पर आक्षेप ३३२
९४– राज्य को दुलत्ती ३३३
९५– सोमिल प्रश्न ,,
९६– श्रमणोपासक परिव्राजक ३३५
९७– गांगेय ,,
९८– गौतम प्रश्न
९९– पञ्चास्तिकाय ३३८

१००- भेदभाव का बहाना ३४०
१०१- जीव कर्तृत्व ३४३
१०२- तत्त्व अतत्त्व ३४५
१०३- निर्वाण ३४७
म. महावीर और सत्यसमाज ३४९
सत्यसाहित्य ३५६

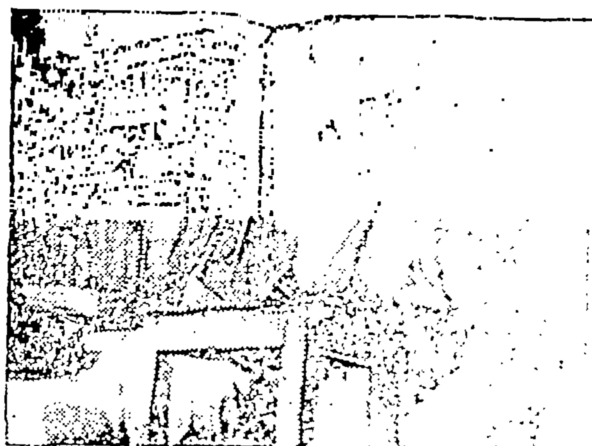
अन्तस्तल की साधना

महावीर के अन्तस्तल को लिपिवद्ध करनेवाले महान सत्पुरुष ने वर्द्धमान स्वामी के जीवनचरित्र और संदेशों पर मनन करते समय इतना प्रबल परिश्रम किया है, जितना संसार के किसी वैज्ञानिक आविष्कार करनेवाले व्यक्ति ने शायद ही किया हो। मेरा विश्वास है कि आज तक किसी भी धर्म के संस्थापक और उसके नाम से प्रचलित शास्त्रों पर इतना सूक्ष्म, मौलिक और तथ्यपूर्ण विवेचन नहीं हुआ। इस ग्रन्थ को लिखते समय, सुनाते समय लेखक ने आँसुओं की धाराओं से अपने आसपास के वातावरण को विचारों के रस से परिप्लावित कर दिया है। जिस जिसने महावीर के अन्तस्तल का महाभिनिष्क्रमण अध्याय पढ़ा है उस उसकी छाती कठोर से कठोर हो तो भी कोमल बनकर निचुड़े विना नहीं रही है। महापुरुषों के दिलको समझने के लिये महापुरुष ही चाहिये। सचमुच महावीर के अन्तस्तल को लिखते समय स्वामी सत्यभक्तजी स्वयं महावीरमय होगये हैं।

हमारा कोटि कोटि वन्दन।

वार्शी (सोलापुर) सूरजचन्द सत्यप्रेमी

—: अन्तस्तल के लेखक :—



स्वामी सत्यभक्त

प्रास्ताविक

१ – महामानव का जीवन –

महात्मा महावीर सरीखे हजारों वर्ष पुराने महामानवों का चरित्र मिलना बहुत कठिन है। क्योंकि उस समय इतिहास को सुरक्षित रखने के इतने साधन नहीं थे जितने आज हैं। फिर जो व्यक्ति हजारों लाखों व्यक्तियों का देव बनगया हो उसका जीवन भक्तिवश इतना अतिरञ्जित कर दिया जाता है कि घटनाएँ ज्ञात होने पर भी असम्भव कोटि में पहुँच कर, अविश्वसनीय बनकर, व्यर्थ होजाती हैं। महात्मा महावीर की जीवन सामग्री भी इसीप्रकार अन्धश्रद्धाओं और विस्मृतियों के नीचे दबी पड़ी है। जो विस्मृतियों के नीचे दब गई हैं उसका तो कोई उपाय नहीं है परन्तु जिनपर अन्धश्रद्धा का आवरण पड़ा है उन्हें आवरण हटाकर देखना कष्टसाध्य होने पर भी सम्भव है।

अन्धभक्त लोग भक्ति के आवेग में जो कह जाते हैं उससे वे समझते हैं कि इससे उनने उस महामानव के प्रति कृतज्ञता प्रगट की है, इसप्रकार उपकार का कुछ बदला चुका है जब कि वे अन्धश्रद्धाओं से अपकार ही करते हैं।

महात्मा महावीर कितने अनुभवी थे, लोकसेवक थे, उन्हें भीतरी बाहरी कठिनाइयों का कैसा सामना करना पड़ा, वे किस प्रकार की क्रांति कर गये, उन्हें उन्हीं के आदमियों ने कितना सताया, पर उसमें वे किस प्रकार अचल रहे आदि बातों का पता अन्धश्रद्धालुओं के महावीर-जीवन से नहीं लगता। अन्धश्रद्धालुओं की दृष्टि से महावीर के जन्म समय देव आये, उनके साथ देव खेले, दीक्षा के समय देवों ने पालकी उठाई इन्द्रादि देवता मौके मौके पर हाजिर होते रहे, देवाङ्गनाएँ उनके सामने नृत्य करती रहीं। ऐसे महावीर एक तीर्थंकर की तरह लोकसेवक नहीं रहते किन्तु पुश्तैनी बादशाह की तरह पुण्य

फल के भोगी रहते हैं।

जैनों ने (कर्मवाद के भीतर) तीर्थंकरत्व को सब से बड़ी पुण्य प्रकृति (दैव) मानलिया है, जिसका भोग तीर्थंकर करते हैं। वह पुण्य प्रकृति चक्रवर्ती या सम्राट से भी बड़ी है। इसप्रकार तीर्थंकरत्व भोग-प्रधान बनगया है। वह जगत्सेवा की बड़ी कठोर साधना है, कांटों का ताज है, यह वास्तविकता जैनों की दृष्टि से ओझल होगई है। इसलिये वे महावीर सरीखे महान कष्टसहिष्णु तीर्थंकर की वास्तविक महत्ता न समझ पाते हैं, न समझा पाते हैं। हिंदू धर्म के अवतारवाद की छाप ने भी तीर्थंकर के जीवन को इसप्रकार बेकार कर दिया है।

अन्धश्रद्धालुओं के महावीर पूजनीय देव हैं अनुकरणीय महामानव नहीं, ऐसी हालत में जब कि आज के वैज्ञानिक युग ने देवताओं की इतिश्री करदी है तब महावीर देव की भी इतिश्री होजाती है। वे किसी पौराणिक कहानी के कल्पित नायक के समान रह जाते हैं क्रांतिकारी ऐतिहासिक महामानव नहीं।

पर इसमें सन्देह नहीं कि वे एक महामानव थे। उनकी महत्ता देवताओं से सेवा कराने में नहीं, किन्तु दुखी दुनिया की सेवा करने में, उसका विवेक जगाने में, एक नई व्यवस्था कायम करने में थी। वे जन्म से मानव थे अपने त्याग तप अनुभव तर्क विवेक आदि से महामानव बने थे इसलिये अुनका जीवन अनुकरणीय है, आज भी सम्भव होने से चिरन्तन है वास्तविक है।

अगर हम चाहते हैं कि मुट्ठीभर जैन लोग ही नहीं, किन्तु सारी दुनिया के लोग म. महावीर को समझें, उनके जीवन से प्रभावित हों, उनकी महामानवता की कद्र करें और अुनके सन्देशों से लाभ उठायें तो हमें बताना होगा कि जन्मजात मानव राजकुमार वर्धमान, मानव से महामानव कैसे बने?

किसी आसमानी देवों की फौज के सहारे नहीं, किंतु अपने ही मनोबल से विवेकबल से जगदुद्धारक कैसे बने ? इनका जीवन भी साधारण मनुष्य का जीवन था, उनकी परिस्थितियाँ भी साधारण मनुष्य के समान थीं, इसी दुनिया के भले बुरे आदमियों के सिवाय और कोई आसमानी प्राणिजगत उनका सहयोगी या विरोधी नहीं था। ऐसा महावीर-चरित्र ही श्रद्धेय कहा जासकता है, अनुकरणीय कहा जासकता है, सच्चे महामानव का जीवन कहा जासकता है।

२– जीवन सामग्री—

म. महावीर के माननेवाले आज दो फिरकों में बटे हुए हैं। एक हैं दिगम्बर दूसरे हैं श्वेताम्बर। इनके भी भेद प्रभेद हैं, पर मुख्य ये दो ही हैं। और महावीर जीवन सम्बन्धी मतभेद भी इन दो से ही सम्बन्ध रखता है। इनमें दिगम्बरों के पास महावीर जीवन सम्बन्धी सामग्री नहीं के बराबर है। मातापिता के नाम, जन्म मृत्यु के स्थान, उम्र, मुख्य शिष्यों के नाम विहार के एक दो स्थान या एकाध घटना बस, ऐतिहासिक सामग्री इतनी ही है। बाकी पूर्व जन्म की कल्पित कहानियाँ, देवों की कहानियाँ ही हैं। दिगम्बर इस मामले में भी दिगम्बर होगये हैं।

श्वेताम्बरों के पास यद्यपि पौराणिक कल्पित कहानियों और दिव्य चमत्कारों की कमी नहीं है परन्तु वास्तविक ऐतिहासिक सामग्री भी काफी है। चमत्कारों के बीच बीच में महावीर की मानवता के भी काफी दर्शन होते हैं।

महावीर के जीवन के बारेमें जो दोनों सम्प्रदायों में मतभेद हैं वे विधि निषेधात्मक इतने नहीं हैं जितने विधि उपेक्षात्मक। श्वेताम्बर कहते हैं कि महावीर का विवाह हुआ था, दिगम्बर इसके निषेध पर जोर नहीं देते, किन्तु उपेक्षा करते हैं,

३—जो घटनाएँ वास्तविक तो मालूम हुईं परन्तु उनमें अवास्तविकता का इतना मिश्रण मालूम हुआ कि वह विश्वसनीय नहीं रहीं उसे ठीक रूपमें सुधार दिया है । जैसे चण्डकौशिक सर्पवाली घटना ।

४—जिन साधारण घटनाओं को देवताओं के साथ जोड़ दिया गया है, उन्हें मानुषीय रूप देदिया है । इससे वे घटनाएं स्वाभाविक और सम्भव मालूम होने लगी हैं और इससे महावीर स्वामी के व्यक्तित्व को कोई धक्का नहीं लगा है बल्कि विशेष रूपमें चमका है ।

५—जो घटनाएं अवधिज्ञान केवलज्ञान के अलौकिक अविश्वसनीय रूप के आधार पर चित्रण की गई थीं उन्हें प्रतिभा तर्क सूक्ष्मावलोकन आदि के आधार पर चित्रित किया गया है । इससे घटनाएं संभव और स्वाभाविक बनगई हैं ।

६— कहीं कहीं खटकनेवाली शून्यता को उचित कल्पनाओं से भर दिया है । जैसे महावीर के अनेक वर्षों तक दाम्पत्य जीवन में रहने पर भी, एक सन्तान के पिता होजाने पर भी, उनके दाम्पत्य जीवन का, पत्नी के साथ उनकी कोई बातचीत प्रेम या प्रेम संघर्ष का, जरा भी उल्लेख न होना खटकनेवाली शून्यता है । मैंने उसे कल्पित चित्रणों और वार्तालापों से भर दिया है । इसमें इस बात का ध्यान जरूर रक्खा है कि इससे महावीर के व्यक्तित्व को क्षति न पहुँचे, चित्रण उनके स्वभाव के विरुद्ध न हो, उनकी जीवन चर्या से मेल बैठाने वाला हो ।

म. महावीर गृहस्थोचित कर्तव्य का निर्वाह करते हुए भी घर में ही वैरागी सरीखे रहे, यहां तक कि साधु सरीखे तप त्याग भी करने लगे, उनने गृहत्याग का संकल्प भी बहुत पहिले घोषित कर दिया था ऐसी हालत में उनकी पत्नी के मन पर क्या बीतती होगी, इधर महावीर का यह नियम था कि पर-

वालों की अनुमति लेकर ही गृहत्याग करूंगा, ऐसी हालत में पत्नी की अनुमति के लिये उनके मनपर क्या बीतती होगी, इसका कोई चित्रण जैनशास्त्रों में नहीं है। पत्नी से तो अनुमति लेने की भी बात नहीं है जो आवश्यक है, मर्मस्पर्शी है। मैंने इस मानसिक द्वन्द्व को काफी विस्तार से मनोवैज्ञानिकता के आधार पर लिखा है। इसमें पति पत्नी का व्यक्तित्व निखरा है, अपनी अपनी दृष्टि से महान बना है और स्वाभाविक भी रहा है।

इसीप्रकार भाई भौजाई आदि के साथ भी उनकी बातचीत का चित्रण किया है। इसी तरह जब वे अर्हत होकर जन्म-भूमि लौटे हैं तब भी पुत्री के मुंह से पत्नी-मरण का समाचार ढंग से कहलाया है। और भी जहां जहां आवश्यक मालूम हुआ शून्यता को उचित ढंग से भरा है।

७— दो चार जगह ऐसी घटनाओं का भी चित्रण किया है जो कि महावीर की विचारधारा के अनुकूल रही है और उनकी विचारधारा की सार्थकता बताती रही हैं। जैसे अनेकांत की सार्थकता बताने लिये राजगृह में चार पंडितों की कथा।

इसप्रकार अधिकांश (८० फीसदी से भी अधिक) जीवन सामग्री जैन शास्त्रों से मिली है, कुछ खाली जगह मैंने भरी है। हां ! सब सामग्री का सुसंस्कार करके उसे सत्य और विश्वसनीय रूप मैंने दिया है, इससे महावीर जीवन की उपयोगिता काफी बढ़ी है

३– महावीर जीवन और जैनधर्म—

कोई भी संस्था, खासकर धर्म संस्था, किसी महान व्यक्ति के जीवन की फली हुई छाया है। इसलिये जैनधर्म

महावीर जीवन के ही आचार विचार का व्यवस्थित किया हुआ रूप है। जैनधर्म की कुछ बातें काफी पुरानी हैं, कुछ म. पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय की हैं। परन्तु म. महावीर तीर्थंकर थे इसलिये न तो वे किसी पुराने तीर्थंकर के अनुयायी थे न अपने अनुभव और विचार के सिवाय वे किसी अन्य शास्त्र को प्रमाण मानते थे। उनके विचार किसी शास्त्र से मिल जायं तो भी ठीक, नहीं तो इसकी उन्हें पर्वाह नहीं थी।

यों तीर्थंकर भी पुराने लोगों से कुछ न कुछ सीखते तो हैं ही, मानव समाज की प्रगति पुराने लोगों की ज्ञान सामग्री का सहारा लेकर आगे बढ़ने से हुई है। तीर्थंकर के कार्य और विचार भी इसके अपवाद नहीं हैं। पर तीर्थंकर की विशेषता यह है कि परीक्षक के तौर पर वह सारी सामग्री की जांच करता है अपने अनुभवों से मिलाता है, जो ठीक मालूम होती है लेता है जो युगबाह्य या समयबाह्य मालूम होती है उसे छोड़ता है, और देश काल के अनुकूल नया सर्जन करता है। म. महावीर के घर में चाहे म. पार्श्वनाथ का धर्म चलता रहा हो चाहे श्रमण परम्परा का कोई और अविकासित रूप, म. महावीर उसे प्रमाण मानकर नहीं चले। उस सामग्री से उनने अपनी बुद्धि का संस्कार जरूर किया और उसका उपयोग नवनिर्माण के लिये जगत रूपी खुले हुए महान ग्रंथ को पढ़ने में भी हुआ, पर उसे पढ़कर उनने देश काल के अनुकूल आचार विचार का नया ही तीर्थ बनाया। वही जैनधर्म, जैनतीर्थ, या जैनसम्प्रदाय कहलाया। इसलिये जैन धर्म का जो रूप ढाई हजार वर्ष पहिले था वह उन्हीं के विचारों का परिणाम था। आज जैनधर्म में कुछ विकृति भी आगई है पर उसका मूल आचार विचार म. महावीर की ही देन है।

जो लोग यह समझते हैं कि अनादि से अनन्त काल के लिये जैन धर्म का एक रिकार्ड बना हुआ है जिसे हरएक तीर्थ-

कर ज्यों का त्यों बजा जाता है वे न तीर्थंकर के महान पुरुषार्थ को समझते हैं न उसके आने की उपयोगिता, न धर्मसंस्था का रूप। पुराना रिकार्ड तो साम्प्रदायिक आचार्य बजाते ही रहते हैं, म. पार्श्वनाथ का रिकार्ड आचार्य केशी बजा ही रहे थे, इसके लिये तीर्थंकर की जरूरत नहीं होती. उसकी जरूरत होती है युग के अनुसार एक नया धर्म, एक नई धर्म संस्था, एक नया धर्मतीर्थ बनाने के लिये।

अहिंसा सत्य आदि धर्म के मौलिक तत्व भले ही अनादि अनन्त हों, पर वे किसी एक धर्म की या धर्मसंस्था की बपौती नहीं होते। वे सभी के हैं। फिर भी दुनिया में जो जुदे-जुदे धर्म हैं उनके भेद का कारण उन मौलिक तत्वों को जनके और समाज के जीवन में उतारने की भिन्न-भिन्न प्रणाली है।

देशकाल और पात्र के भेद से यह प्रणालीभेद पैदा होता है। जैनधर्म भी आज से ढाई हजार वर्ष पहिले मगध की परिस्थिति और म. महावीर की दृष्टि के अनुसार बनी हुई एक प्रणाली है।

इसका निर्माण एक दिन में नहीं हुआ, अन्तर्मुहूर्त के शुक्लध्यान से केवलज्ञान पैदा होते ही सब का सब एक साथ नहीं झलक गया। उसके लिये म. महावीर को गार्हस्थ्य जीवन के साढ़े-उन्तीस वर्ष के अनुभवों के सिवाय साढ़े बारह वर्ष के तपस्याकाल के अनुभवों से तथा दिनरात के मनन चिन्तन से काम लेना पड़ा। इसके बाद भी तीस वर्ष की कैवल्य अवस्था के अनुभवों और विचारों ने भी उसका संस्कार किया। तब जैन-धर्म का निर्माण हुआ। आचार के नियम, साधुसंस्था का ढांचा, विश्वरचना सम्बन्धी दर्शन, प्राणिविज्ञान, आदि सभी बातों पर महावीर जीवन की पूरी छाप है। ये सब उनके जीवन की घट-नाओं से उनके मनन चिन्तन और अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं।

जैनधर्म सम्बन्धी आचार के नियमों का, तथा दार्शनिक मान्यताओं का मर्म तब तक समझ में नहीं आसकता जब तक यह न मालूम हो कि महावीर के जीवन में वे कौनसी घटनाएँ थीं जिनसे प्रेरित होकर उन्हें ये नियम बनाना पड़े। सौभाग्य से जैन साहित्य महावीर जीवनसम्बन्धी ऐसी अनेक घटनाएँ मिलजाती हैं। बहुतसी नहीं मिलती। जो मिलती है उन्हें मैंने इस अन्तस्तल में स्पष्ट किया है। और उनका कार्य कारणभाव बताया है। जो नहीं मिलती उनमें से कुछ को सम्भावना और मनोविज्ञान के आधार पर चित्रित किया है। इससे यह बात साफ होजाती है कि जैनधर्म म. महावीर के जीवन की फैली हुई छाया है और महावीर जीवन जैनधर्म का मूर्तिमन्तरूप है। अन्य किसी भी जैन शास्त्र को पढ़ने की अपेक्षा इस अन्तस्तल को पढ़ने से पाठकों को इस सम्बन्ध का अधिक ज्ञान होगा। जैन मान्यताओं की उपपत्ति यहां काफी स्पष्टता से बताई गई है।

४- अन्तस्तल —

इस पुस्तक में संशोधित किया हुआ पूरा महावीर जीवन और जैनधर्म के खासखास आचार-विचारों का अच्छा परिचय देदिया गया है। परन्तु यही इस पुस्तक की विशेषता नहीं है। विशेषता यह भी है कि सब बातें म. महावीर के शब्दों में उनके अन्तस्तल के चित्रों में बताई गई हैं। यह काम जितना कठिन है उतना ही दिलचस्प भी है।

महामानव की भावनाओं को समझना कठिन है। फिर ढाई हजार वर्ष पुराने महामानव को समझने में तो और भी कठिनाई होना चाहिये। पर सौभाग्य इतना है कि म. महावीर के जीवन की घटनाएँ तथा उनके सिद्धांत विचार चर्या बोल-चालका ढंग आदि जानने की सामग्री इतनी भरी पड़ी है कि

उसके आधार पर महावीर जीवन के भीतर बाहर का चित्र संयोगपूर्ण तैयार किया जासकता है। कार्य कठिन अवश्य है और काफी कठिन है पर असम्भव नहीं है।

उन अन्धश्रद्धालुओं को इससे सन्तोष न होगा जिनका विश्वास है कि महावीर स्वामी तो कुछ सोचते विचारते ही न थे, उनके मन में बड़ी-बड़ी दुर्घटना के सामने कोई चिन्ता के भाव आते ही न थे। उनने म. महावीर को ऐसा फोनोग्राफ बना दिया है जो अनादि काल से रक्खे हुए रिकार्ड के नचे बजाया करता है, पर दुनिया की घटनाओं से जिसका कोई ताल्लुक नहीं है। अन्धश्रद्धालु लोग इसमें म. महावीर की महत्ता देखते हैं पर इससे म. महावीर का व्यक्तित्व बिलकुल नष्ट होजाता है और इससे उनकी वास्तविक महत्ता नष्ट होती है। जिसके हृदय में दुनिया को दुःखी देखकर करुणा के भाव न आते हों, संसार के दुःख दूर करने की चिन्ता न पैदा होती हो, दम्भियों ढोंगियों और ठगों के कुकार्यों का किसी न किसी रूप में विरोध करने का प्रयत्न न होता हो, अपने शिष्यों और अनुयायिओं के जीवन को देखकर उन्हें सुधारने की जो कोशिश न करता हो ऐसे आदमी को महामानव जगदुद्धारक आदि कैसे कह सकते हैं। पर अन्धश्रद्धालुओं को यह असंगति नहीं दिखती।

फिर अन्धश्रद्धालुओं की मान्यता बिलकुल अवैज्ञानिक और अविश्वसनीय है। वे अपने भोलेपन के कारण म. महावीर के व्यक्तित्व को कितना भी नष्ट करें पर उनका जीवन-चरित्र इतना अधिक उपलब्ध है, उनके कार्यों का ब्यौरा भी इतना अधिक है कि अन्धश्रद्धालुओं की बातें हंसकर उड़ा देने लायक ही रहजाती हैं। समझदार लोग महामानव महावीर का जीवन, उनके हृदय की विशालता, और समयसमय पर उसमें आये हुए तूफानों को देख सकते हैं।

मैंने भी उपलब्ध सामग्री के सहारे पूरी मनोवैज्ञानिकता और तन्मयता के साथ महावीर हृदय को पढ़ने की कोशिश की है। इस विषय में मैंने इन दोनों किनारों को सम्हालने की कोशिश की है कि म. महावीर की महामानवता को धक्का न लगे और अुनकी मानवता नष्ट न होजाय। साथ ही इस बात का भी पूरा ध्यान रक्खा है कि उनके भावचित्र उनके स्वभाव से तथा कार्यों से मेल खाते हों। अन्तस्तल के इन चित्रों से घटनाओं का, सिद्धान्तों का, जैनधर्म के आचार-विचारों का मर्म समझने में काफी सहूलियत होती है।

५- तुलना—

महावीर जीवन और जैनधर्म का जो रूप शास्त्रों में उपलब्ध है उसी के आधार से यह अन्तस्तल लिखा गया है फिर भी इसमें कुछ परिवर्तन हुआ है, सुधार हुआ है। जो लोग जैनधर्म के अच्छे विद्वान जानकर हैं वे तो इस अन्तर को जल्दी समझलेंगे पर अन्य पाठकों को इसमें कठिनाई होगी इसलिये यहां वह सब अन्तर या विशेषता संक्षेप में बतादी जाती है और विशेषता क्यों लाई गई इसका कारण भी साफ कर दिया जाता है।

१— अशांति-यह प्रकरण २२ वें पृष्ठ तक है। यद्यपि कल्पित है परन्तु महावीर जीवन के अनुरूप है और आवश्यक है। इससे मालूम होता है कि उस युग की जिन सामाजिक बीमारियों की चिकित्सा महावीर स्वामी ने की, जिनकेलिये गृह त्याग किया उनका दर्शन गृहस्थावस्था में अवश्य हुआ होगा।

२— यशोदादेवी-जगत्सेवा के लिये महावीर के मन में जब से गृहत्याग के विचार आये तभी से उनकी पत्नी यशोदा देवी चिन्तित हुईं। अपने दाम्पत्य के गौरव की रक्षा करते हुए

भी उनने महावीर को गृहत्याग से विरत करने के लिये जो कौशलपूर्ण यत्न किये वे उनके पूर्ण प्रतिप्रेम के परिचायक तो हैं ही, साथ ही एक सम्भ्रांत कुल की वधू के योग्य भी हैं। यद्यपि नारी के साथ एक प्रकार की दुश्मनीसी रखनेवाले जैन शास्त्रकारों ने यशोदादेवी को बिलकुल भुला दिया है पर इतने लम्बे युग में यशोदादेवी ने अपने पति से कुछ भी न कहा हो यह असम्भव है। जो कुछ सम्भव था उसका वर्णन मैंने काफी विस्तार से किया है। दूसरे प्रकरण (पृष्ठ २३) से १६ वें प्रकरण (पृष्ठ ६४) तक यह अन्तस्तल महावीर के अन्तस्तल के साथ यशोदा का अन्तस्तल बनगया है। यशोदादेवी के निमित्त से महावीर जीवन की कई बातें स्पष्ट हुई हैं। इनमें मुख्य है लौकान्तिक देवों की घटना।

जैन शास्त्रों में महावीर जीवन के साथ जिसप्रकार देवताओं को मिला दिया गया है वह तो अविश्वसनीय और मिथ्या है ही, पर लौकान्तिक देवों का आगमन तो बिलकुल व्यर्थ भी मालूम होता है। पर इसका चित्रण जिसप्रकार यशोदादेवी की अनुमति के प्रकरण (१६ वें) में किया गया है उससे लौकान्तिक देवों वाली घटना एक आवश्यक, महत्वपूर्ण और सम्भव घटना बनगई है। और उसकी झूठी दिव्यता भी दूर होगई है।

ग्वाल के आक्रमण पर इन्द्रागमन की बात भी १९ वें प्रकरण में काफी साफ रूप में आई है। और इसमें यशोदादेवी की योजना के मिलने से यह सम्भव रूप तो पा ही गई है साथ ही यशोदादेवी का प्रतिप्रेम चरमसीमा पर पहुँचगया है और सारा चित्र करुण रस से भर गया है।

जैन शास्त्रों में यशोदादेवी का वर्णन सिर्फ दो पंक्तियों में है कि "यशोदा नाम की राजकुमारी से वर्धमान कुमार का

विवाह हुआ और उससे प्रियदर्शना नाम की पुत्री पैदा हुई, पर इस अन्तस्तल में यशोदा के लिये ७० पृष्ठ रुके हैं। इससे अन्तस्तल रसीला ही नहीं होगया है किन्तु महावीर जीवन की अनेक घटनाओं को सम्भव तथा महत्वपूर्ण और आवश्यक बनागया है। पाठक पढ़कर ही इसकी विशेषता और महत्ता समझ सकेंगे।

३— बीसवें प्रकरण में रसत्समभाव की घटना जैन शास्त्रों की है मानसिक चित्रण मेरा है जो जैन शास्त्रों के अनुकूल है।

४— २१ वें प्रकरण में युवतियों का प्रलोभन जैन शास्त्र वर्णित है। उपयुक्त समय समझकर केश लौंच का विधान बना दिया गया है जो जैन साधुता के लिये आज भी अनिवार्य बना हुआ है।

५— २२ वें प्रकरण में अदर्शन परिषद् की उपयोगिता बताई गई है जो स्वाभाविक है।

६— २३ वें प्रकरण में तापसाश्रम की घटना जैन शास्त्रों की है यहां तक कि संवाद के खास शब्द भी वहीं के हैं। बहुत से जैनों को इसमें महावीर की लघुता होगी पर वह बिलकुल स्वाभाविक है और इससे महामानव की महत्ता को धक्का नहीं लगता।

७— २४ वें प्रकरण में शूलपाणि यक्ष की घटना शास्त्रोक्त है पर उसकी कल्पित दिव्यता दूर कर उसे वैज्ञानिक बनादिया गया है।

८— २५ वें प्रकरण की घटना भी शास्त्रोक्त है पर उसमें अवधिज्ञान और इन्द्र को लाने की बात बेकार है। म. महावीर की मनोवैज्ञानिकता और सूक्ष्म निरीक्षकता से वह

घटना ठीक बतगई है। कुछ लोग समझते हैं कि महावीर सरीखे गम्भीर प्रकृति के महामानव के मन में ऐसे क्षुद्र आदमी से संघर्ष करने की बात ठीक नहीं मालूम होती। ठीक हो या न हो पर नाना कल्पनाओं से भी महावीर की प्रशंसा करनेवाले जैन शास्त्र यदि ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं तो इससे वे महावीर जीवन के किसी तथ्य को प्रगट करने में ही विवश होजाते हैं। ऐसी घटनाएँ झूठी नहीं कहा जासकतीं।

म. महावीर क्रांतिकारी थे, दम्भ और अन्धविश्वास के विरोधी थे ऐसी हालत में यह स्वाभाविक है कि वे ऐसे कांडों के भण्डाफोड़ के लिये तत्पर होजायँ। महामानव तुच्छ आदमियों से बात नहीं करते या उनसे आवश्यक संघर्ष नहीं करते ऐसी बात नहीं है। खास कर साधक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी घटनाएँ स्वाभाविक हैं और अमुक अंश में आवश्यक भी।

९— वस्त्रछूटने की बात जैन शास्त्रोक्त है।

१०- २७ वें प्रकरण में चण्डकौशिक सर्प की घटनाओं को अलौकिक चमत्कार तथा पूर्व जन्म की कथा ने जोड़ दिया गया है। मैंने घटना तो ज्यों की त्यों रक्खी है। पर चमत्कारों को हटाकर मनोवैज्ञानिक आधार पर घटना को सुसंगत कर दिया है।

११- २८ वें प्रकरण में शुद्धाहार की घटना शास्त्रोक्त है। मांसविरोध की उक्तियाँ, तदनुसार चित्रण और वार्तालाप मेरा है।

१२- २९ वें प्रकरण की घटना भी शास्त्रोक्त है पर उसका कारण बताने में महावीर की प्रकृति के अनुकूल विचार मेरे हैं। इससे म. महावीर की निस्पृहता में चार चांद लगे हैं।

१३-३० वें प्रकरण की साधारण घटना को फजूल ही शास्त्रकारों ने देवों का संघर्ष बना दिया है। मैंने उस संघर्ष के रूप को जन मन का चित्र बना कर उसकी अविश्वसनीय चमत्कारिकता हटादी है। इससे म. महावीर की महत्ता अधिक ही प्रगट हुई है।

१४-३१, ३२, ३३, वें प्रकरण में गोशाल सम्बन्धी घटनाएँ शास्त्रोक्त हैं। पर उसमें आई हुई अलौकिकता हटाकर उसका स्थान मनोवैज्ञानिकता को दिया है। और घटनाओं के अनुकूल विचार प्रगट किये हैं।

१५-३१ से ३७ तक के प्रकरण भी शास्त्रोक्त हैं। परन्तु दिव्यज्ञान को मनोविज्ञान और सूक्ष्म निरीक्षण बताया है। जैनशास्त्रों में चक्रवर्ती की आवश्यकता क्यों मानी गई इसका काफी अच्छा कारण पेश किया गया है (प्रकरण ३४) विवेचन का तरीका तथा युक्तियाँ मेरी हैं।

१६-म. महावीर सरीखे शान्त वीतराग व्यक्ति को जितने कष्ट सहना पड़े वे बहुत आश्चर्यजनक हैं। शास्त्रकार तो कहते हैं कि पूर्व जन्म के पाप के उदय से ऐसा हुआ। परन्तु म. महावीर के किसी भी शिष्य को केवलज्ञान पैदा होने के पहिले इतने कष्ट नहीं अुठाने पड़े जितने कि म. महावीर को केवलज्ञान के पहिले और पीछे भी उठाना पड़े। इसलिये पूर्व जन्मका सब से अधिक पाप म. महावीर के पास इकट्ठा था यह अुत्तर न तो म. महावीर की महत्ता के अनुरूप है न सन्तोषजनक। इस पुस्तक में इस प्रश्न का अच्छा उत्तर है कि श्रमण ब्राह्मण संस्कृति के विरोध स्वरूप श्रमण तीर्थंकर महावीर को ये सब कष्ट उठाने पड़े। क्रांति के प्रवर्तक का जीवन ऐसा संकटापन्न, अपमानों से भरा हुआ होता ही है। ३८ वें प्रकरण में यह बात स्पष्ट हुई है। ४० वें प्रकरण में

भी यही बात है।

हां ! लुहार के आक्रमण सम्बन्धी घटना में देखोगे देवेन्द्र को शास्त्रकारों ने व्यर्थ कष्ट दिया, विना इन्द्र के भी ऐसी घटनाएँ मजेसे होसकती हैं। अन्तस्तल में इन्द्र को निमन्त्रण नहीं दिया गया।

३९ वें प्रकरण में तापसी के जरिये जो अज्ञानकारी ने म. महावीर को कष्ट पहुँचा उसे किसी यक्षिणी का द्वेष नहीं बताया गया, वह उस युग के लिये स्वाभाविक घटना थी।

इससे इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि जैन धर्म में यद्यपि अनेक कष्ट सहनों का विधान है फिर भी व्यर्थ के दुःखों को हेय ही माना गया है।

१७- ४१ वें प्रकरण से जहां इस बात का पता लगता है कि धीरे धीरे श्रमण-विरोध शांत होने लगा था तथा ब्राह्मण भी ब्राह्मण संस्कृति से ऊब रहे थे वहां इस बात का भी खुलासा होगया है कि जैन शास्त्रों में अशोक वृक्ष को इतनी महत्ता क्यों मिली होगी।

१८- जैन शास्त्रों में जीवसमास, परिग्रह, पांच व्रत आदि के विधान हैं। वे कैसे बने, किस प्रकार बने इसका घटनापूर्ण इतिहास सम्भव कल्पनाओं से दिया गया है। इससे उनके इतिहास पर ही प्रकाश नहीं पड़ता किन्तु उनकी वास्तविक अुपयोगिता पर भी प्रकाश पड़ता है। पर्याप्त अपर्याप्त के भेद की व्यावहारिकता तो खास तौरपर ध्यान खींचती है।

१९- मल्लिदेवी को तीर्थंकर क्यों माना गया इसका विवेचन ४४ वें प्रकरण में है। मूल वर्णन शास्त्रोक्त है।

२०- वैज्ञानिक दृष्टि से मन्त्रतन्त्र का कोई महत्व नहीं है। पर उस युग में मनुष्य का मानसिक विकास इतना नहीं

हुआ था कि साधारण मनुष्य इनसे पिंड छुड़ा पाता। विज्ञान की इतनी प्रगति होजाने पर भी आज भी करोड़ों आदमी इसके शिकार हैं और विद्वान कहलानेवाले भी शिकार हैं। इसलिये उस युग में भी ये रहे। इस पर कुछ प्रकाश ४८ वें मन्त्रतन्त्र प्रकरण में डाला गया है।

२१- महावीर युग में मगध में गणतन्त्र था, फिर भी म. महावीर की सहानुभूति साम्राज्यों की तरफ है गणतन्त्रों की तरफ नहीं। जैन शास्त्रों में साम्राज्यों की या चक्रवर्तियों की काफी प्रशंसा है, यह सब क्यों है इसका विवेचन गणतन्त्र राजतन्त्र शीर्षक ४९ वें प्रकरण से लगता है।

२२- ५०, ५१ वें प्रकरण शास्त्रोक्त हैं। उनका चित्रण इस तरह किया गया है कि जैन साधुओं के एक आचार पर प्रकाश पड़ता है, और सत्य के आगे व्यक्तित्व को कैसे झुकना पड़ता है इसपर भी प्रकाश पड़ता है।

२३- सर्वज्ञता त्रिभंगी सप्तभंगी का विवेचन ५२-५३-५४ वें प्रकरण में इस तरह किया गया है कि वह वैज्ञानिक और पूर्ण सार्थक बनगया है। जैन शास्त्रों का विवेचन इस विषय में कितना भूलभरा है इसकी दार्शनिक मीमांसा बड़े सरल तरीके से होजाती है।

२४- ५५ वें प्रकरण में नीरस आहार की घटना शास्त्रोक्त है। उसमें दासता का विरोध भी है। पर उसमें इतना रंग और भी दिया गया है कि म. महावीर दासता के विरोध के लिये कितने प्रयत्नशील थे।

२५- जैनशास्त्रों में संगम देव के द्वारा किये गये उपसर्गों का वर्णन बड़ा भयंकर है। स्वर्ग लोक में महावीर चर्चा, संगम देव का क्षुब्ध होना, और फिर ऐसे उपसर्ग करना जो

असम्भव है, यह सारा वर्णन अत्यन्त अविश्वसनीय है। फिर भी इस वर्णन का कुछ आधार तो होना चाहिये इसलिये ५६ वें प्रकरण में स्वप्न जगत के रूप में इस घटना को आधार दिया है। इस परिवर्तन से जैन शास्त्रों का वर्णन बिलकुल ठीक होगया है। साथ ही इस प्रकरण में मनःपर्यय ज्ञान की वास्तविकता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस अवसर पर म. महावीर को मनःपर्यय ज्ञान हुआ था ऐसा वर्णन शास्त्रों में है। पर यह ज्ञान क्या है? वह संयमी को ही क्यों होता है? इसका खुलासा इस प्रकरण में होगया है।

२६- ५७ वें प्रकरण में डांकुओं द्वारा म. महावीर के सताये जाने की घटना शास्त्रोक्त है। यहां तक कि डांकुओं ने म. महावीर को मामा मामा कह कर भद्दा मजाक किया, कंधे पर चढ़ गये, यह भी शास्त्रोक्त है। इससे मालूम होता है कि जगत के महामानवों को कभी कभी कैसे कैसे क्षुद्र जीवों से किस बुरी तरह से अपमानित होना पड़ता है। बाहरी पूज्या पूज्यता से महामानवता का निर्णय करना व्यर्थ है।

२७- ५८ से ६० वें प्रकरण तक तत्वों का विवेचन है। विवेचन जैन शास्त्रों के अनुसार ही है फिर भी पुण्यपाप शुभ शुद्ध आदि का जो विवेचन हुआ है और जीर्ण श्रेष्ठी की शास्त्रोक्त कथा का जो स्पष्टीकरण किया गया है उससे कुछ नयासा प्रकाश डाला गया है। जैन मान्यता का कुछ छिपा हुआ सा मर्म प्रगट हुआ है।

२८- हिन्दू शास्त्रों में देवेन्द्र और असुरेन्द्र के युद्धों का वर्णन आता है। जैनधर्म के अनुसार देव गति का जैसा रूप है उसमें वैसा युद्ध सम्भव नहीं, फिर भी सुरासुर विरोध की बात इस देश में अतिप्राचीन काल से इतनी रूढ़ है कि इस विषय में जैनधर्म का मौन खटकनेवाला होता। जैनाचार्यों ने महावीर

महत्ता बढ़ाने के लिये बड़े विचित्र ढंग से इसका उल्लेख किया है। यह अविश्वसनीय तो है ही, पर इसका पक्षपाती रंग भी साफ नजर में आता है। अन्तस्तल में से इस घटना को हटाया जासकता था फिर भी हर एक बात को किसी न किसी रूप में रखने की मेरी नीति थी इसलिये यह बात ऐसे ढंग से रखदी है कि वह निराधार नहीं रही। और पीछे से अच्छा निष्कर्ष भी निकाल दिया है।

२९–जैन शास्त्रों में अभिग्रह के नाम से कुछ अटपटी प्रतिज्ञाओं का काफी उल्लेख है। कष्टसहन को निमंत्रण देने के सिवाय इनका और कोई उपयोग नहीं मालूम होता। पर यह कारण इतना तुच्छ है कि अभिग्रह खटकने वाली बात बन जाती है। म. महावीर ने भी बड़ा ही कठिन अभिग्रह किया था। जिसका कोई खुलासा जैन शास्त्रों में नहीं है। पर इस अन्तस्तल में उस अभिग्रह को दासता-विरोध के लिये इस प्रकार उपयोगी सिद्ध कर दिया है कि हास्यास्पद अभिग्रह म. महावीर की दीनबन्धुता में चार चांद लगा देता है। घटना शास्त्रोक्त है पर उसके चित्रण में सारा रंग ही बदल दिया है। बल्कि उसे बदलना न कहकर मौलिक रंग का प्रगटीकरण कहना ठीक होगा। ६३ वें प्रकरण में यह बात स्पष्ट है।

३०–६४ वें प्रकरण में जीवसिद्धि की है। जैन शास्त्रों में भी यह बात है फिर भी इस ग्रंथ में कुछ नये ढंग से युक्तियाँ दीगई हैं।

३१–६५ वां प्रकरण 'संघ की आवश्यकता' मानसिक विचार है जो महावीर जीवन के अनुकूल है, जो बारह वर्ष की तपस्याओं की उपयोगितापर हलकासा प्रकाश फेंकता है।

३२–६६ वें प्रकरण में गुणस्थानों का विवेचन है जो शास्त्रोक्त हैं। पर काफी सरलता से बातें समझाई गई हैं। जैन-

धर्म के अनुसार आध्यात्मिकता के विकास का यह श्रेणीबद्ध कार्यक्रम है।

३३- ६७ वें प्रकरण में केवलज्ञान का विवेचन नये ढंग से है। विश्वसनीय और वैज्ञानिक होने के साथ रहस्योद्घाटक भी है।

३४- ६८ वें प्रकरण में लोकसंग्रह के बारे में म. महावीर के विचार आगे के कार्यक्रम के अनुरूप हैं।

३५- ६९ वें प्रकरण में ग्यारह गणधर शिष्यों का विवेचन शास्त्रोक्त हैं। गणधरों के प्रश्न भी शास्त्रोक्त हैं। परन्तु दो बातों में कुछ नवीनता आगई है। प्रश्नों को ऐसे ढंग से पेश किया गया है कि सारे प्रश्न एक कड़ी में जुड़गये हैं। साथ ही उनके उत्तर अधिक जोरदार बनगये हैं जैनशास्त्रों में कुछ प्रश्नों के उत्तर बहुत ही बालोचित या हास्यास्पद तरीके से दिये गये हैं, जब कि अन्तस्तल में काफी तर्कपूर्ण बनगये हैं।

३६- ७०, ७१ वें प्रकरण शास्त्राधार से हैं।

३७—मेघकुमार (७२ वां प्रकरण) की घटना शास्त्राधार से है। पर जैनशास्त्रों में इसका विवेचन अविश्वसनीय सर्वज्ञता के आधार पर है जब कि अन्तस्तल का विवेचन मनोविज्ञान और चतुरता के आधार पर है। कुछ भोले जैनभाई इस प्रकरण का मर्म न समझ सकेंगे। वे सत्य तथ्य का अन्तर ध्यान में लेंगे तो इस घटना का मर्म उनके ध्यान में आजायगा।

३८—७३ वें प्रकरण में नन्दीषेण की घटना शास्त्रोक्त है। पर काम विज्ञान की शुद्ध चर्चा से उसमें वर्णन की नवीनता आगई है।

३९—७४ वें प्रकरण में म. महावीर के अपनी जन्मभूमि पधारने का वर्णन है। घटना शास्त्रोक्त है। पर वहां जैन शास्त्र

यह तो बताते हैं कि उनकी पुत्री और जमाई ने दीक्षा ली पर यह नहीं बताते कि पत्नी का क्या हुआ। म. बुद्ध बुद्धत्व प्राप्ति के बाद जब जन्मभूमि पधारे तब पत्नी से मिलने का दृश्य अत्यन्त करुण है। म. महावीर के जीवन में वैसा दृश्य न फबता. और सम्भव यही है कि तब तक उनकी पत्नी का देहांत होगया हो. इसलिये उनकी पुत्री के मुँह से यशोदा देवी के देहान्त के समाचार कहलाये गये हैं इस घटना में करुण रस का खूब परिपाक हुआ है। बात बिलकुल स्वाभाविक, पूर्ण सम्भव और मर्मस्पर्शी बनगई है। ज्ञातिमोह के विषय में जो विचार प्रगट किये वे भी मौलिक हैं और म. महावीर की महत्ता बतलाते हैं।

इसी प्रकरण में गर्भापहरणवाली घटना का सम्भव और स्वाभाविक रूप में उल्लेख कर दिया गया है। जैनशास्त्रों में जिसप्रकार इस घटना का उल्लेख है वह बिलकुल अविश्वसनीय और कुछ निंद्य भी हैं। अन्तस्तल में वह बिलकुल स्वाभाविक सम्भव बनगई है और निंद्यता दूर होगई है।

४०—७१ वें प्रकरण से लेकर ७९ वें प्रकरण तक का वर्णन शास्त्रोक्त है। लेखन में ही कुछ विशेषता आई है।

४१- ८० वें प्रकरण की घटना शास्त्रोक्त है। इसमें म. महावीर ने ५ वें स्वर्ग, ब्रह्मलोक के आगे भी स्वर्ग होने की बात कही है और इससे लोकविख्यात पाग्गल परिव्राजक ने शिष्यता स्वीकार करली है। मूलग्रन्थों में ऐसी कोई युक्ति नहीं दी गई है जिससे आगे के स्वर्ग सिद्ध होसकें और उससे प्रभावित होकर एक विख्यात धर्मगुरु शिष्य बनजाये। परन्तु अन्तस्तल में यह विवेचन मौलिक है। समता और सुख का सम्बन्ध बताकर यह विवेचन काफी तर्कपूर्ण मौलिक और असाधारण बनगया है।

४२- ८१ वें प्रकरण की घटना भी शास्त्रोक्त है। और इससे इस बात पर पूरा प्रकाश पड़ता है कि अलौकिक ज्ञानों

की वास्तविकता क्या है ? अलौकिक ज्ञान कहलाने वाली निरीक्षण शक्ति कभी कभी कैसे चूक जाती है और फिर किसप्रकार चतुराई से काम लेना पड़ता है। शास्त्रों में भी यह घटना इतनी साफ है कि इसके ऊपर कोई लीपापोती भी इसे ढक नहीं पारही है। साम्प्रदायिक लोग इससे महावीर स्वामी की महत्ता की क्षति समझेंगे पर मैं ऐसा नहीं समझता। अलौकिक ज्ञानों की जब कोई सत्ता नहीं है तब लोकहित की दृष्टि से म. महावीर स्वामी को इसप्रकार अतथ्य सत्य बोलना पड़े इससे उनकी महामानवता क्षीण नहीं होती। आज के वैज्ञानिक युग में तो ऐसी घटनाओं का मर्म स्वीकार करने में ही कल्याण है।

४३-८२ वां प्रकरण कल्पित है। इसमें एक कहानी द्वारा अनेकान्त का व्यावहारिक रूप बताया गया है। कहानी भले ही कल्पित हो परन्तु उससे अनेकान्त सिद्धान्त जो समझ में आता है वह वास्तविक है। और इससे म. महावीर द्वारा की गई दार्शनिक क्रान्ति की उपयोगिता और महत्ता समझ में आती है।

४४- ८३ वें प्रकरण से ८७ वें प्रकरण तक का विषय शास्त्राधार से है। ८८ वें प्रकरण में जमालि की जुदाई की बात भी शास्त्राधार से है परन्तु विविध संवादों से उसे काफी विस्तृत और महत्वपूर्ण बनादिया गया है। संवाद का आधार शास्त्रोक्त होनेपर भी उसका विस्तार मौलिक बनगया है।

४५- ८९ वें प्रकरण में गोशाल के आक्रमण की घटना शास्त्राधार से है। यहां तक कि बहुत कटु शब्दों का प्रयोग भी शास्त्रोक्त है। सिर्फ तेजोलेश्या को अलौकिक चमत्कार न मानकर एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में चित्रित किया गया है।

४६- ९०-९१ वें प्रकरण भी शास्त्राधार से हैं पर प्रियदर्शना के मुँह से जो उद्गार निकलवाये गये हैं और इस विषय में

जो वार्तालाप हुआ है वह काफी मर्मस्पर्शी बना दिया गया है और इससे म. महावीर की महत्ता भी खूब चमकी है।

४७- ६२ वां प्रकरण भी शास्त्राधार से है। केशी गौतम संवाद के प्रश्न भी वे ही हैं जो शास्त्रों में उल्लिखित हैं। फिर भी उनकी रचना ऐसी कर दी गई है कि साधारण से दिखाई देनेवाले प्रश्न महत्वपूर्ण बनगये हैं और उनका ऐसा सिल-सिला बंधगया है कि वे एक ही सांकल की कड़ियां से मालूम होने लगे हैं।

४८- ६३ वें प्रकरण से अन्त तक के प्रकरण शास्त्राधार से हैं। भाषा आदि में जो विशेषता है वही है।

५- दैनन्दिनी की तिथियाँ—

यह अन्तस्तल महावीर की दैनन्दिनी (डायरी) के रूप में लिखा गया है। और उसमें तिथि या तारीख दीगई है।

आजकल संसार में सब से ज्यादा प्रचलित ईस्वी सन् है परन्तु वह दो हजार से भी कम है इसलिये बहुत पुरानी घटनाओं के उल्लेख में उससे काम नहीं चल सकता। ऐतिहासिक लोग पुरानी घटनाओं को बी. सी. (ईस्वी सन् पूर्व) के रूप में उल्लिखित करते हैं। पांच सौ बी. सी. (ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व) आदि। पर इसप्रकार का उल्लेख डायरी के लिये बिलकुल बेकार है, असंगत है। इसके लिये तो इतिहास संवत् ही सब से अधिक अनुकूल है। इतिहास संवत् ईस्वीसन् से दस हजार वर्ष अधिक है। इसलिये आज १९५३ वर्ष तक की पुरानी घट-नाओं का उल्लेख उसके द्वारा सरलता से किया जासकता है। अभी सन् १९५३ है इसका अर्थ यह हुआ कि इतिहास संवत् ११९५३ है। इसप्रकार दस हजार अधिक है। इतिहास संवत् का पहिला एक का अंक दबाने से ईस्वी सन् निकल आता है।

इसलिये दोनों के समझने में दिक्कत नहीं है।

ईस्वी सन् से दसहजार अधिक होने का अर्थ यह कि बी. सी. सन् को दस हजार में से घटादेने से इतिहास संवत् निकल आता है या इतिहास संवत् को दस हजार में से घटाने से बी. सी. (ईसापूर्व) सन् निकल आता है। ५०० बी. सी. का अर्थ १००००-५००=९५५० इतिहास संवत हुआ। ९४७३ इतिहास संवत् का अर्थ ५२७ बी. सी. हुआ। म. महावीर का निर्वाण ५२७ बी. सी. में हुआ था अर्थात् इतिहास संवत ९४७३ में हुआ था। अन्तस्तल में जहां जो संवत् दिया हुआ है उसे दस हजार में से घटा देने से जो अंक निकले उसे उतने बी. सी. समझना चाहिये।

तिथियों के लिये नये संसार की तारीखों का तथा मानव भाषा के नये संसार के महीनों का उपयोग किया गया है। चूंकि इतिहास संवत् १ जनवरी से शुरू होता है इसलिये इसके साथ चैत्र वैशाख आदि भारतीय महीनों का उपयोग नहीं किया गया और न जनवरी आदि यूरोपीय महीनों का उपयोग करना ठीक मालूम हुआ। इतिहास संवत् के साथ इतिहास संवत् के महीनों का उपयोग ही ठीक समझा।

सत्याश्रम की तरफ से प्रतिवर्ष एक तिथिपत्र प्रकाशित होता है जिसमें इतिहास संवत् के महीनों और तिथियों के साथ यूरोपीय महीनों और तारीखों तथा भारतीय महीनों और तिथियों का मेल बताया जाता है। उससे जाना जासकता है कि इस वर्ष इतिहास संवत् के किस महीने की किस तारीख को, यूरोपीय किस महीने की कौनसी तारीख और भारतीय किस महीने के किस पक्ष की कौनसी तिथि आयगी। उस तिथि पत्र का उपयोग करने से अन्तस्तल में दी हुई तारीखों का ठीक परिचय मिल सकता है।

इतिहास संवत् के महीने सब बराबर होते हैं।

प्रत्येक मास २८ दिन का होता है और वर्ष में १३ माह होते हैं। साल के अन्त में तारीख और वार से शून्य विश्राम वार होता है। इसप्रकार २८×१३=३६४+१=३६५ दिनों का वर्ष होता है। चौथे वर्ष जब कि वर्ष में ३६६ दिन माने जाते हैं तब एक विशेष विश्राम वार और मान लिया जाता है। इसप्रकार इतिहास संवत् में बराबर दिनों के सब महीनों की व्यवस्था है। कोई २८ कोई २९ कोई ३० और कोई ३१ दिनों का महीना नहीं मानना पड़ता।

नये संसार के तिथि पत्र से इस अन्तस्तल में दी हुई तारीख का मतलब समझ में आसकता है और उसके भारतीय महीने का भी अन्दाज बैठ सकता है। परन्तु तिथिपत्र जिन के सामने नहीं है उन्हें इस पुस्तक में दी गई तारीख समझने के लिये यूरोपीय तारीखों से उनका मेल बतादिया जाता है।

इतिहास संवत्	ईस्वीसन्	ई. सन् का चौथा वर्ष
१ सत्येशा	१ जनवरी से २८ ज.	१ जनवरी से २८ ज.
२ मम्मेशी	२९ जनवरी से २५ फ.	२९ जनवरी से २५ फ.
३ जिन्नी	२६ फरवरी से २५ मार्च	२६ फरवरी से २४ मा.
४ अंका	२६ मार्च से २२ अप्रेल,	२५ मार्च से २१ अ.
५ बुधी	२३ अप्रेल से २० मई,	२२ अप्रेल से १९ मई
६ धामा	२१ मई से १७ जून,	२० मई से १६ जून
७ तुपी	१८ जून से १५ जुलाई,	१७ जून से १४ जुलाई
८ इंगा	१६ जुलाई से १२ अगस्त,	१५ जुलाई ११ अगस्त
९ टुंगी	१३ अगस्त से ९ सितंबर,	१२ अगस्त से ८ सि.
१० मुंका	१० सितम्बर से ७ अक्.	९ सितम्बर से ६ अ.
११ घनी	८ अक्टूबर से ४ नवंबर	७ अक्टूबर से ३ न.
१२ चिंगा	५ नवंबर से २ दिसंबर	४ नवंबर से १ दि.
१३ चन्नी	३ दिसंबर से ३० दिस.	२ दिसंबर से २९ दि.

३१ दिसम्बर शुंदो 　　 ३० दिसम्बर शुंदो
३१ दिसम्बर शेशुंदो

६-उपसंहार—

जैन धर्म का मुख्य आधार महात्मा महावीर का जीवन, व्यक्तित्व और विचार हैं। जैनधर्म की सच्चाई सुरक्षित रखने के लिये उसमें पूर्ण वैज्ञानिकता और विश्वसनीयता लाने की सख्त जरूरत है। और उसके लिये ये ही बातें महावीर जीवन में भी लाने की जरूरत हैं। जो वैज्ञानिकता विविध रूपमें हमारे हृदयों में चारों तरफ से प्रवेश कर रही है और कर चुकी है, यदि जैन धर्म उसकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरता तो जैन धर्म जीवन का अंग नहीं बन सकता, और जो जीवन का अंग नहीं बन सकता उसकी श्रद्धा जीवन पर बोझ ही होगी, वह पचकर काम न आयगी।

यदि धर्म के लिये हमें वैज्ञानिकता विचारकता आदि का बलिदान करना पड़े तो हम हैवान होजायँगे, और वैज्ञानिकता के लिये यदि धर्म का बलिदान करना पड़े तो शैतान होजायँगे, मानवता की रक्षा के लिये दोनों का समन्वय जरूरी है। इस अन्तस्तल में महावीर जीवन और जैनधर्म इस रूपमें उपस्थित किया गया है कि वैज्ञानिक जैनधर्म वास्तविक जैनधर्म और वास्तविक महावीर-जीवन मूर्तिमन्त होजाता है।

जैनधर्म में अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं जिनके मत-भेद निःसार हैं। इस अन्तस्तल के पढ़ने से इन छोटे छोटे सम्प्रदायों से ऊपर वास्तविक जैन धर्म के दर्शन होते हैं।

जो लोग सुधारक हैं और साम्प्रदायिकता को ठीक नहीं समझते, वे साम्प्रदायिकता को गाली देते रहें इससे कुछ न होगा। उन्हें असाम्प्रदायिक उदार वैज्ञानिक जैनधर्म बताना होगा।

उनकी इस मांग को यह अन्तस्तल काफी अंशों में पूर्ण कर सकता है।

पर्युषण में जो अन्धश्रद्धा-पूर्ण महावीर-जीवन पढ़ा जाता है उनकी अपेक्षा यदि यह अन्तस्तल पढ़ा जाय तो जैनधर्म समझने का, कथा साहित्य पढ़ने का, तथा काव्यरस का काफी आनन्द मिलेगा।

जो लोग जैनधर्म का परिचय जैनेतर जगत में तथा विदेशोंमें देना चाहते हैं वे यदि इस अन्तस्तल को भिन्न भिन्न भाषाओंमें ले जाकर फैलायें तो उनकी भी इच्छा पूरी होगी और दूसरों को भी काफी लाभ होगा।

मैं जानता हूं कि इस अन्तस्तल से कुछ या काफी अन्धश्रद्धालु लोग नाक मुँह सिकोड़ेंगे, निन्दा करेंगे, पर उनकी मुझे पर्वाह नहीं है, अुनपर मैं ध्यान दूंगा तो इतना ही कि उनकी चेष्टाओं पर मुस्करा दूं या किसी ने कुछ दलील सरीखी बात कही तो उसका उत्तर दे दू। परन्तु वहुत से लोग ऐसे भी होंगे जो अन्तस्तल से प्रभावित होकर भी अपनाने में हिचकेंगे, वास्तव में दयनीय वे ही होंगे। परन्तु यदि कभी दुनिया को जैनधर्म और महावीर जीवन को ठीक तरह से समझने की जरूरत होगी तो इसी अन्तस्तल के दृष्टिकोण से समझना होगा। वर्तमान इसके साथ कैसा व्यवहार करेगा मैं नहीं कह सकता, पर महाकाल इसके साथ न्याय करेगा इसकी मुझे पूरी आशा है। वह आशा सफल होगी कि नहीं कौन जाने, पर अुसका सन्तोष तो मुझे मिल ही रहा है।

४ हुंगी ११९५३ इ. सं. — सत्यभक्त
१६ अगस्त १९५३ — सत्याश्रम वर्धा

अन्तस्तल-दर्शी स्वामी सत्यभक्त

[लेखक— सूरजचन्द सत्यप्रेमी]

जैन धर्म की मीमांसा में फैलाया निज बौद्धिक बल,
दूर किया समयोचित जिनने सारा छद्मस्थों का छल।
प्रकट हुआ श्री वीतराग-विभु की संस्कृति का निर्मल जल,
सत्यभक्त बिन कौन समझता महावीर का अन्तस्तल॥

सभी तरह का पक्ष छोड़कर शुद्ध सत्य संधान किया,
विश्लेषण कर घटनाओं का तत्वज्ञान दिलान किया।
देवि यशोदा वीरपत्नि को सच्चे यश का दान किया,
वर्द्धमान के निजमुख से ही, यह इतिवृत्त विधान किया॥

जिनवर दैनंदिनी रूप में अपना चरित सुनाते हैं,
मानों सत्यभक्त, जीवन का ध्रुव रहस्य समझाते हैं।
सारे अनुभव को निचोड़ ज्ञानामृत हमें पिलाते हैं,
अनेकान्त सिद्धांत रूप सम्यक् समभाव सिखाते हैं॥

द्रव्यक्षेत्र युत कालभाव लख सब सुधार अपनायेंगे,
विविध अपेक्षा से समाज या शासन कार्य चलायेंगे।
नय-भंगों का मर्म समझकर जग-समन्वय करायेंगे,
लोकोत्तर निर्मल स्वभाव में हम शाश्वत सुख पायेंगे॥

—: महावीरावतार :—

यद्यपि न किसी को ज्ञात रहा तू कब कैसे आजावेगा ।
अन्धी आँखों के लिये सत्यका पदरज अञ्जन लावेगा ॥
अज्ञानतिमिरको दूर हटाकर नवप्रकाश फैलावेगा ।
रोते लोगों के अश्रु पोंछ गोदीमें उन्हें उठावेगा ॥ १ ॥

तो भी अपना अञ्चल पसार अबलाएँ ऊंची दृष्टि किये ।
करती थीं तेरा ही स्वागत अञ्चल में स्वागत-पुष्प लिये ॥
अधिकार छिने थे सब उनके उनको कोई न सहारा था ।
था ज्ञात न तेरा नाम मगर तू उनका नयन-सितारा था ॥

पशुओं के मुखसे दर्दनाक आवाज़ सदैव निकलती थी ।
उनकी आहोंसे जगत् व्याप्त था और हवा भी जलती थी ॥
भगवती अहिंसा के विद्रोही धर्मात्मा कहलाते थे ।
भगवान सत्यके परम उपासक पदपद ठोकर खाते थे ॥

पशुओं का रोना सुनकरके पत्थर भी कुछ रो देता था ।
पर पढ़े लिखे क़ातिल मूर्खोंका वज्र हृदय रस लेता था ।
था उनका मन मरुभूमि जहाँ करुणारस का था नाम नहीं ॥
थे तो मनुष्य पर मनुष्यता से था उनको कुछ काम नहीं ॥

शूद्रोंको पूछे कौन जाति-मद में डूबे थे लोग जहाँ ।
वे प्राणी हैं कि नहीं इसमें भी होता था सन्देह वहाँ ॥
उनकी मजाल थी क्या कि कानमें ज्ञानमन्त्र आने पावे ।
यदि आवे तो शीशा पिघलाकर कानोंमें डाला जावे ॥

था कर्मकांडका जाल बिछा पड़ गये लोग थे बंधन में ।
था आडम्बरका राज्य सत्यका पता न था कुछ जीवन में ।
ले लिये गये थे प्राण धर्म के थी बस मुर्दे की अर्चा ।
सद्धर्म नामपर होती थी बस अत्याचारों की चर्चा ॥

पशु अबला निर्बल शूद्र मूक आहों से तुझे बुलाते थे ।
उनके जीवन के क्षण क्षण भी वत्सर सम बनते जाते थे ॥
तेरे स्वागत के लिये हृदय पिघलाकर अश्रु बनाते थे ।
आँखोंसे अश्रु चढ़ाते थे आँखें पथ बीच बिछाते थे ।

तूने जब दीन पुकार सुनी सर्वस्व छोड़ दौड़ा आया ।
रोगीने सच्चा वैद्य दीनने मानो चिन्तामणि पाया ॥
तू गर्ज उठा अत्याचारों को ललकारा, सब चौंक पड़े ।
सब गूंज उठा ब्रह्मांड न रहने पाये हिंसाकांड खड़े ।

पशुओंका तू गोपाल बना पाया सबने निज मनभाया ।
तूने फैलाया हाथ सभीपर हुई शान्त शीतल छाया ॥
फहरादी तूने विजय वैजयन्ती भगवती अहिंसा की ।
हिंसाकी हिंसा हुई सहारा रहा नहीं उसको [illegible] ॥

सारे दुर्बन्धन तोड़फोड़ दुष्कर्मकांड सब नष्ट किया ।
भगवान सत्यके विद्रोहीगण को तूने पदभ्रष्ट किया ॥
भगवती अहिंसा का झंडा अपने हाथों में फहराया ।
तू उनका बेटा बना विश्व तब तेरे चरणों में आया ॥

ढोंगी स्वार्थी तो 'धर्म गया, हा धर्म गया' यह चिल्लाने ।
तेजस्वी रविके लिये कहे दुर्वचन घूकोंने मनमाने ॥
लेकिन तूने पर्वाह न की ढोंगों का भंडाफोड़ किया ।
सदसद्विवेक का मंत्र दिया भगवान [illegible] ॥

तू महावीर था वर्द्धमान था और सुधारक नेता था ।
तू सर्वधर्मसमभाव विधर्मोंका परम प्रणेता था ॥
भगवान सत्यका बेटा था आदर्श हमारे जीवन का ।
तेरे पदचिन्ह मिलें मुझको बन्धन [illegible] मेरे मनका ॥

—सत्यभक्त

समर्पण

महात्मा महावीर स्वामी की सेवा में

महात्मन्

आपकी कलम से आपका जविन चरित्र लिखाना, और आपके अन्तस्तल का चित्रण करना कहालायगी तो धृष्टता ही, पर वह धृष्टता सिर्फ कहलायगी वास्तव में धृष्टता होगी नहीं। क्योंकि दुनिया को चाहे पता हो चाहे न हो पर आपको पता है कि मैंने कितनी दिशाओं से आपको फोकस मिला मिलाकर देखा है।

जो आपसे वहुत दूर हैं उन्हें आप या तो दिखते ही नहीं या धुँधले दिखते हैं, जो वहुत पास हैं उनका फोकस ही नहीं मिलता, इसलिये वे भी आपको नहीं देख पाते। एक दिन मैं भी ऐसे ही पास था तब मेरा भी फोकस नहीं मिलता था पर सत्येश्वर के दर्शन के बाद फोकस मिला, मैं ठीक स्थानपर पहुंचा और आपको देख सका, इसी का परिणाम है कि यह अन्तस्तल लिख सका हूं।

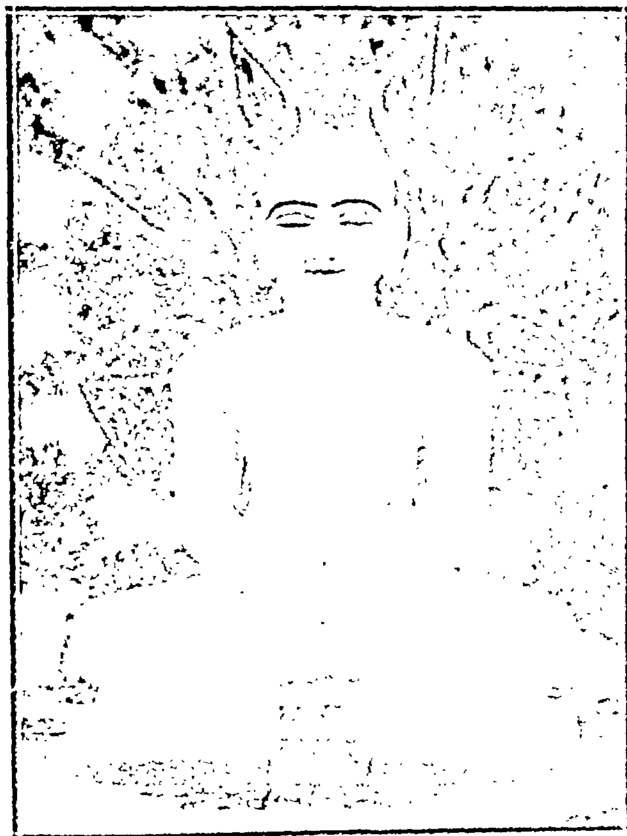
सत्यलोक में जब आपके दर्शन हुए तब मेरी वातों से आप काफी खुश हुए थे। उस भरोसे मैं कह सकता हूं कि इस अन्तस्तल से भी आप खुश होंगे। इसलिये मुझे इस वात की चिन्ता नहीं है कि इससे दुनिया खुश होगी या नाखुश।

अन्तस्तल लिखा तो गया है दुनिया के हाथों में समर्पण करने के लिये, पर मालूम नहीं दुनिया इसे स्वीकार करेगी या नहीं? इसलिये आपकी ही सेवा में इसे समर्पित कर रहा हूं। अब आप ही इसे प्रसाद के रूप में बांट दें।

४ टुंगी ११९५३ इ. सं.

विनीत
सत्यभक्त

महात्मा महावीर



सत्याश्रम वर्धा के धर्मालय ([illegible]) में
विराजमान मूर्ति

महावीर का अन्तस्तल

अर्थात्

जैन तीर्थंकर महावीर की डायरी

१ – अशान्ति

१७ बुधी ९४२७ इतिहास संवत्

आकाश में आज बादल छागये हैं, बिजली चमक रही है, बादलों का रंग देखकर कहा जासकता है कि अच्छी वर्षा होगी। हवा में कुछ तेजी है, ठंडक भी है; निश्चय ही कहीं पानी बरसा है, आकाश में आज काफी हलचल है। निःसन्देह यह सफल होगी, पानी बरसेगा, ताप घटेगा, धरती में अंकुर निकलेंगे, धरती हरी साड़ी पहिनकर अपना शृंगार करेगी, बादलों की हलचल सफल होगी।

पर यह कितने अचरज और लज्जा की बात है कि मेरे हृदयाकाश में इससे भी अधिक हलचल है, पर न पानी बरस रहा है, न ताप घट रहा है, न अंकुर निकल रहे हैं और न उससे दुनिया की कुछ शोभा बढ़ रही है।

जगत् दुःखी है, इसलिये नहीं कि जीवन के साधन नहीं हैं, जीवित रहने लायक पेट भरने लायक सब कुछ है, पर कमी है तो सिर्फ इस बात की कि तृष्णा भरने लायक जगत में कुछ नहीं है। कारण यह नहीं कि जगत क्षुद्र या कंगाल है, कारण यह कि तृष्णा का मुंह विशाल है, इसका मुंह कभी नहीं

भरता, तृष्णा का मुँह माप कर अगर उतनी ही माप की चीज उसमें भरदी जाय तो तृष्णा का मुँह उससे चौगुना फैल जाता है, हम भरते जायँगे वह फैलता जायगा। विचित्र अनवस्था है ! पर जगत् के प्राणी इसे नहीं समझते, वे तृष्णा का मुँह भरने की निरर्थक चेष्टा दिनरात करते रहते हैं यहां तक कि अपनी तृष्णा का मुँह भरने के लिये वे दूसरों का जीवन होम देते हैं, उनके पेट की रोटी तक छीन लेते हैं, उनकी जीवन शक्ति को चूस डालते हैं, इसीसे जगत में हिंसा है, झूठ है, चोरी है, व्यभिचार है और अनावश्यक संग्रह है।

तृष्णा के कारण मनुष्य अपने को सदा प्यासा अनुभव करता है और दूसरे के कष्ट को नहीं देखता। इच्छापूर्तिका आनन्द क्षणभर ही ठहरता है, दूसरे ही क्षण फिर ज्यों की त्यों प्यास लग आती है, ज्यों का त्यों दुःख आजाता है, इसप्रकार सफलता भी निष्फलता में परिणत होजाती है तृष्णा को मारे बिना कोई सच्ची सफलता नहीं पा सकता। तृष्णा को अगर मार दिया जाय तो स्वर्ग की जरूरत न रहे और मोक्ष घट घट में विराजमान होजाय।

मैं इस मोक्ष को पाना चाहता हूँ, सिर्फ पाना ही नहीं चाहता, किन्तु मोक्ष का मार्ग जगत् को बताना चाहता हूँ और बताना ही नहीं चाहता, मोक्ष के मार्ग पर दुनिया को चलाना भी चाहता हूँ।

सोचा करता हूँ, सोच रहा हूँ यह सब कैसे हो ? इसके लिये मुझे कुछ करना है, कुछ क्या बहुत करना है, जीवन खपाना है। पच्चीस वर्षकी उमर होचुकी है, पिछले दिन इन्हीं विचारों में या भीतरी तयारी में बीते हैं पर न जाने अभी कितने दिन और बीतेंगे। कुटुम्बियों के प्रति भी मेरा उत्तरदायित्व है उसे कैसे पूरा करूं, उनसे कैसे छुट्टी लूं, समझ में नहीं आता। अभी तक मेरे

मनकी बात किसीको मालूम नहीं है. मालूम होनेपर न जाने क्या होगा, कुहराम मच जायगा। मेरे रहन सहन के कारण से कुटुम्बी कुछ शंकित तो हैं पर उन्हें क्या मालूम कि मेरे मनमें कैसी अशान्ति मची है। यों मुझे किसी बात का कष्ट नहीं है. माँ बाप का दुलारा हूँ, भाई नन्दिवर्धन मुझे दाहिना हाथ समझते हैं. पत्नी तो मुझे प्राणों के समान प्यार करती है और यह बच्ची सुदर्शना मुझे देखकर उल्लास से ऐसी कूदने लगती है कि मैं कैसे भी विचारों में मग्न होऊं मेरा ध्यान खेंचही लेती है. मुझे उसे गोद में लेना ही पड़ता है, आधी घड़ीको मेरी सारी गम्भीरता को वह उड़ा देती है। ऐसा बना बनाया यह सोने का संसार छोड़ने को किसका जी चाहेगा? मैं छोड़ने की बात कहूं तो लोग अचरज में डूबने लगेंगे। पर इस तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता कि यह सब चिरस्थायी नहीं है और न सब के भाग्य में यह बदा है। यह हो भी तो नहीं सकता, सभी राजा होजायँ तो राज्य किसपर हो, सभी मालिक हो जायँ तो दास कौन हो? इसलिये सब को मेरे समान परिस्थिति नहीं मिलसकती. तब इस अस्वाभाविक स्थिति से जगत सुखी कैसे होसकता है? स्थिति ऐसी होना चाहिये कि कोई किसी के ऊपर सवार न हो. सेवा की ज्ञान तप त्याग की महत्ता हो. पर कुलकी धनकी वंश परम्परा के अधिकार की महत्ता नष्ट हो। लोग स्वेच्छा से गुणियों की उपकारियों की सेवा पूजा प्रतिष्ठा यशोगान आदि करें, पर इसमें विवशता की हीनता न होना चाहिये। जब तक यह सब नहीं होता तब तक जगत् सुखी नहीं होसकता। सुखका यह मार्ग मुझे जगत को बताना है, उसपर चलना है और इसके लिये अपने जीवन का बलिदान करना है।

२१ मुंका ९४२७ इ. सं.

आज चित्त बड़ा खिन्न है। घूमता हुआ आज गोवर गांव की तरफ चला गया था। मालूम हुआ कि वहां यज्ञ हो चुका है। चारों तरफ हड्डियां और मांस बिखरा पड़ा था। यज्ञ में हजारों जानवर मारे गये थे। मनुष्य की यह कैसी निर्दयता है। बेचारे निरपराध पशुओं की वह हत्या करता है और सिर्फ स्वाद के लिये हत्या करता है, अन्यथा देश में अनाज की कमी नहीं है अब तो कृषि कार्य इतना बढ़गया है कि अनाज की कमी पड़ ही नहीं सकती. फिर भी मनुष्य जीभ के लिये ऐसी हत्याएँ करता है। और इससे बड़े दुःख की बात यह है कि वह इन हत्याओं को पाप नहीं समझता, इन्हें धर्म का रूप देता है, कैसा भयंकर दम्भ है! कितना विशाल मिथ्यात्व है! सोचता हूँ असंयम की अपेक्षा भी मिथ्यात्व धर्म का बड़ा दुश्मन है। असंयमी का असंयम छिपने के लिये ओट नहीं पाता पर मिथ्यात्वी का असंयम छिपने के लिये धर्म के भी नाम की ओट पाजाता है। इसलिये उसे हटाना असम्भव होजाता है।

मैंने उनमें से एक आदमी से पूछा—तुम लोग धर्म के नाम पर ऐसे मूक प्राणियों की हत्या क्यों करते हो? तुम्हें अपनी इस निर्दयता पर लज्जा नहीं आती? पर उसने काफी निर्लज्जता से कहा-इसमें निर्दयता क्या है? हम तो एक तरह से दया करके ही पशुओं का यज्ञ में बलिदान करते हैं। बलिदान से वे पशुयोनि से छूट जाते हैं और स्वर्ग चले जाते हैं। यहां वे घास खाते हैं वहां अमृत पीते हैं, यज्ञ में मरने के सिवाय और उनका कल्याण क्या होसकता है?

उसकी इस दम्भपूर्ण निर्लज्जता या क्रूरता पर और इन सब पापों पर आवरण डालनेवाले महापाप मिथ्यात्व पर मुझे

बड़ा आश्चर्य हुआ. मैंने उससे पूछा-क्या तुमने देखा है कि वे स्वर्ग जाते हैं ?

उसने कहा-नहीं देखा तो क्या हुआ? वेद में तो कहा है।

ओह ! वे मृतक वेद ! युग कहां से कहां चला गया और ये मुर्दे बनकर भी उससे चिपटे हुए हैं। पर यह सब बात वह सुनने को तैयार न था । तब मैंने इतना ही कहा-यदि यज्ञ में मरने से पशु स्वर्ग जाते हैं तब तुम भी यज्ञमें क्यों न मरगये ? तुम भी स्वर्ग में पहुँच जाते और पशुओं से ऊंची जगह पाजाते।

इसका उसने कुछ भी उत्तर न दिया. मुंह को कुरूप करके चलागया, उत्तर देता भी क्या ?

ऐसा मालूम होता है कि अगर मनुष्य को मनुष्य बनाना है तो वेदों से उसका पिंड छुड़ाना ही पड़ेगा । मनुष्य को यह सिखाना पड़ेगा कि वह शास्त्र को अपनी बुद्धि से विवेक से परखे, द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार करे। एक युग का शास्त्र दूसरे युग में काम नहीं देसकता। आज मैं बेचैन हूँ कि इस शास्त्रमूढ़ता से और क्रूरता से मनुष्य को कैसे बचाऊं ?

१२ चिंगा ९४२७ इ. सं.

आज मैं रथमें बैठा हुआ जारहा था कि सामने से भीड़ देखी। पूछने पर मालूम हुआ कि पण्डितों के दो दलों में झगड़ा होगया है। झगड़ा था द्वैत और अद्वैत का। भिन्नवादी पंडित ने अद्वैतवादी पण्डित की पत्नी से व्यभिचार किया था. इतने पर भी वह कह रहा था कि इसमें पाप क्या हुआ ? अद्वैतवाद में अपना क्या और पराया क्या. सब एक है। तब पाप क्या हुआ ? इस युक्ति का उत्तर दूसरे का सिर फोड़कर दिया गया था, और कहा गया था कि द्वैतवाद में आत्मा और शरीर भिन्न भिन्न

है तब सिर फोड़ने से आत्मा का क्या बिगड़ा ?

कितने मूर्ख और अविवेकी हैं ये पण्डित ! कैसी विवेक-शून्य एकांत दृष्टि है इनकी, असंयम अत्याचार अनीति पर धर्म और दर्शन का कैसा आवरण डालते हैं वे ? फिर भी इन्हें देखकर जनता किंकर्तव्यविमूढ़ है। जनता इनकी संस्कृत भाषा समझती नहीं, उस भाषा में कुछ भी बोलकर ये जनता पर अपने पांडित्य की धाक जमाते हैं। ये मोघजीवी (हरामखोर) पृथ्वी के भार हैं। पृथ्वी का यह भार किसी भी तरह उतरना चाहिये।

दर्शनों के इन झगड़ों को दूर करने के लिये एकांत दृष्टि का त्याग जरूरी है, अनेकांत सिद्धांत ही इस मिथ्यात्व को नष्ट कर सकता है। वह एक ऐसी कुंजी है जिससे साधारण जनता भी कर्तव्य अकर्तव्य, सत्य असत्य का निर्णय कर सकती है।

हां ! धर्म और ज्ञान को जनता के पास पहुँचाने के लिये जनता की भाषा में बोलना पड़ेगा। पण्डितों की दुर्बोध संस्कृत का त्याग करना पड़ेगा। मागधी या आसपास की अन्य बोलियों से मिली मागधी अर्थात् अर्ध मागधी में शास्त्र बनाना पड़ेंगे, तभी सर्वसाधारण जनता धर्म के मर्म को समझेगी और इन मोघजीवी पण्डितों की पोल खुलेगी। धर्म के नामपर होनेवाला अधर्म का तांडव नष्ट होगा।

पर यह सब हो कैसे ? कहने से तो हो ही न जायगा बल्कि ऐसी बातें मुंह से निकलते ही चारों तरफ से इतना विरोध होगा कि उसे सह सकना कठिन होगा, मुझे नहीं तो कुटुम्बियों को अवश्य।

इन सब समस्याओं की पूर्त्ति के लिये मुझे अपने जीवन में पर्याप्त क्रांति करना होगी। पर कब उसका समय आयगा ? कैसे मैं वह क्रांति करूंगा ? कुछ कह नहीं सकता। मन ही मन बेचैनी बढ़ रही है।

५ जिन्नी ९४३८ इ. सं.

आज वनविहार को गया था। वसन्त के उल्लास में सब मस्त थे। घड़ीभर को मैं भी अपने को निश्चिन्तता अनुभव करने लगा था कि इतने में मेरे रंग में भंग होगया। मेरी नजर एक घायल आदमी पर पड़ी। उसके सिर से खून बह रहा था, हाथ पैरोंमें भी घाव थे, पीठ सूज गई थी। वह बड़ी दूर से रेंगता रेंगता आरहा था। अन्त में उसकी शक्ति ने जवाब देदिया, वह मेरे क्रीड़ावन के फाटक के एक किनारे थककर गिर पड़ा।

दूसरे ही क्षण मैं उसके पास था।

पूछने पर मालूम हुआ उसका नाम शिवकेशी है, जाति का चांडाल है। कहीं वेद पढ़ा जारहा था, इसके मनमें वह सुनने की इच्छा होगई और यह बाहर खड़ा खड़ा सुनने लगा। चांडाल के कान में वेद के अक्षर चले जायँ—यह इतना बड़ा पाप माना गया कि उसका सिर फोड़ना और उसे अंग अंग में घायल करना कमसे कम प्रायश्चित्त समझा गया। शिवकेशी ने यह भी कहा कि बहुत से ब्राह्मणों की इच्छा तो यह थी कि इस पापके प्रायश्चित्त में चांडाल के कानमें पिघलाकर सीसा डाला जाना चाहिये। पर उनने दया करके सिर से पैर तक सिर्फ डंडे मार मार कर उसे घायल करके ही छोड़ दिया।

मनुष्यता का इससे बड़ा अपमान और क्या होगा? आखिर इससे बढ़कर पैशाचिकता की और क्या कल्पना की जासकती है? वेद, इन मोघजीवी पंडितों की रोटियां हैं, इसी डर से कि कोई दूसरा वेद जानकर रोटियां न छीनले, इसीलिये ये इसके लिये क्रूर से क्रूर बनजाते हैं। ज्ञान मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है पर इसी ज्ञान से ये मोघजीवी लोग मनुष्यों को वंचित रखना चाहते हैं? ये मनुष्यता के शत्रु हैं, इनका निराकरण होना ही चाहिये। मुझे इसके लिये लोकमत तैयार करना है और ऐसा

तैयारी करना है कि जिससे कोई मनुष्याकार जन्तु मनुष्यता का अपमान न कर सके।

ओह ! शिवकेशी के ये शब्द मुझे अभी तक चुभ रहे हैं कि "दया करके मुझे मनुष्य न समझिये मुझे पशु समझिये।"

उसके घाव देखने के लिये जब मैंने उसके शरीर को हाथ लगाया तब उसने कहा कि मुझे न छूइये ! मैं चांडाल हूँ। तब मैंने कहा-आखिर मनुष्य तो हो ?

उसने कहा- "मुझपर दया कीजिये ! मुझे मनुष्य न समझिये ! मैं मनुष्य नहीं कहलाना चाहता। अगर पशु होता तो कान में वेद जाने से न मेरा सिर फाड़ा जाता, न मैं अछूत कहलाता। कोई जानवर अछूत नहीं कहलाता, सिर्फ मनुष्य ही अछूत कहलाता है" कितने मर्म की बात कही है उसने, सचमुच मनुष्य मनुष्य से घृणा करके कितना अधम होगया है !

वैदिक धर्म इतना विकृत होगया है कि उसे अब धर्म ही नहीं कहा जासकता। उसने मनुष्य की मनुष्यता छीनली है, कुछ को उसने पशु और कुछ को उसने नारकी बना दिया है।

शिवकेशी की चिकित्सा करने के लिये जब मैंने वैद्यको बुलाया तब वैद्यने घाव देखने के लिये उसे छूना स्वीकार न किया। दूर से दवा बताकर चलागया। मेरा पद व्यक्तित्व आदि भी उससे यह काम न करासका मेरे पद व्यक्तित्व आदि से भी बढ़कर उसके पास शक्ति थी लोकमत की। किसी ने वैद्यकी लापर्वाही को अनुचित न समझा।

मैंने जब भाई नन्दिवर्धन से इसका जिक्र किया तो उनने भी कहा-वह चांडाल को कैसे छूता ?

तात्पर्य यह कि पाप आज मनुष्य समाज का सहज स्वभाव बन गया है शासक-शक्ति इसका कुछ बिगाड़ नहीं करसकती। मैं राजा या सम्राट बनकर भी इस दिशा में कुछ नहीं कर सकता। जगत की सेवा के लिये जंगलमें जाना पड़ेगा, महलों में रहने से न चलेगा। पर यह सब हो कैसे ? और कब ?

२ - भींगी आंखें

६ जिन्नी ९४७८ इ. सं.

यशोदादेवी की भींगी आंखें मेरी आंखों के सामने से नहीं हटतीं। दुनिया के दुःख और अन्धेरशाही देखकर मेरा मन बेचैन तो पहिले से ही था पर कल शिवकशी की जो दुर्दशा देखी और उस दुर्दशा को दूर करने में अपने वर्तमान साधनों की अक्षमता का अनुभव किया उससे मनमें वह बेचैनी बहुत असाधारण होगई। मुझे बेचैन देखकर यशोदादेवीकी बेचैनी मुझ से भी अधिक बढ़गई। उनने बार बार मुझ से मेरी बेचैनी का कारण पूछा, पर मैं बताता क्या? मैं मन ही मन बड़ा सकुचाया कि मेरा बेचैनी के इस कारण पर तो सब हंस देंगे। साधारण जन का स्वभाव तो यह है कि उसपर जब कोई संकट आता है तब वह बेचैन होता है। दूसरों के दुख में वह सिर्फ सहानुभूति प्रगट कर सकता है पर सहानुभूति कर नहीं सकता। दिन रात बेचैन रहना तो दूर की बात है। तब वह मेरी बेचैनी क्या समझे? इसलिये अपनी बेचैनी की बात यशोदादेवी से भी कहने को मन नहीं चाहता था। पर उनके अत्याग्रह से मुझे सब बात कहना पड़ी।

दुनियामें फैलीहुई तृष्णा अनीति, हिंसा, धर्मान्धता जातिमद आदि की बातें जब मैंने कहीं तब देवी सिर झुकाये सब सुनती रहीं। फिर उनने कहा- देव, आपकी करुणा अपार है और ऐसे करुणाशाली पुरुष की पत्नी होने का मुझे गौरव है, फिर भी मैं प्रार्थना करती हूं कि आप बेचैन न हों। हमारे दुखी होनेसे हमारा लुटा हुआ सुख संसार में न बटजायगा। धन लुटने से धन बट सकता है पर सुख लुटने से सुख नहीं बट सकता।

मैंने कहा- पर जब तक दूसरोंका दुख अपना दुख न बनजायगा तब तक हम उसे दूर करने का गहरा प्रयत्न कैसे कर सकते हैं ? दूसरों के दुख में हम जितने अधिक दुखी होंगे परोपकार के लिये उतना ही अधिक हमारा प्रयत्न होगा। गहरी बेचैनी के बिना प्रयत्न भी गहरा नहीं हो सकता। सुदर्शना के कष्ट को दूर करने के लिये तुम जितना प्रयत्न कर सकती हो क्या उतना ही प्रयत्न किसी दूसरी लड़की के लिये कर सकती हो ?

देवी क्षणभर रुकीं फिर बोलीं-नहीं कर सकती।

मैं- इसका कारण यही तो है कि सुदर्शना के कष्ट में जितनी बेचैनी तुम्हें हो सकती है उतनी दूसरे के कष्ट में नहीं।

देवी-आप ठीक कहते हैं।

फिर मैंने चेहरे पर जरा मुसकराहट लाते हुए कहा- अब तो तुम मेरी बेचैनी का कारण समझ गई होगी।

शिष्टतावश देवी ने भी मुसकरा दिया पर मुझे यह समझने में देर न लगी कि मुसकराहट के रंग के नीचे चिन्ता का रंग था जो कि मुसकराहट के रंग से गहरा था। कुछ देर चिंता करके देवी ने कहा-आपका कहना ठीक है फिर भी मनुष्य अधिक से अधिक आत्मकल्याण ही कर सकता है, जगत को सुधारने की चिन्ता करके भी क्या होगा ? जग तो अपार है हम उसकी चिन्ता करके भी पार नहीं पासकते। फिर अपना ही कल्याण क्यों न करें ?

देवी की यह तार्किकता देखकर मुझे आश्चर्य न हुआ। बात यह है कि देवी ने भांप लिया है कि मेरा पथ सर्वस्व के त्याग का है और इससे बचने के लिये वे अपनी सारी शक्ति लगाती हैं, बुद्धि पर भी जोर डालती हैं इसीलिये वे ऐसी युक्ति देसकीं। पर मैंने अपने पक्ष - समर्थन के लिये कहा —

आत्मकल्याण के लिये भी जगकल्याण करने की जरूरत है। जब चारों तरफ अनीति, अशान्ति और जड़ता फैली हो तब हमारी नीति, शान्ति और बुद्धिमत्ता सफल नहीं हो सकती।

देवी- यह ठीक है। आप अपने स्वजन और परिजनों को परखिये कि कहीं उनमें अनीति, अशान्ति और जड़ता तो नहीं है? यदि हो तो आप उनकी चिकित्सा कीजिये। इससे आपको भी सन्तोष होगा, उनका भी उद्धार होगा।

ओह! उनकी यह बात सुनकर तो मुझे ऐसा लगा कि देवी बाहर से विनीत और शान्त रहकर भी भीतर ही भीतर मेरे साथ बौद्धिक मल्लयुद्ध कररही हैं और नये नये पेंच डाल रही हैं। इसमें उनका अपराध नहीं है। उनकी वेदना का मैं अनुभव करता हूं। पर करूं क्या? मुझे जो सम्यग्दर्शन हुआ है उसकी सार्थकता इस छोटेसे क्षेत्र में चैन करने में नहीं है किन्तु सब की प्यास बुझाने में है। धरातल के भीतर सब जगह प्रवाह बह रहे हैं पर ऊपर दुनिया प्यास से तड़प रही है, मेरा काम कूप खोदकर भीतर छिपा जल निकालना है और सब को जल पीने की राह बताना है या वह राह बताना भी है। यही बात जरा दूसरे ढंग से समझाने के लिये मैंने देवी से कहा- एक कुत्ता जब कहीं बैठना चाहता है तब पैरों से एकाध हाथ जगह साफ कर लेता है और उतनी सफाई से सन्तुष्ट होकर बैठ जाता है, पर एक आदमी उतने में सन्तुष्ट नहीं होता वह आवश्यक समझता है कि मेरी पूरी झोंपड़ी साफ हो। जो इससे भी अधिक विकसित हैं वे यह सोचते हैं कि केवल झोंपड़ी के साफ होने से ही क्या होता है? यदि झोंपड़ी के आसपास मलमूत्र भरा रहा तो उस झोंपड़ी में कैसे रहाजायगा? जो इससे भी अधिक विकसित होते हैं वे सोचते हैं कि झोंपड़ी के आसपास

की सफाई से ही क्या होता है ? अगर नगर की अन्य वीथियाँ और पथ मलमूत्र से भरे रहे तो ऐसे नगर में रहकर तो गमनागमन भी नहीं हो सकेगा, इसलिये वे चाहते हैं कि सारा नगर स्वच्छ हो। निःसन्देह यह सब वे अपने लिये चाहते हैं, पर उनका स्वार्थ सारे नगर का स्वार्थ सिद्ध होजाता है। यही तो परकल्याण में आत्मकल्याण है। और ऐसा ही आत्मकल्याण में करना चाहता हूँ।

देवी थोड़ी देर तक मौन रहीं फिर धीरे धीरे उनकी आंख भींगीं और पलकों पर मोती भी वने।

मैंने अत्यन्त स्नेह के साथ देवी के सिरपर हाथ रक्खा और उनका सिर मेरी छाती पर ढुल पड़ा। मैंने वहुत ही प्रेमल स्वर में कहा—देवी, तुम इतनी घवराती हो ! जरा उस अमरता का ध्यान तो करो जो जगत कल्याण के लिये सर्वस्व समर्पण करनेवालों और उनके सम्बन्धियों को मिलती है। फिर आज तो कुछ मैं कर ही नहीं रहा हूँ। विश्वहित के लिये निष्क्रमण का दिन तो काफी दूर मालूम होता है। माता पिता और तुम्हारी अनुमति के विना मैं निष्क्रमण कभी नहीं करूंगा। फिर भी एक वात तुमसे कहता हूं। तुम क्षत्राणी हो, हर एक क्षत्राणी के पिता पुत्र पति युद्धक्षेत्र में जाते रहते हैं और क्षत्राणी आरती उतार कर उन्हें विदा करती है। युद्धक्षेत्र में विदा करने के लिये किस प्रकार कठोर हृदय की आवश्यकता है यह कहना आवश्यक नहीं, और वही हृदय क्षत्राणियों को मिला होता है फिर तुम्हारे हृदय में इतनी कातरता क्यों ?

देवी ने कहा-देव, क्षत्राणी विदाई की आरती उतारती है पर उस समय भीतर ही भीतर जो वह अपने आंसुओं को पीजाती है वह केवल इसी आशा पर कि फिर किसी दिन वह स्वागत की आरती भी उतारेगी, पर निष्क्रमण में यह आशा कहां?

यह कहते कहते देवी का गला भर आया, और मेरी गोद में सिर छिपाकर वे फवक फवक कर रोने लगीं।

आंखें मेरी भी भर आईं और गला भी भरगया इसलिये मैं फिर कुछ कह न सका, स्नेह से उनके सिर पर और पीठ पर हाथ फेरने लगा। बहुत देर में उनने सिर उठाया और भीगीं आंखों से मुझे देखने लगीं।

वे भीगीं आंखें मुझे इस समय भी दिखाइ दे रही हैं।

३—फीका वसन्त

१२ जिन्नी ६४२८ इ. स.

इधर पंद्रह दिन से यशोदा देवी के व्यवहार में बहुत अन्तर देख रहा हूँ। प्रेम कम होगया है सो बात नहीं है किन्तु उसमें भय आशंका के मिलने से आदर बढ़ गया है। मेरी सूचनाओं का तुरन्त जल्दी से जल्दी और ठीक ठीक पालन हो इसका अधिक से अधिक ध्यान रक्खा जाता है।

मानों मैं घर का आदमी नहीं, बाहर का अत्यादरणीय अतिथि हूं। मैं किसी असुविधा से जरा भी अप्रसन्न न होने पाऊं इसकी पूरी चेष्टाओं का फल यह हुआ कि इस वर्ष का वसन्त फीका जारहा है। ऐसी कोई घटना नहीं होरही है जिनके स्मरण मात्र से कभी कभी हृदय में गुदगुदी पैदा हुआ करती है।

गत वर्ष ये ही वसन्त के दिन थे। देवी ने उस दिन सखियों के साथ मिलकर मालाएँ गूँथीं थीं। इतने में पहुंचा मैं. मैंने हँसकर कहा--आज तो फूलों का ढेर इकट्ठा किया गया है. क्या कामदेव की आयुधशाला पर छापा मारा गया है?

मेरी बात सुनकर सब हँसने लगीं, कुछ लजाईं भी, पर

वतक्कड़ वासन्ती बोली—पर कुमार, कामदेव की आयुधशाला लूटते लूटते सखी की उंगलियां थक गई हैं।

मने कहा-तो तुम सब किसलिये हो ? तुम से इतना भी न हुआ कि सखी की उँगलियां दबाकर उन की थकावट दूर कर देतीं ?

पर वासन्ती न तो लजाई न चुप रही। उसने तुरन्त ही उत्तर दिया- यह सब हम कर चुके। पर कोमलांगियों के दबाने से थकावट कैसे दूर होसकती है ? असके लिये कुमार सरीखे सशक्त हाथ चाहिये।

सब का अट्टहास हवा में गूँज गया और मैंने आगे बढ़कर देवी के दोनों हाथ पकड़ लिये और उँगलियां दबाने लगा। देवी लजा गईं, उनने उँगलियां छुड़ाने का नाट्य किया पर उँगलियां छुड़ाईं नहीं, सब मुसकराने लगीं। गतवर्ष का वसन्त ऐसा ही रसीला था।

इस वर्ष का वसन्त फीका है। देवी ने मालाएँ इस वर्ष भी बनाई हैं, नृत्य भी हुए हैं, शृंगार भी किया जारहा है, मुझे रिझाया भी जारहा है पर वह उन्मुक्तता नहीं है, जैसी प्रतिवर्ष रहा करती थी। देवी के चेहरे पर यह बात झलकने लगती है कि उन्हें इस काम में काफी श्रम हो रहा है। पहिले वे मुझे अपना साथी समझतीं थीं इसलिये मुझे बांधकर रखने का परिश्रम उन्हें नहीं करना पड़ता था। अब वे समझती हैं कि मैं भागनेवाला हूँ इसलिये वे सेवा से, शिष्टता से, विनय से मुझे बांधना चाहती हैं। अब मैं उनका सहचर नहीं, आराध्य हूँ। मेरा स्थान अब उनने पहिले से ऊँचा कर दिया है, इतना ऊंचा कि वसन्त का रस उतनी ऊँचाई तक चढ़ नहीं पाता। इस तरह अब वसन्त फीका पड़ गया है।

मैं इस समय काफी दुविधा में से गुजर रहा हूं। जगत अपनी मूक आंखों से मुझे बुला रहा है, पर इधर मैं आंसुओं से घिरा हुआ हूँ। जगत के प्रति जो मेरा कर्तव्य है वह मुझे दुविधा में डाल रहा है। एक बुद्धि कहती है कि जगत की सेवा के लिये घर से निकल! दूसरी कहती है कि एक निरपराध पत्नी को अवैधव्य में भी वैधव्य की यातना देने का तुझे क्या अधिकार है? कम से कम तू तब तक घर नहीं छोड़ सकता जब तक वे तुझे मन से अनुमति न दे दें। पर वह कौनसी पत्नी है जो ऐसे कार्य के लिये पति को मन से अनुमति दे दे? और माताजी! उनका क्या पूछना? वे तो शायद मेरे जाने की बात सुनते ही आंसुओं की नदी बहाने लगेंगी। पत्नी तो लज्जावश संकोच वश अग्नि की आग की तरह भीतर ही भीतर जलती रह सकती है पर माता को ज्वाला की तरह जलने में क्या बाधा है? ऐसा मालूम होता है कि मुझे इसके लिये कुछ वर्ष रुकना पड़ेगा। छब्बीस वर्ष की उम्र हो चुकी है इसलिये कुछ ही वर्ष और रुक सकता हूं, पर न जाने कब तक रुकना पड़े।

ठीक तो है, मेरे संकल्प की परीक्षा भी तो होना चाहिये, यह भी तो पता लगना चाहिये कि वह क्षणिक आवेग नहीं था। इस बीच अपने विचार पत्नी के मन में भी अंकित करना चाहिये। यों तो मुझे विवाह करना ही नहीं था अगर किया था तो झटका देकर तोड़ने की निर्दयता न करना चाहिये। इस बाट देखने में एक लाभ यह भी है कि भविष्य की तैयारी का मुझे काफी अवसर मिलता है।

हां! यह बात जरूर है कि आजकल मेरी जैसी मनोवृत्ति है उसे देखते हुए यह वसन्त फीका जारहा है। मुझे अपनी चिन्ता नहीं है। मुझे तो जैसा वसन्त वैसा निदाघ, फिर भी मैं चाहता हूँ कि मेरे कारण देवी का वसन्त फीका न जाय। मैं

उनसे कह देनेवाला हूँ कि मेरी तरफ से वे निश्चिन्त रहें, जब मैं अुन्हें अपने ध्येय और कर्तव्य की सचाई समझा दूंगा उनकी अनुमति लेलूंगा तभी निष्क्रमण करूंगा। वे प्रसन्न रहें, अुन्मुक्त रहें, अपने वसन्त में फीकापन न लायें।

४—आंसुओं का द्वंद

२१ जिन्नी-९४२८ इतिहास संवत्--

सोचा था कि आज देवी को आश्वासन देदूंगा। अुनसे आज काफी वातचीत भी हुई पर अुन्हीं की तरफ से चर्चा कुछ ऐसी छिड़ी कि वात कहीं की कहीं जा पहुँची। वात उन्हीं ने छेड़ी, लेकिन एक पत्नी की तरह नहीं, किन्तु एक जिज्ञासु शिष्या की तरह। बोलीं-संसार में दो तरह के प्राणी क्या वनाये गये, एक नर दूसरा मादा? क्या एक ही तरह का प्राणी वनने से काम न चलता?

प्रश्न सुनकर मैं देवी के मुँह की तरफ ईकटक देखता रहा। उनकी आंखें नाच की ओर थीं इसलिये नजर से नजर न मिली। क्षणभर चुप रहकर मैंने कहा:-

काम चलता कि नहीं इस वात को जाने दो, पर यह वताओ कि काम चलता तो क्या अच्छा होता?

यह कहकर मैं मुसकराने लगा। उनने आंखें ऊपर की ओर कीं और लजाकर फिर नीची करलीं। मुसकराहट अुनके भी मुँहपर खेलने लगी। उनने सिर नीचा किये हुए ही कहा-मैं क्या जानूं, आप ही वताइये।

मैंने कहा-तुम जानती हो पर अपने मन की वात मेरे मुँह से भी कहलाना चाहती हो।

मेरी वात सुनते ही उनकी मुसकराहट हँसी वनगई और लज्जा का भार इतना वढ़ा कि उनका सिर झुककर मेरी

जांघों पर आगया।

मैंने पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा-तुम्हारा मतलब समझता हूँ देवि ! पर पहिले शास्त्रीय प्रश्न का शास्त्रीय उत्तर ही देता हूँ।

कार्यकारण की परम्परा की सृष्टि है और हरएक कार्य के लिये निमित्त और उपादान दो कारणों की जरूरत है। अगर दो में से एक भी कम होजाय तो कार्य न हो। सृष्टि रुकजाय अर्थात् नष्ट होजाय। प्राणि सृष्टि में नारी उपादान है, पुरुष निमित्त। तब दो में से एक के बिना कैसे काम चलता ?

यह तो हुई तत्वज्ञान की बात और हुई सृष्टि की अनिवार्यता। पर सृष्टि के सौन्दर्य और रस की दृष्टि से भी नरनारी आवश्यक हैं, यह बात कहने की तो जरूरत भी नहीं मालूम होती।

मेरी बात सुनकर देवी चुप रहीं। इसलिये नहीं कि मेरी बात से उन्हें सन्तोष होगया किन्तु सिर्फ इसलिये कि अधिक उत्तर प्रत्युत्तर करने से कहीं मेरा अविनय न होजाय। किन्तु मैं उनके मनकी बात समझता था, इसलिये उन्हें बोलने के संकोच में न डालकर मैंने कहा-

अब तुम कहोगी कि यदि ऐसा है तो कुछ लोग संसार के इस सौन्दर्य को नष्ट करने की या रस को सुखाने की बात क्यों करते हैं ? वे क्यों दुनिया से भागकर निमित्त उपादान का सहयोग तोड़ते हैं ? यही है न तुम्हारे मनकी बात ?

देवी ने सिर उठाया और करुणा मिश्रित मुसकुराहट के साथ सिर हिलाकर स्वीकारता प्रगट की।

मैंने कहा-यही मैं तुम्हें समझाना चाहता हूँ। आज संसार का यह रस लुट चुका है, सौन्दर्य नष्ट होचुका है। रस और सौन्दर्य का पौधा उगे और फूले फले, इसके लिये मुझे

अपना जीवन वीज की तरह मिट्टी में मिलाना है। यह रस मनुष्य-मात्र का नहीं, प्राणिमात्र का है पर जब देखता हूँ कि एक गाय के आगे उसका साथी वलीवर्द धर्म के नाम पर टुकड़े टुकड़े कर दिया जाता है, तब उस गाय के या वलीवर्द के जीवन का रस कितना वच पाता है। यही हाल भैंस, भैंसा, बकरा. बकरी, हरिण, हरिणी आदि का है। खैर! पशुओं की बात जाने दो, पर उस दिन शिवकेशी के सिर से पैर तक की जो सब हड्डियाँ तोड़ दी गईं उससे उस शिवकेशी के और उसकी शिवकेशिनी के जीवन में कितना रस वचा? उस दिन पण्डितों के दलों ने जो एक दूसरे के सिर फोड़े तब उन कुटुम्बों में रात में कौनसा रस वहा होगा? साथी के अतिभोग और व्यभिचार से पति-पत्नी के जीवन में कितना रस रह जाता है? संसार की संपत्ति जब एक तरफ सिमट जाती है और दूसरी तरफ लोग दाने दाने को मुँहताज होजाते हैं तब उन कंगालों के जीवन में कितना रस रहजाता है? ये सब रस सुखाने वाले पाप हैं इन्हें निर्मूल करने के लिये मुझे जीवन खपाना है। अगर ये पाप न होते, दुनिया में दुःख न होता तो मुझे जीवन खपाने का विचार न करना पड़ता।

सुनते हैं एक जमाना ऐसा था, जब यहां कोई पाप नहीं था। जन्म से मरण तक दम्पति आनन्दमय जीवन विताते थे। उस समय न तो कोई धर्म-तीर्थ था न तीर्थंकर न आचार्य, और प्रजा मरकर देवगति में जाती थी। आज मनुष्य ने मनुष्य का रस लूट लिया है और कोई शक्ति उसे रोक नहीं पा रही है इसलिये उसमें मनुष्यता का भाव भरने के लिये मुझ सरीखे जागरित मनुष्य का जीवन खपाना जरूरी है।

वात ही वात में मैं एक प्रवचन सा कर गया। देवी भी ध्यान देकर मेरा प्रवचन सुनती रहीं और प्रवचन पूरा होने पर

भी कुछ न बोलीं; पर उनके चेहरे से पता लग रहा था कि वे कुछ कहना चाहती हैं। मैं भी उत्सुकता से उनके मुँह की तरफ इस तरह देखता रहा मानों मैं कुछ सुनना चाहता हूँ।

बड़े संकोच से और धीमे स्वर में उनने कहा आपके प्रयत्न से अवश्य ही दुनिया के बहुत से दुःख दूर होंगे पर प्रकृति ने ही प्राणी को क्या कुछ कम कष्ट दे रक्खे हैं? उनका क्या होगा?

मैंने कहा मेरे प्रयत्न से ही दुनिया के सब पाप दूर न होजायँगे, और प्राकृतिक कष्ट भी बने रहेंगे, फिर भी मनुष्य को उनसे बचाया जासकता है, और यह सब होसकता है मनुष्य को जीवन्मुक्त बनाकर! जीवन्मुक्ति, मुक्ति या मोक्ष का पाठ भी मनुष्य को देना है। सम्भव है, यह मोक्ष ही मनुष्य के सब दुःखों पर विजय पाने का अमोघ और अन्तिम अस्त्र हो।

देवी कुछ देर चुप रहीं फिर मुसकुराईं, फिर उनने हँसते हुए कहा-ठीक है, मोक्ष का ही पाठ पढ़ाइये! और इसके लिये पहली शिष्या मुझे बनाइये।

देवी को बुरा न लगे, इसलिये उत्तर में मैंने भी हँस दिया; पर वह हँसी अधिक समय तक टिक न सकी। मैंने गम्भीर सा होकर कहा—मोक्ष का पाठ पढ़ाने के पहिले तो मुझे मोक्ष प्राप्त करना होगा और उसकी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना होगा। मुक्त ही मुक्ति का पाठ पढ़ा सकता है, दूसरों को मुक्त बना सकता है।

देवी कुछ समय चुप रहीं, फिर बोलीं-अच्छा है मुक्ति का अभ्यास कीजिये! मैं मुक्ति साधक की सेवा करके ही अपने को कृतकृत्य समझूंगी।

जो शीघ्रता थी जो सम्भ्रम था वह पहिले न होता था। समझ गया कि यशोदादेवी के जरिये मेरे मानस-समाचार यहां पहुँच गये हैं।

माताजी ने मेरी ठुड्डी को हाथ लगाकर कहा-बेटा! सुनती हूं आज कल तुम बहुत उदास रहते हो, अगर किसी से कुछ अपराध होगया हो तो तुम इच्छानुसार दण्ड दे सकते हो पर इस तरह उदास बनने की क्या आवश्यकता?

मैंने कहा-अपराध करने पर जिन लोगों को मैं दण्ड देसकता हूँ उनमें से किसी ने कोई अपराध नहीं किया है, बल्कि उनके सामने तो मैं स्वयं अपराधी हूं क्यों कि उन्हें चिन्तित और दुःखी कर रहा हूं। पर जो वास्तव में अपराधी हैं, उन्हें दण्ड देने की शक्ति न मुझमें है न तुम में, न भाई नन्दिवर्धन में है न पिताजी में।

माताजी मेरी बात सुनते ही पहिले तो आश्चर्यचकित होगई, फिर मुखमण्डल पर रोष छागया। फिर जरा जोश के साथ बोली-वर्द्धमान! बताओ तो वह कौन दुष्ट है जो मेरे बेटेका अपराध करके अभी तक जीवित है, जरा उसका नाम ठिकाना तो सुनू।

मैं- मैं समझता हूं माताजी, उसका नाम ठिकाना यशोदा देवी ने तुम्हें बता दिया होगा।

माताजी- क्या शिवकेशी को घायल करनेवाले ब्राह्मणों से तुम्हारा मतलब है!

मैं-न केवल उन ब्राह्मणों से! किन्तु हजारों शिवकेशियों को घायल करने वाले लाखों ब्राह्मणों से! लाखों मूक पशुओं के खूनका कीचड़ बनानेवाले हजारों राजन्यों और क्षत्रियम्मन्यों से!!

नीति सदाचार की हत्या करने वाले हर एक मनुष्याकार जन्तु से मेरा मतलब है !!! ये सब अपराधी हैं।

माताजी स्तब्ध होगई। बड़ी देर तक उनके मुंह से एक शब्द भी न निकला; फिर एक गहरी सांस लेकर बोलीं-बेटा, तुम मनुष्य नहीं देवता हो; तुमने मुझे राजमाता नहीं देवमाता बनाया है। सचमुच तुम कितने महान् हो। फिर भी तुम जिन अपराधियों का जिक्र करते हो उन्हें कौन दण्ड देसकता है ! मनुष्य तो दे ही नहीं सकता पर देवता भी नहीं देसकते। ऐसे असम्भव कार्य की क्यों चिन्ता करते हो मेरे-लाल !

पिछली बात बोलते बोलते माताजी की आंखें गीली होगईं और उनका अंचल आंखें मसलने लगा।

माताजी की यह वेदना देखकर मेरा हृदय तिलमिलाने लगा। फिर भी मैंने धीरज से उत्तर दिया—

माताजी, सचमुच देवता वह कार्य नहीं कर सकते, क्योंकि देवता कृतकृत्य होते हैं, पर मनुष्य कृतकृत्य नहीं होता वह 'कर्तव्यकृत्य' होता है, कर्मठता ही उसका जीवन है, वह असम्भव को सम्भव कर सकता है। मैं जगत को जागूंगा और उसे बदल दूँगा।

मेरे ओजस्वी वाक्य सुनकर माताजी के चेहरे पर फिर तेज दिखाई देने लगा। उनने प्रसन्नता से मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा-अच्छा है बेटा, तुम जगद्विजयी बनो, चक्रवर्ती बनो ! दुनिया को जीतकर अनीति अन्याय सब दूर करदो ! यह उदासीनता छोड़ो।

मैंने कहा-मां, मैं इसीलिये तो उदासीन बना हूं। उदासीन बने बिना जगत को देख भी तो नहीं सकता।

माताजी मेरे मुंह की तरफ देखती रहगईं। मैंने कहा-ठीक ही कहता हूं मां! उदासीन का अर्थ है उत्-आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ। जो जितना ज्यादा उदासीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ है वह उतना ही अधिक देख सकता है। भूतल से जितने दूर का दिखाई देता है प्रासाद पर बैठकर देखने से उससे बहुत अधिक दिखाई देता है गिरिशृंग पर बैठने से उससे भी अधिक। जो जितना अधिक उदासीन वह उतना ही अधिक द्रष्टा।

माताजी मेरी बातें सुनकर चकित तो होगईं पर सन्तुष्ट न हुईं। उनने सन्देह के स्वर में पूछा-पर उदासीन होने से चक्रवर्ती कैसे बन सकोगे बेटा!

मैंने कहा-मुझे चक्रवर्ती बनने की जरूरत नहीं है मां, चक्रवती बनकर भी मैं उन अपराधियों को दण्ड नहीं देसकता जिनका उल्लेख अभी कर चुका हूं। रामचन्द्रजी चक्रवर्ती थे सम्राट् थे पर वे क्या कर सके? एक शूद्र के तपस्या करने पर उन्हें इच्छा न रहने पर भी उसका वध करना पड़ा। चक्रवर्ती लोगों के हृदयों पर शासन नहीं कर सकता, और हृदयपरिवर्तन तो उसके लिये असम्भव है। ऐसा चक्रवर्ती बनकर मैं क्या करूंगा?

माताजी फिर बेचैन हुईं पर वे ज्यादा कुछ न बोल सकीं, सिर्फ इतना ही कहा-तो फिर?

मैंने कहा-मुझे इसकेलिये बड़ी भारी साधना करना पड़ेगी मां, निष्क्रमण करना पड़ेगा, वर्षों तपस्या करना पड़ेगी, कल्याण का मार्ग बनाकर दुनिया को उसकी झांकी दिखाना पड़ेगी। एक महान् आध्यात्मिक जगत् की रचना करना पड़ेगी।

माताजी कातर स्वर में बोलीं-यह ठीक है बेटा, तुम! जगत् का कल्याण करोगे; उसका ताप हरोगे, पर क्या मां के

बारे में तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है ?

मैं-मैं इसे अस्वीकार नहीं करता माँ, पर आशा करता हूं तुम मुझे जगत्कल्याण के लिये समर्पित करने की उदारता दिखाओगी ? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है कि मेरे न रहने पर भी भाई नन्दीवर्धन तुम्हारी सेवा में किसी तरह की कोई कमी न रक्खेंगे ।

माताजी जरा उत्तेजित सी होगईं और बोलीं-हां ! हां ! कमी क्या होगी ? रोटी मिल ही जायगी, पेट भर ही जायगा। पर क्यों वर्धमान, क्या जीवन का सारा आनन्द पेट में ही रहता है ? मन से कोई सम्बन्ध नहीं ?

मैं-ऐसा तो मैं कैसे कह सकता हूं ? मन न भरे तो पेट भरने से क्या होगा ?

मां- तब क्या तुम सोचते हो कि जिसका जवान बेटा बिछुड़ जायगा उस मां का मन भरेगा ? अरे ! मन भरने की बात जाने दो, पर सुहाग तो नारी का सबसे बड़ा धन है पर जिसकी पुत्रवधू विधवा न होनेपर भी विधवा की तरह जीवन बितायगी वह किस मुँह से अपने सुहाग का अनुभव करेगी ? यशोदा मुंह से कुछ कहे या न कहे पर सामने आते ही अुसकी आंखें मुझसे पूछेंगी क्यों मां, इसी दिन के लिये तुमने मुझे अपनी पुत्रवधू बनाया था ? बोल तो बेटा, उस समय मैं अुसे क्या उत्तर दूंगी ? और कैसे उसे मुंह दिखा सकूंगी ?

मैं चुप रहा ।

मां ने फिर अत्यन्त करुण स्वर में कहा-तेरे जाने पर सारा जग उसकी हँसी उड़ायगा ? अुसके सुहागचिन्ह उसे पूछेंगे-अब हमारा बोझ किसलिये ?

अब तू ही बता, उसकी यह दुर्दशा देखकर मुझे कैसे तो नींद आयगी ! कैसे अन्न निगला जायगा ? आंसू बहाते बहाते आंखों के आंसू भी तो चुक जायंगे फिर इन सूखी और फटी आंखों से कैसे दुनिया देख सकूंगी ? क्या जीवन के अन्त में मुझे यही नरक यातना सहना पड़ेगी ? इसलिये बेटा ! तुझे करना हो सो कर ! आध्यात्मिक जगत् का महल खड़ा कर, पर वह सब मेरी चिता पर । मेरी चिता या मेरी लाश सब बोझ उठालेगी, पर इस बूढ़ी मां में इतनी शक्ति नहीं है बेटा ! मेरे जीवन भर तो तुझे घर में ही रहना पड़ेगा।

यह कहकर मां ने काफी जोर से मेरा हाथ पकड़ लिया मानों वे कोट्टपाल हों और मैं कैदी ।

फिर वे बोलीं—कहो ! कहो बेटा ! क्या इस बुढ़िया मां का कमजोर हाथ झकझोरना चाहते हो ?

अब मैं क्या कहता ? सांकल तोड़ सकता था, पर वात्सल्यमयी मां का हाथ छुड़ाने की शक्ति कहां से लाता ? मां का हाथ झकझोरने के लिये मनुष्यता का बलिदान चाहिये, पशुता का उन्माद चाहिये। वह मुझ में है नहीं, आ भी नहीं सकता। इसलिये मैंने कहा-तुम्हारे हाथ को झकझोरने की शक्ति मुझमें नहीं है मां, इसलिये मैं तुम्हें वचन देता हूं कि तुम्हारे जीवनभर में निष्क्रमण न करूंगा ।

मां ने झपटकर मुझे छाती से लगा लिया, मेरे सिर को बार बार चूमा और इसप्रकार फूट फूट कर रोने लगीं कि मानों मैं वर्षों से कहीं गुमा हुआ था और आज ही मिलगया हूं ।

इसप्रकार एक अनिश्चित काल के लिये निष्क्रमण रुक गया है । अब घर में ही अभ्यास करना है !

६ – अधूरी सान्त्वना

२४ जिन्नी ६४२८ इतिहास संवत्

आज जब मैं देवी के कक्ष में गया तो देखा कि देवी के मुखमण्डल की आभा कुछ बदली हुई है। हल्की सी निश्चिंतता का आनन्द उसपर छाया हुआ है। माता जी को जो मैंने वचन दिया है, उसके समाचार वहां उसी समय आगये होंगे। इसलिये देवी ने स्वागत किया तो सच्ची मुसकुराहट के साथ।

मैंने भी मुसकुराहट के साथ कहा–आखिर तुम जीतगईं देवि !

देवीने कहा– मैं क्या जीतती, मैं तो कभी की हार चुकी थी, जीत तो माताजी की हुई ?

मैंने कहा– हां, रथ माता जी का और बाण तुम्हारे।

देवी सिर नीचा किये मुसकुराती रही और अंगूठे से जमीन कुरेदती रही। तब मैंने कहा—अगर तुम माताजी के पास न जाती तो भी काम चलता।

मैं खड़ा था, देवी भी खड़ी थी, मेरी बात सुनते ही देवी मेरे पैरों से लिपट गई और करुण स्वर में बोली–अपराध क्षमा हो देव, नारी अपने सुहाग के लिये न जाने क्या क्या कर डालती है, फिर माताजी तो माताजी हैं, ऐसे अवसर पर उनकी शरण में जाने में मुझे क्या लाज आती ? मैं अपनी अन्तर्वेदना आपको कैसे दिखाऊं ? अगर हृदय चीर करके दिखाने की चीज होता तो मैं दिखा देती कि आपके मुंह से निष्क्रमण की बात

सुनने के बाद से उसमें कैसा हाहाकार मचा हुआ है !

यह कहते कहते उनके आंसुओं से मेरे पैर धुलने लगे।

मैंने कहा-माताजी के पास जाने का उलहना नहीं देरहा हूं देवि ! वह तो तुम्हारा अधिकार था और उचित भी था। मैं तो सिर्फ अपने मन की अधूरी बात का पूरा खुलासा कर देना चाहता हूँ।

यह कहते कहते मैंने देवी को उठाकर खड़ा किया। उनने अपना सिर मेरे वक्षःस्थल पर टिका दिया। मैंने अपने उत्तरीय से उनके आंसू पोंछे। क्षणभर शांत रहने के बाद मैंने कहा-मैं जो तीन दिन पहिले तुम से बात कहना चाहता था वह नहीं कह पाया था। उस दिन चर्चा अकस्मात् ही कहीं से कहीं जा पहुँची।

देवी ने कहा-उस दिन सचमुच चर्चा बेढंगी होगई, मैंने ही अपनी मूर्खता से एक अटपटा प्रश्न पूछ लिया।

मैं-प्रश्न तो अटपटा नहीं था पर न जाने क्यों बात कहीं से कहीं जा पहुँची। खैर ! अब कह देता हूं। यद्यपि अब मैं माताजी को वचन दे चुका हूँ पर अगर न भी देता तो भी जब तक तुम्हें मैं अपने निष्क्रमण की उपयोगिता न समझा देता तब तक निष्क्रमण न करता। हां, यह होसकता है कि धीरे धीरे मेरी मनोवृत्ति और दिनचर्या ऐसी बदल जाय कि शायद तुम्हारे लिये मेरा जीवन उपयोगी न रहजाय।

देवी कुछ देर सोचती रही, फिर बोली-आपका नित्य दर्शन ही मुझे पर्याप्त है देव ! आपका हाथ मेरे सिर पर रहे, आपके वक्षःस्थल पर कभी कभी सिर टिका सकूं इतनी भिक्षा की मैं भिक्षुणी हूँ। मैं जानती हूं कि आप सिर्फ एक राजकुमार ही नहीं हैं, एक राजकुमारी के पति ही नहीं हैं, किन्तु लोकोत्तर

महापुरुष हैं। ऐसे महान् लोकोत्तर महापुरुष की पत्नी के गौरव के योग्य मैं नहीं हूं। जब कभी मेरे दिलमें ये विचार आते हैं तब अपनी क्षुद्रता का खयाल कर मैं सिकुड़ जाती हूं। फिर भी आपकी पत्नी नहीं तो आपकी दासी का स्थान सुरक्षित रखना चाहती हूं।

यह कहकर देवी ने मुझे जोर से जकड़ लिया। उनके आंसुओं से मेरा वक्षःस्थल भींगने लगा।

आखिर आज भी बात अधूरी सी रही।

मैं सान्त्वना देकर चला आया।

७-संन्यास और कर्मयोग

७-बुधी ६४२८ इ. सं.

अब गर्मी ज्यादा पड़ने लगी है, इसलिये आज शय्या प्रासाद के छतपर लगाई गई थी, देवी की शय्या भी अनतिदूर थी। पश्चिम में लालिमा लुप्त होते ही म छतपर चला गया। सब लोग कामकाज में थे इसलिये छतपर एकान्त था और मैं एकान्त चाहता भी था। देवी ने तुरन्त सुपर्णा दासी को भेजा किन्तु मेंने ही उसे वापिस कर दिया। पर मेरे भाग्य में इस-समय एकांत बदा ही न था, थोड़ी देर में जीने पर किसी के चढने की फिर आवाज आई। मैंने कहा-कौन? सुपर्णा?

आवाज आई-सुपर्णा नहीं, विष्णुशर्मा।

और आवाज के साथ अधेड़ उम्र के एक सज्जन आते दिखाई दिये। पास आकर उनने अपने ही आप कहना शुरू किया-माता जी से मालूम हुआ कि आप बड़े तत्वज्ञानी ह, इस-लिये सोचा आपसे कुछ चर्चा करूं।

मैं- तो आप अभी माता जी के यहां से आरहे हैं?

वे- नहीं, माता जी तो कल मिली थीं। कल मेरे प्रवचन में वे पधारी थीं। प्रवचन के बाद ही उनने मुझे आप का परिचय दिया था और आपसे मिलने का अनुरोध भी किया था।

मैं- अनुरोध करते समय सिर्फ माता जी थीं और कोई नहीं था?

वे- नहीं, कुछ दासियाँ भी थीं और दोनों ओर उनकी दोनों पुत्रवधुएँ भी खड़ी थीं।

मैं- मेरी भाभी और यशोदा देवी?

वे- जी हां!

मैं-उनने कुछ नहीं कहा?

वे- सभी ने कहा। सभी की इच्छा थी कि मैं आप से मिलूं।

'हुं...' कहकर मैं कुछ देर चुप रहा। अभी अभी तक हम लोग खड़े ही थे। मैंने कहा—तब बैठिये! मैंने उन्हें आसन बताया, मैं भी एक आसन पर बैठ गया। बैठने पर मैंने पूछा- कल आपका प्रवचन किस विषय पर हुआ था?

वे बोले- विषय था योगभोग के समन्वय का, उसमें राजर्षि जनक और श्रीकृष्ण के उपाख्यान कहे गये थे।

मैं- बहुत ही अच्छा और उपयोगी विषय था।

वे- क्या आप कर्मयोग को मानते हैं?

मैंने कहा- मानता हूँ।

वे- पर मैंने तो सुना है कि आप संन्यास की तैयारी कर रहे हैं।

समझ तो मैं पहिले ही गया था कि शर्माजी क्यों आये

हैं ? जब उनके भेजने में यशोदा देवी और मातजी का हाथ था तब आने का उद्देश साफ ही था, पर जब उनने मेरे संन्यास की बात उठाई तब रहा सहा सन्देह भी दूर होगया। फिर भी मैंने अपना मनोभाव दबाते हुए कहा-कर्मयोग की साधना के लिये जिस संन्यास की जरूरत पड़ती है उसी संन्यास की तैयारी मैं कर रहा हूँ। जीवन की थकावट के बाद पैदा होनेवाले संन्यास की अथवा संसार में शान्तिपूर्वक रहने की असमर्थता से पैदा होनेवाले संन्यास की नहीं।

शर्मा-क्या आप मानते हैं कि संन्यास भी कर्मयोग की भूमिका बन सकता है ?

मैं-कर्मयोग ही नहीं हर एक कर्म की भूमिका संन्यास बन सकता है और प्रायः बनता है।

शर्मा-इस बात को कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजियेगा ?

मैं-गृहस्थाश्रम तो कर्म का मुख्य क्षेत्र है पर उसकी योग्यता प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्याश्रम बनाया गया है जिसमें संन्यासी सरीखी साधना करना पड़ती है। संन्यास में यही तो जरूरी है कि मनुष्य ब्रह्मचारी रहे, इन्द्रियों के भोगों की पर्वाह न करे, अपनी साधना को छोड़कर अन्य किसी से मोह न रक्खे जो कुछ विपदा आय उसे सह जाय। संन्यास के ये गुण मनुष्य को हर एक कर्मसाधना में प्राप्त करना पड़ते हैं; जीवन में उतारना पड़ते हैं, एक सैनिक को भी युद्ध में इन गुणों का परिचय देना पड़ता है। सुनते हैं कि विद्याधर लोग विद्यासिद्धि के लिये कठोर तपस्याएँ करते हैं। रावण वगैरह ने भी अपनी दिग्विजय के पहिले संन्यासियों का भी मात करनेवाली तपस्या की थी।

विष्णुशर्मा जरा उल्लास में आकर बोले-ठीक ! ठीक !! समझगया। आप विश्वविजय की तैयारी करना चाहते हैं।

मैंने कहा–हां !

शर्मा–बड़ी प्रसन्नता की बात है। पर दिग्विजय करने के बाद इस गरीब विष्णुशर्मा को न भूलियेगा।

मैं–सो तो न भूलूंगा पर मैं समझता हूँ कि मेरी दिग्विजय का फल चखने के लिये विष्णुशर्मा तैयार न होंगे।

शर्मा-ऐसा कौन मूर्ख होगा जो चक्रवर्ती की छत्रच्छाया से इनकार करदे।

मैं–पर धर्म चक्रवर्ती की छाया में रहने को विरले ही तैयार होते हैं।

शर्मा जी आश्चर्य से मुँह बाकर रहगये। थोड़ी देर स्तब्धता रही। फिर उनने कहा-क्या धर्म-चक्र के द्वारा आप दिग्विजय करना चाहते हैं ? पर इससे क्या लाभ ?

मैं–किसका लाभ ? मेरा या समाज का ?

शर्मा–आपका और समाज का भी। इसकाम में जीवन निकल जायगा पर सफलता न मिलेगी। जीवन भर कष्ट उठाते रहना पड़ेगा तब आप को क्या लाभ हुआ ! रही समाज की बात सो समाज तो कुत्ते की पूँछ की तरह है, वह कभी सीधी न होगी। देखिये न, वेद के निरर्थक क्रियाकांडों के विरोध में उपनिषत्कारों ने कैसे कैसे वाक्य लिखे, वेद को अपरा विद्या कह दिया, यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या कर डाली पर यज्ञकांड तनिक भी नहीं घटे। समाज रूढ़ियों का दास बना ही हुआ है और हम लोग भी उस दासता से नहीं छूट पाते, छूटें तो भूखों मर जायँ।

मैं—पर अगर आप भूखों मरने की हिम्मत कर सकते तो भूखों भी न मरना पड़ता, इस दासता से भी छूटते और समाज को भी छुड़ादेते।

शर्मा—पर स्त्री बच्चों का क्या होता ?

मैं- यह ठीक है, एक बैल दो गाड़ियों में एक साथ नहीं जुत सकता; और यही कारण है कि मुझे क्रांति के लिये गृहत्याग की तैयारी करना पड़ रही है। ऐसे संन्यास के लिये तैयार होना पड़ रहा है जो क्रांतिकारी कर्मयोग की भूमिका बनसके।

विष्णुशर्मा कुछ देर चुपरहे, फिर बोले-आपसे मैं बहुत बातें कहने, या कहने नहीं सिखाने, आया था, किन्तु आपकी बातें सुनकर वे सब भूलगया हूँ। सचमुच संन्यास को कर्मयोग की भूमिका बनाना या कर्मयोग को संन्यास का वेष पहिनाना एक अद्भुत आविष्कार है। हां ! मार्ग कठिन है। आप राजवंशी हैं इसलिये देखिये ! जनक और श्रीकृष्ण की राह पर चलकर आप क्रांति की तैयारी कर सकें तो चेष्टा कीजिये।

मैं—अुपनिषत्कारों का उल्लेख करके आप स्वयं कहचुके हैं कि अभी तक अुन्हें कोई सफलता नहीं मिली है। जनक और कृष्ण भी सेर में पौनी नहीं कात पाये थे। इसके लिये बड़े पैमाने पर नये ढंग के बलिदान की जरूरत है। अब पुराने चिथड़ों में थेगरा लगाने से काम न चलेगा, नया कपड़ा ही बुनना पड़ेगा।

शर्माजीने गहरी सांस ली और बोले-आशीर्वाद देने योग्य तो नहीं हूं किन्तु वय के मान से आपसे बड़ा हूं और उसी हैसियत से आप को आशीर्वाद देने का साहस करता हूं कि आप अपने प्रयत्न में सफल हों।

यह कहकर विष्णुशर्मा चले गये।

उनके जाते ही देवी आई, वे पास में ही छिपे छिपे सब

चर्चा सुन रही थी। आते ही उनने अपने चेहरे पर मुसकुराहट लाने की चेष्टा करते हुए कहा-आर्यपुत्र को बधाई!

मैंने पूछा-किस बात की?

देवी ने कहा-एक दिग्गज विद्वान को चुटकियों में परास्त करने की।

मैंने हँसते हुए कहा-यदि दिग्गज विद्वान् परास्त न हुआ होता, आर्यपुत्र परास्त हुआ होता तो किसे बधाई देतीं?

देवीने निःसंकोच-भाव से मुस्कुराते हुए तुरन्त कहा-तो अपन को।

मैंने मुसकुराहट को जरा बढ़ाकर कहा-वाहरे पति-प्रेम!

देवी बोलीं-पतिप्रेम है, इसीलिये तो!

मैं-इसीलिये तुम पतिका पराजय पसन्द करती हो?

देवी-अगर पराजय मिलन को स्थायी बना देनेवाला हो तो उसे पतिप्रेम की निशानी समझना चाहिये।

यह कहते कहते देवी मेरी गोद पर लेटगईं और फिर बोलीं—

मैं जानती हूँ कि आप बहुत ऊंचाई पर हैं पर न तो मुझ में उतनी ऊंचाई तक चढ़ने की ताकत है, न आपको दूर रखने की हिम्मत, इसीलिये आपको नीचे खींचने की धृष्टता करती रहती हूँ। इस धृष्टता के सिवाय मुझे कोई दूसरा उपाय ही नहीं सूझता।

पिछले वाक्य बोलते समय देवी का स्वर बदलगया, आवाज रुँधे गले से आई और मेरी जाँघपर एक आंसू भी टपका।

मैं देवी की पीठपर हाथ फेरने लगा।

८– सीता और ऊर्मिला के उपाख्यान

१८ टुंगी ६४२८ इतिहास संवत्

नगर में कई दिनों से रामलीला होरही है, घर के सब लोग रामलीला देखने जाते हैं, खासकर स्त्री वर्ग। मैं अभी तक नहीं गया। देवी ने एकाधिक वार अनुरोध किया पर मैं प्रेम से टालता रहा। इन खेल तमाशों में मेरी रुचि नहीं है। पर कल देवी का अनुरोध अत्यधिक था। इतना अधिक कि उनने कहा कि–यदि आप आज भी मेरे साथ रामलीला देखने न गये तो मैं जीवनभर कोई खेल न देखूँगी। उनके इस उग्र अनुरोध का कोई विशेष कारण होना चाहिये–इतना तो समझ गया था, पर वह क्या था ? यह वात तव न समझ पाया था; खेल देखते देखते समझ गया।

वात यह हुई कि कल राम के वनवासगमन का दृश्य दिखाया जानेवाला था। वास्तव में दृश्य करुण था। राज्याभिषेक होने के दिन ही राम को वनवास की तैयारी करना पड़ी। वनवास सिर्फ राम को दिया गया था, पर सीतादेवी ने साथ न छोड़ा. वन की विभीषिका उन्हें न डरा सकी, दाम्पत्य में नरनारी तादात्म्य कैसा होसकता है! इस का वड़ा ही मर्मस्पर्शी दृश्य था।

देवी मेरी वगल में कुछ सटकर ही बैठी थीं उनकी वगल में भाभी और माताजी थीं। कुछ अधिक कहने सुनने या इंगित करने का अवसर न था। पर जब सीतादेवी के अनुरोध या प्रेमहठ के आगे रामको हार मानना पड़ी, सीतादेवी को वन में अपने साथ रहने की अनुमति देना पड़ी तव देवी ने धीरे से मेरी जांघ में चिकोटी भरी।

तात्पर्य स्पष्ट था। देवी को यह निश्चय हो गया था कि आज नहीं तो कल मैं वनगमन करने वाला हूँ, इसलिये देवी की इच्छा है कि मैं उन्हें वन में साथ रक्खूँ। अगर राम की सीता-देवी राम के साथ वनवास सकती हैं तो वर्द्धमान की यशोदा देवी वर्द्धमान के साथ क्यों नहीं कर सकती? यही बात समझाने के लिये देवी अत्यधिक अनुरोध से मुझे रामलीला दिखाने लाई थी। राम के वनगमन में और वर्धमान के वनगमन में जो अन्तर है, उद्देश और परिस्थिति का जो भेद है, वह देवी के ध्यान में नहीं आरहा था! अस्तु।

रामलीला आगे बढ़ी। राम के साथ लक्ष्मण भी तैयार हुए राम ने बहुत मना किया पर लक्ष्मण न माने। लक्ष्मण का जोश खरोश, राजमहल के षड्यन्त्रों के प्रति घृणा, कैकई के नामपर दाँत पीसना, दशरथ के नमपर भी जली कटी सुनाना आदि लक्ष्मण का अभिनय बहुत सुन्दर बन पड़ा था। इस विषय में भी राम का प्रेमपराजय हुआ। उन्हें लक्ष्मण को साथ रखने की अनुमति देनी पड़ी।

इसमें सन्देह नहीं कि रामायण में लक्ष्मण का स्थान बहुत ऊँचा है। वे लक्ष्मण ही थे जिनने अपनी उदारता से बतलादिया था कि दो भाई मिलकर नरक को स्वर्ग बना सकते हैं, जंगल में भी मंगल कर सकते हैं।

इसके बाद वह परम करुण दृश्य आया जिसमें लक्ष्मण अपनी पत्नी उर्मिला देवी से विदा लेते हैं। लक्ष्मण ने राम की उन युक्तियों को नहीं दुहराया, जिन्हें सीता देवी ने राम के मुँह से सुनकर काटदिया था। उर्मिला देवी ने जब दावा किया कि मैं जीजी (सीतादेवी) से कम कष्टसहिष्णु नहीं हूँ। तब लक्ष्मण ने बड़े मर्मस्पर्शी तरीके से कहा—देवि! मैं तुम्हारी कष्टसहिष्णुता पर अविश्वास नहीं करता पर मुझे सेवा की जो

साधना करना है उसमें तुम मेरा सहयोग अलग रहकर ही कर सकती हो। भैया को वनवास के दिन पूरे करना है उनकी कोई विशेष साधना नहीं है, वे अपने दिन भाभीजी को साथ रखकर भी पूरे कर सकते हैं। पर मुझे तो भैया भाभी की सेवा करने की साधना करना है, उनको आराम से जंगल में भी नींद आये, इसलिये मुझे कोदण्ड चढ़ाये रात रात पहारा देना है, प्रत्येक असुविधा और संकट की राह में अपनी छाती अड़ा देना है। यह सब तुम्हारे साथ कैसे होगा? क्या तुम सोचती हो कि भैया भाभी को सुख की नींद आये-इसलिये मैं तुम्हें साथ लेकर पहरा दूँगा? क्या भैया भाभी एक क्षण के लिये भी इस बातको सहन कर सकेंगे? यह सब असम्भव है! असम्भवतम है!!

ऊर्मिला देवी नीची दृष्टि किये खड़ी रही। क्षणभर बाद लक्ष्मण ने फिर कहा-मैंने इस साधना को जो स्वेच्छा से अपनाया है, वह केवल इसलिये नहीं कि मैं भैया का भक्त हूँ किन्तु इसलिये कि मनुष्यता के ऊपर, न्याय के ऊपर, भगवान के ऊपर जो संकट आया है वह टलजाय, निर्विघ्न होजाय। मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अगर न्यायमूर्ति होने कारण वन वन भटकना पड़े और उस समय यह जगत् लक्ष्मण सरीखा एक तुच्छ सेवक भी उनकी सेवा में न रख सके तो मैं सच कहता हूँ देवि! विधाता के आंसुओं से यह जगत् बह जायगा, यह कृतघ्न जगत् सत्येश्वर के कोप से रसातल में चला जायगा सत्येश्वर को प्रसन्न रखने के लिये मुझे यह साधना करना ही चाहिये और जगत् के कल्याण के लिये तुम्हें भी मेरा वियोग सहना चाहिये।

ऊर्मिला की आंखों से आँसू बहने लगे। कठोर हृदय लक्ष्मण की आंखों में भी आंसू आगये। उनने उर्मिला को छाती से लगाकर कहा-मैं जानता हूँ देवि! कि मेरी साधना से तुम्हारी साधना कितनी कठिन है! मेरे तो सेवा करते करते बारह वर्ष

Q J3

यों ही निकल जायँगे पर तुम्हें एक युग का प्रत्येक क्षण गिन गिनकर निकालना है। फिर भी दुनिया मेरी तपस्या देखेगी और तुम्हारी तपस्या न देखेगी नीचे के पत्थर पर मन्दिर खड़ा होता है पर अुसे कौन दखता है ?

इतना कहकर लक्ष्मण ने ऊर्मिला के आंसू पोंछे, ऊर्मिला ने गद्गद् स्वर में कहा-जाओ देव-जाओ ! सत्य और न्याय के सिंहासन को सुरक्षित रखने के लिये जंगल में साधना करो ! तुम्हारी कर्तव्यनिष्ठा तुम्हें राज-मन्दिर में नहीं रहने देना चाहती तो भले ही न रहने दे, पर मेरे हृदय मन्दिर से निकालने की शक्ति किसी में नहीं है; विधाता में भी नहीं !

लक्ष्मण ने कहा-देवि, तुम्हारी इस तपस्या को कोई पहिचाने या न पहिचाने पर एक हृदय जरूर ऐसा है जो तुम्हारी इस साधना का मूल्य आंकने में कपर्दिका की भी भूल न करेगा।

इतना कहकर धीरे धीरे लक्ष्मण विदा होगये। उनके विदा होते ही ऊर्मिला मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

इसमें सन्देह नहीं कि लक्ष्मण और ऊर्मिला का अभिनय अत्यन्त स्वाभाविक और कलापूर्ण था, उसने सारी सभा को स्तब्ध बनादिया था। पर रंग मंच पर तो केवल अभिनय था, जब कि मेरे ही बगल में वह अभिनय वास्तविकता में परिणत होगया ! मंच पर से लक्ष्मण के विदा होते ही यशोदा देवी कांपने लगी और थोड़ी देर में उनका शरीर पसीना-पसीना हो गया। मैं उन्हें सम्हालूं-इसके पहिले ही वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ीं।

मैंने और भाभी ने झपटकर अुन्हें उठा लिया। सभा उठ खड़ी हुई। भीड़ ने हम सब को घेर लिया। किसी तरह

भीड़ को हटाकर देवी को राजमन्दिर में लाया गया। वहां शीतलोपचार करने पर उन्हें होश आगया। होश आते ही उनकी नजर मुझपर पड़ी और व मुझसे लिपटकर फूटफूटकर रोने लगीं। यह अच्छा हुआ, उनकी जीवनरक्षा के लिये इस प्रकार रोना जरूरी था। अन्यथा दबी हुई वेदना आंखों के द्वार से न निकलती, हृदय का विस्फोट कर निकलती।

देवी के आंसुओं से मैं अपना उत्तरीय पवित्र करता रहा।

९— नारी की साधना

५ धनी ६४२६ इ. संवत्.

करीब एक वर्ष से निष्क्रमण का नाम भी मैं मुंहपर नहीं लाया हूं। गतवर्ष रामलीला में जब देवी मूर्च्छित हुई, तब से यही ठीक समझा कि निष्क्रमण से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी बात न निकले, फिर भी देवी निश्चिंत नहीं है। हां ! प्रसन्नता प्रदर्शन करने की पूरी चेष्टा करती रहती है, पर आज देवी के कारण ही कुछ चर्चा छिड़पड़ी।

प्रियदर्शना अब काफी होश्यार होगई है। वह छः वर्ष की होचुकी है, उसका आज सातवां जन्मदिन था। इसलिये आज उसे विशेष रूप में नये कपड़े पहिनाये गये थे, भोजन भी कुछ विशेष बनाया गया था। एक छोटा सा घरू उत्सव मनाया गया था। भोजनोपरान्त देवी प्रियदर्शना को लेकर मेरे कक्ष म आई और मुझे लक्ष्य कर प्रियदर्शना से कहा—अपने पिता जी को प्रणाम कर बेटी ! और वर मांग कि तेरा संसार सुखमय बने।

मैंने कहा—इसका संसार ही क्या सब का संसार सुखमय बने—इसलिये आशीर्वाद देता हूं कि यह जगदुद्धारिणी बने।

देवीन हसते हुए कहा—पर इतने लम्बे चौड़े आशीर्वाद

का बोझ यह उठा भी सकेगी? एक छोटा सा वचन क्यों नहीं देदेते कि इसे आप अच्छा सा वर ढूंढ़ देंगे।

मैं- इसके लिये वचन देने की क्या जरूरत है यह तो आवश्यक कर्तव्य है जो उसका पिता न कर पायगा तो माता करेगी।

देवी-माता क्यों करेगी? पिता का कर्तव्य पिता ही को करना पड़ेगा। सन्तान के प्रति नारी का दायित्व जितना है नर का दायित्व उससे कम नहीं है।

मैं- नर तो निमित्तमात्र है, सारी साधना नारी की है। साधारण प्राणिजगत में सन्तान ने पिता को कब पहिचाना? माता ही वहां सन्तान के लिये सब कुछ है।

देवी- पर मनुष्य तो साधारण प्राणिजगत के समान नहीं है।

मैं-नहीं है। फिर भी यहां लोकोक्ति प्रचलित है कि सौ पिता के बराबर एक माता होती है। यह अतथ्य नहीं है। नारी का जो यह शतगुणा मूल्य है उसका कारण सन्तान के प्रति उसकी शतगुणी साधना ही तो है।

देवी- पर इसका मतलब तो यही है कि प्रकृति ने अन्य जाति की मादाओं पर साधना का जो बोझ डाला है वह मानवी नारी पर भी डाला है। इस दृष्टि से मानवी का भी माता के रूप में सौ गुणा मूल्य है, पर प्रकृति-प्रदत्त इस साधना से तो सिर्फ प्राणी का निर्माण होपाता है, मानव का नहीं। मानव का निर्माण तो तभी होता है, जब नारी की साधना में नर भी कन्धा से कन्धा भिड़ाकर बढ़ता चलता है। पशु के बच्चे की अपेक्षा मनुष्य के बच्चे का जो असंख्य गुणा विकास होता है, उसमें नारी की साधना की अपेक्षा नर की साधना का ही विशेष अंश है।

मैं-बहुत ठीक कहा तुमने। उसी विशेष अंश को पूरा करने के लिये ही तो मुझे निष्क्रमण करना है। आज मनुष्य के बच्चे का विकास रुकगया है अथवा वह पशुता या दानवता की ओर मुड़ पड़ा है, नारी अपनी साधना का काम पूरा कर रही है पर नर अपनी साधना के काम में पिछड़ गया है, उसे अपना काम पूरा करने के लिये काफी तपस्या करना है।

निष्क्रमण की बात सुनकर देवी का मुखमण्डल फीका पड़गया। बड़ी कठिनाई से उनने धीरज सम्हालते हुए कहा-अगर नर की साधना का काम बाकी पड़ा है और नारी अपनी साधना का काम पूरा कर रही है तो नारी का यह कर्तव्य होजाता है कि नर की साधना में हाथ बटाये।

मैं- अवश्य ! इसीलिये तो मैंने प्रियदर्शना को जगदुद्धारिणी होने का आशीर्वाद दिया था। फिर भी साधारणतः इस बात का तो ध्यान रखना ही पड़ेगा कि नारी अपनी साधना का काम पूरा करके ही नर की साधना में हाथ बटा सकती है। विशेषतः वह अपनी साधना अधूरी तो नहीं छोड़ सकती। उसकी साधना अधूरी रही तो नर की साधना का काम भी रुक जायगा। नारी अगर कपड़ा न बुनेगी तो नर रंगेगा किसे ?

देवी-इसका तो मतलब यह हुआ कि मानवता की विशेष साधना का अवसर नारी को कभी मिल ही नहीं सकता।

मैं-हां ! आजकल कठिनता से मिलता है, पर मैं चाहता हूँ कि मानवता की विशेष साधना का अवसर नारी को भी मिले। ऋषित्व, मुनित्व, तीर्थंकरत्व और मुक्ति नर की ही बपौती न रहे। वास्तव में नर नारी का अधिकार समान है और मौलिक योग्यता में भी कोई अन्तर नहीं है। पर विशेष साधना का काम नारी तभी

कर सकती है जब सामान्य साधना का काम पूरा कर लिया जाय या प्रारम्भ से ही विशेष साधना की तरफ बढ़ा जाय।

देवी–सामान्य साधना का काम पूरा करके तो विशेष साधना की तरफ क्या बढ़ा जायगा ? आपने ही तो उस दिन विष्णुशर्मा से कहा था कि जीवन की थकावट से पैदा होनेवाले संन्यास को आप नहीं चाहते।

मैं-यह भी ठीक है। पर ऐसे भी मानव हो सकते हैं जो सामान्य साधना का काम पूरा करके भी न थकें। तन के वृद्ध होनेपर भी वे मन के युवा रहें।

देवी-पर यह हर एक के वश की बात नहीं है।

मैं–पर यह हर एक के वश की बात है कि वह विशेष साधना के लिये मानव निर्माण करके दे दे। तुम प्रियदर्शना का निर्माण करते करते अगर थकजाओ तो भी तुम उसे विशेष साधना के योग्य तो बना ही सकती हो। तुम्हारी इस साधना का मूल्य कुछ कम न होगा, विशेषतः उस अवस्था में जब कि मेरी सामान्य साधना का बोझ भी तुम अपने ऊपर लेलो।

अभी तक प्रियदर्शना बारी बारी से हम दोनों के मुँह की तरफ देखती थी जब मैं बोलता था तब मेरी तरफ और जब देवी बोलती थीं तब देवी की तरफ। वह बच्ची गम्भीर चर्चा तो क्या समझती पर मुखमुद्रा को पढ़ने की चेष्टा अवश्य करती थी। मेरी बात सुनकर जब देवी के मुखमण्डल पर चिंता छागई तब उसने माता की वेदना को पढ़ा और वह देवी के गले में हाथ डालकर छाती से चिपट गई।

देवी ने भी उसके कपोल चूमकर उसे दोनों हाथों से जकड़ लिया।

नारी की साधना वात्सल्य के कारण कितनी रसमयी है इसकी झांकी मां बेटी के आलिंगन में दिखाई दे रही थी।

१०— सर्वज्ञता की सामग्री

१९ इंगा ९४३० इतिहास संवत्

समाज में क्रांति करने के लिये तथा जगत को इसी जन्म में मोक्ष सुख का अनुभव कराने के लिये वर्षों से मैं निष्क्रमण का विचार कर रहा हूँ। पर देवी के अनुरोध के कारण मुझे अपनी इच्छा को दबाना पड़ा है। यह ठीक है कि निष्क्रमण की अत्यन्त आवश्यकता है पर देवी का अनुरोध भी न्यायोचित है। इसलिये सच तो यह है कि मुझे विवाह ही नहीं करना चाहिये था पर जब कर लिया तब असमयमें उनके सिर पर सौभाग्यवेषी वैधव्य लादना उचित नहीं है। जब तक वे इस त्याग का मर्म न समझ जायँ तब तक मैं बन्धनमुक्त नहीं होसकता।

पर मैंने इस बन्धन के समय का भी काफी सदुपयोग किया है। साधु संन्यासी तो इने गिने व्यक्ति ही बनपाते हैं, उनका जीवन सुधारना या मोक्षसुख का अनुभव कराना कठिन नहीं है पर अगर गृहस्थों का जीवन न सुधारा गया तो तीर्थ रचना का वास्तविक प्रयोजन ही नष्ट होगया। संसार तो मुख्यता से गृहस्थों का ही रहेगा, और साधु भी गृहस्थों के सहारे टिकेगा। ऐसी अवस्था में गृहस्थों की उपेक्षा नहीं की जासकती। मुझे उनकी अवस्था को समझना होगा। उनकी परिस्थिति के अनुसार उन्हें धर्म का मार्ग बताना होगा। पर यह सब तभी होसकता है जब मैं भीतर से उनकी कठिनाइयों और परिस्थितियों को समझूँ।

यद्यपि देवी के अनुरोध से मुझे रुकना पड़ा है पर उस रुकने ने भी काफी लाभ पहुँचाया है। इन दिनों मुझे कौटुम्बिक जीवन की कठिनाइयों और उलझनों को समझने के काफी अवसर मिले हैं। खैर! मेरे घर में तो इतनी उलझनें नहीं हैं क्योंकि

सब सुसंस्कारी व्यक्ति हैं और अभाव का वह कष्ट नहीं है जिसके कारण मनुष्य दुराचारी नीतिभ्रष्ट होजाता है। फिर भी मुझे साधारण जनता को समझने और उनकी समस्या को सुलझाने के अवसर मिले हैं। घर के भीतर के ये अनुभव सम्भवतः निष्क्रमण के बाद न मिलपाते।

मेरा काम श्रुतज्ञान से नहीं चल सकता। क्योंकि श्रुति-स्मृति सब पुरानी और निरर्थक होगई है। वे अपना काम अपने युग में कर चुकीं। मुझे तो प्रत्यक्षदर्शी बनना है, अनुभव के आधार से सत्य की खोज करना है, नये तीर्थ की रचना करना है, नया श्रुत बनाना है। मेरे अनुयायी मेरे बनाये श्रुतज्ञान से काम चला सकेंगे। क्योंकि मेरा श्रुत आजके अनुभवों के आधार से होगा। और कई पीढ़ी तक काम देगा। पर मैं पुराने श्रुतसे काम नहीं चला सकता, क्योंकि वह युगबाह्य होगया है।

पर मेरे अनुभव जितने विशाल होंगे मेरे श्रुत की उपयोगिता भी उतनी विशाल होगी। अहिंसा सत्य आदि का नाम लेने से या उसके गीत गाने से कुछ लाभ नहीं। जानना तो यह है कि इनके पालन के मार्ग में बाधाएँ क्या हैं, मानव-स्वभाव और सामाजिक परिस्थितियाँ मनुष्यको कितने अंश में अहिंसा सत्य से भ्रष्ट होने के लिये प्रेरित करती हैं, कितने अंश में उनपर विजय पाई जासकती है, या अहिंसा सत्य को व्यावहारिक बनाया जासकता है—इसके लिये बाह्याचार को क्या रूप देना चाहिये? आचार का श्रेणी विभाग किस तरह करना चाहिये?

ये सब बातें आज किसी पुराने श्रुत से नहीं जानी जासकती, ये तो चलते-फिरते संसार से ही जानी जासकतीं हैं। और घर में रहते मैं जान भी रहा हूँ। घर छोड़ने पर अनुभव तो होंगे पर घरू अनुभव जो घर में होरहे हैं वे वन में न होंगे। इसलिये देवी का मुझे रोकना भी एक तरह से सार्थक होरहा है।

और अब तो मैं घर की प्रत्येक घटना का सूक्ष्म निरीक्षण करता हूँ उसका विश्लेषण करता हूँ। प्रसाद पर खड़ा खड़ा पथिकों की चेष्टाओं और उनके आपसी संघर्षों पर दृष्टि रखता हूँ, उनके कलह प्रेम-सहयोग की बातें सुनता हूँ। इससे मानव प्रकृति का काफी गहरा अनुभव होरहा है। आज सोचता हूँ कि अगर मैंने इन अनुभवों का संग्रह न किया होता और शीघ्र ही निष्क्रमण कर लिया होता तो मैं जगत् का वैद्य बनने के लिये बहुत अयोग्य होता।

यह ठीक है कि केवल इन्हीं अनुभवों से काम न चलेगा, गृहत्याग के बाद भी मुझे बहुत अनुभव करना पड़ेंगे। और उन अनुभवों का निष्कर्ष निकालकर उसे वितरण करने के लिये एक पूरी सेना लगेगी इसलिये निष्क्रमण जरूरी है, पर आज जो अनुभवों का संग्रह होरहा है वह भी जरूरी है। इसे भी सर्वज्ञता की सामग्री कहना चाहिये।

११- पितृवियोग

४ चिंगा ६४३० इतिहास संवत्

एक सप्ताह से पिताजी की तबियत बहुत खराब थी। माताजी ने तो अहर्निश सेवा की, चिन्ता और जागरण से उनका स्वास्थ्य लथड़ गया मैं भी सेवा में उपस्थित रहा, राज्य में जितने अच्छे वैद्य मिलसकते थे उतने अच्छे वैद्य बुलाये गये पर कुछ लाभ न हुआ और आज तीसरे पहर उनका देहान्त होगया।

मृत्यु का दृश्य देखने का यह पहिला ही प्रसंग था। मृत्यु! ओह! कितना भयंकर और कितना मर्मभेदी दृश्य! पर जितना भयंकर उतना ही अनिवार्य और उतना ही आवश्यक भी। मृत्यु न हो तो जन्म भी न हो, कर्म करने के लिये नया क्षेत्र भी न मिले। सारे पुरखों के लिये घर में जगह रह भी नहीं

सकती और सब रहें तो प्रेम आदर स्नेह नहीं रह सकता। वियोग ही स्नेह का सब से बड़ा उद्दीपक है। यह सब जानते हुए भी पिताजी के वियोग से मैं विपण्ण होगया। पता नहीं मेरी विपण्णता कितनी गहरी और स्थायी होती किन्तु माता जी की विह्वलता ने मेरी विपण्णता को भुलादिया। मुझे और सब कुटुम्बियों को पिताजी के वियोग का विषाद भूलकर माता जी को सम्हालने में लगजाना पड़ा। सब लोग तो रोरहे थे पर माता जी की आंखों से न ता आंसू की बूँद निकलती थी न कोई चिल्लाहट, वे कुछ विक्षिप्त सी दिखाई दीं और फिर मूर्च्छित होगई। पिता जी के मृत शरीर को अन्तिम संस्कार के लिये लेजाते समय माता जी को सम्हालना बड़ा मुश्किल होगया था।

यह संसार का नाटक कितना गहरा है। खिलाड़ी भूल जाता है कि यह नाटक है। मृत्युपर्यन्त उसकी इस भूल में सुधार नहीं होता।

१२– मातृवियोग.

१७ चिंगा ४४३० इतिहास संवत्

सब लोग पिताजी के वियोग के शोक में डूबे थे फिर भी साधारण रिवाज से अधिक शोक प्रदर्शन का कोई काम न कर सके। बल्कि हम सब के शोक की जगह तो माता जी की चिन्ता ने लेली। सब का शोक घनीभूत होकर माता जी के हृदय में जा बैठा। पिता जी के वियोग के बाद वे रुग्ण शय्या पर ही रहीं, वह रुग्ण शय्या भी आखिर मृत्युशय्या ही सिद्ध हुई। आज सबेरे सूर्योदय के पहिले उनका देहान्त होगया।

इन बारह तेरह दिनों में देवी ने जो माता जी की सेवा की वह असाधारण थी। माता जी ने पिता जी की जो असाधारण सेवा की थी देवी ने माता जी की सेवा करने में उससे भी

अति कर दी। मैं उन्हें खाते पीते या सोते नहीं देख सका। पलंग की पाटी से सिर टिकाकर थोड़ा बहुत वे सो लेती होंगी, और वहीं बैठे बैठे वे थोड़ा बहुत कुछ पीलेती होंगी, सबने उन्हें रातदिन पलंग के आसपास ही पाया।

माताजी अपनी शोक विह्वलता के कारण किसीसे बोलती चालतीं नहीं थीं। पर देवी अपनी तपस्यासे उनका मौन व्रत भी भंग करती रहती थीं। माता जी को बार बार कहना पड़ता था-बेटी, तू यहीं क्यों बैठी है? जाकर तनिक आरामसे सो जा! खापीले, सभी लोग तो सेवा करने के लिये हैं, और फिर सेवा की इतनी जरूरत क्या है? मुझे बीमारी ही कौनसी है? दुर्बलता है, सो वह किसी न किसी तरह निकल ही जायगी।

इस 'किसी न किसी तरह' का अर्थ किसी की समझ में आता हो चाहे न आता हो पर देवी की समझमें अच्छी तरह आता था। पर वे कुछ न कहकर आंसुओं से अपने कपोल धोने लगतीं थीं जिसके उत्तर में माता जी की आंखें भी छलछला आती थीं।

उस समय अगर मैं सामने होता था तो माता जी की आंखें मेरी तरफ टकटकी बांध लेती थीं, अगर इस अवसर पर मेरी दृष्टि माता जी की दृष्टि से मिलगई है तो मुझे अपनी दृष्टि नाची कर लेना पड़ी है।

उनने मुँह से कुछ नहीं कहा, पर उनकी आंखें कहने लगती थीं-वर्द्धमान, तुमने मुझे दिया हुआ वचन पूरा किया है, फिर भी बहू की सूरत देखकर मैं बेचैन हूं। अब तुमसे कुछ भी कहने का मुझे अधिकार नहीं है, फिरभी बहू का मुंह देखने का अनुरोध तुमसे करती हूँ।

इसके उत्तर में मेरी आंखों ने क्या कहा, वह माताजी तो क्या स्वयं मेरी समझ में भी नहीं आया। माताजी के अनुरोध का मेरे लिये मूल्य था, देवी के अधिकार का भी मेरे लिये मूल्य था, पर इस जगत के अधिकार का मूल्य ? शिवकेशिनियों के अधिकार का मूल्य ? तड़पते हुए लाखों पशुओं के आंसुओं का मूल्य ? उनकी चिल्लाहट का मूल्य ? अन्धविश्वास में फँसे हुए मानव जगत की मौन पुकार का मूल्य ? स्वर्ग की सामग्री से नरक का निर्माण करनेवाले मूढ़ मानव-जगत को सुपथ में ले जाने के लिये सत्य की पुकार का मूल्य ? इन सब महामूल्यों का उत्तर मेरे पास कुछ न था। यही कारण है कि माताजी की दृष्टि से अपनी दृष्टि न मिला सका।

माताजी चली गईं। वात्सल्य की सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुन्दर प्रतिमा टूट गई। मेरे विरागी हृदय में भी थोड़ी देर के लिये हाहाकार मचगया।

आज दिन में कई वार भूला हूँ। वार वार पैर माताजी के कक्ष की ओर बढ़े हैं और फिर प्रयत्न-पूर्वक याद करके चौंकना पड़ा है-अरे ! माताजी तो हैं ही नहीं, मैंने ही तो उनके शरीर का दाह संस्कार किया है।

जीवनकी आन्तरिक रचना भी कितनी जटिल है। भावनाओं के पूर में बुद्धि और विवेक के निर्णय तो वह ही जाते हैं, पर आंखों देखी बात के संस्कार भी कुछ समय को लुप्त होजाते हैं। यही कारण है कि मेरे पैरों ने मुझे कई वार धोखा दिया है और मेरी सूखी आंखें भी आज बरसातकी वापी बनी हुई हैं।

१३- भाई जी का अनुरोध

६ चन्नी ९४३० इ. सं.

करीब दो सप्ताह तक घरमें काफी भीड़ रही। जिन लोगों को पिता जी के स्वर्गवास के समाचार मिले थे वे सहानुभूति प्रगट करने आये पर बहुतों के आने के पहिले तो माताजी का भी देहान्त होगया इसलिये उन्हें कुछ दिन और रुकना पड़ा। हमारे दुहरे दुःख के कारण उनकी सहानुभूति भी दुहरी हुई। चेटक राजा तो न जाने कितनी बार सहानुभूति प्रगट करते थे। वे बार बार गहरी सांस लेकर कहते थे त्रिशला मुझसे पहिले ही चली जायगी इसकी किसे आशा थी। वह सच्ची सती थी। सिद्धार्थ के पीछे ही चलीगई। उन दोनों का प्रेम इन्द्र और शची से भी बढ़कर था।

मेरे ऊपर तो उनका अटूट वात्सल्य मालूम होता था। अगर मैं जरा छोटा होता तो शायद वे मुझे गोद में ले लेकर घूमते। बार बार कहते-तुम्हारे चेहरे में मुझे त्रिशला का चेहरा दिखाई देता है। तुम्ही तो मेरे आश्वासन हो।

उनकी सहानुभूति तथा अन्य ज्ञातृजनों के स्नेह के कारण मुझे एकान्त मिलना दुर्लभ हो गया था, फिर भी मुझे एकांत निकालना पड़ता था। खासकर देवी के लिये।

यद्यपि मामीजी देवी का बहुत दुलार करती थीं। फिर भी देवी की वेदना को वे न समझ सकती थीं। सास के मरने पर किसी बहू को जितना दुःख होसकता है उससे अधिक दुःख की कल्पना उन्हें नहीं थी उसी के अनुपात में वे सहानुभूति प्रगट करती थीं पर बाकी पूर्ति मुझे करना पड़ती थी। परिस्थिति ने शोक की मानों अदलाबदली कर दी थी। माताजी मरी थीं मेरी, देवी की तो सासूजी मरी थी, पर मुझे व्यवहार ऐसा

करना पड़ता था मानों मेरी सासूजी मरी हों और देवी की मातजी मरी हों। रात में तथा समय निकाल कर दिन में भी मुझे देवी को सान्त्वना देने का काम करना पड़ता था।

मेरे पास से जो समय बचता, वह देवी भाभीजी के पास वितातीं। ऐसा भी मालूम हुआ कि वे भाभी के सामने दो चार बार भैया से भी कुछ कह चुकी हैं। भैया के मुंह से निकले हुए ये शब्द तो एक बार मेरे भी कान में पड़गये थे कि ' मैं क्या पागल हूं, ऐसा कैसे होने दूंगा। ,,

आज शाम को भाईजी से कुछ चर्चा होगई। मैंने कहा-भाईजी! आपको मालूम है कि मेरी रुचि गृह संसार में नहीं है. आपके काम में भी कोई सहायता नहीं कर पाता हूं जो काम मेरे करने के लिये पड़ा है असके लिये निष्क्रमण करना जरूरी है। मैं सोच रहा हूं कि अगले महीने में........।

मैं बात पूरी भी न कर पाया कि भाईजी ने मेरे मुंह पर हाथ रख दिया और बोले-बस! बस! भैया, बहुत कठोर मत बनो। मैं मानता हूं कि तुम बड़े ज्ञानी हो. महात्मा हो, तुम्हारा अवतार घर गृहस्थी की छोटी झंझटों में बर्बाद होने के लिये नहीं हुआ है। तुम धर्म चक्रवर्ती तीर्थंकर बनने वाले हो, तुम सारे संसार के लिये दया के अवतार हो, पर सारे संसार पर दया करने के पहिले अपने इस दुखी भाई पर भी दया करो। एक ही महिने में पिताजी और माताजी का वियोग हुआ। सिर पर से उनकी छाया क्या हटी, मानों घर का छप्पर ही उड़गया। यों ही सूना सूना घर मुझे खाये जारहा है, अब अगर तुम भी इसी समय चले गये तब तो मुझे पागल होकर घर छोड़ देना पड़ेगा।

भाईजी ने अपनी बात ऐसे व्यवस्थित ढंग से कही मानों उसकी तैयारी उनने पहिले कर रक्खी हो। उनका तर्क

बलवान था। फिर भी मैंने कहा-भाईजी! माता पिता के वियोग का शोक होना स्वाभाविक है फिर भी उनने हमें असमर्थ बनाकर नहीं छोड़ा है। पाल पोसकर बड़ा किया है और इतना बड़ा किया है कि कर्तव्य का बोझ हम अच्छी तरह से उठा सकें। आप अपना बोझ उठा ही रहे हैं, मुझे भी अपना बोझ उठाने दीजिये। घर गृहस्थी के काम में ऐसी झंझटें नहीं हैं कि आप उन्हें सहन न कर सकें।

भाईजी ने कहा-तुम ठीक कहते हो भैया! मैं घर गृहस्थी की सारी झंझटें सहन कर सकता हूं। पर तुम्हारे चले जानेपर यशोदा देवी के कक्ष से जो आहें निकलेंगीं उनको सहन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। माताजी होतीं तो वे सब सहन कर जातीं पर आज वे भी नहीं हैं। ऐसी अवस्था में मैं तुमसे प्रार्थना करता हूं कि जैसे माताजी के अनुरोध से तुम इतने दिन रुके, कमसे कम एक वर्ष मेरे लिये भी रुको।

मैं चुप रहा।

भाईजी ने इसे मेरी स्वीकारता समझी, इसलिये वे प्रसन्नता प्रगट करते हुए बोले—बस! एक वर्ष, मेरे लिये केवल एक वर्ष।

मैंने मन ही मन कहा-आपके लिये नहीं, आपके नामपर यशोदा देवी के लिये, यह केवल एक वर्ष नहीं है किन्तु एक वर्ष और है।

१४ — गृह तपस्या

२६—चन्नी ६४३० इतिहास संवत्

भाई साहब ने जो मुझसे एक वर्ष रुकने का अनुरोध किया उसमें उनकी इच्छा से भी अधिक देवी की इच्छा थी और इस घटना में देवी का ही मुख्य हाथ था, यह सब जानते

हुए भी मैंने इस बारे में देवी से एक शब्द भी नहीं कहा। वे जो करती हैं वह बिलकुल स्वाभाविक है, इसलिये इस बात का उल्लेख करके उन्हें लज्जित करने से क्या लाभ? फिर भी मेरी दिनचर्या बदल गई है। अब मैं दिन में और रात में घण्टों खड़े खड़े ध्यान लगाता हूँ। आज कल सर्वरस भोजन कभी नहीं करता, कभी लवण नहीं लेता तो कभी घी नहीं लेता। कभी गुड़ नहीं, तो कभी खट्टी चीज नहीं, कभी मिर्च नहीं, इस तरह जिह्वा को जीतने का मैं अभ्यास कर रहा हूं। कभी कभी काठ शय्या पर सोता हूं जिसपर किसी तरह का तूल या वस्त्र नहीं होता। यद्यपि इन दिनों काफी ठंड पड़ती है फिर भी अनेक बार मैं रातभर उघड़ा पड़ा रहा हूं। उपवास भी करता हूं, अधपेट भी रहता हूं।

देवी इन सब बातों को देखकर बहुत विषण्ण रहती हैं भयवश कुछ कह नहीं पातीं, पर उनके मनकी अशान्ति उनके चेहरे पर खूब पढ़ी जासकती है।

मैं पढ़ता रहा हूं, पर मैंने भी स्वयं छेड़ना ठीक नहीं समझा। हां, वे भी इतना करती हैं कि जिस दिन जो रस मैं नहीं खाता वह रस उस दिन वे भी नहीं लेती। मेरी इच्छा हुई कि उन्हें इसप्रकार अनुकरण करने से रोकूँ क्योंकि मैं यह साधना किसी उद्देश से कर रहा हूँ जब कि उनके द्वारा इस साधना का अनुकरण केवल मोह का परिणाम है, इसलिये निष्फल है। फिर भी मैंने रोका नहीं, भय था कि रुका हुआ बांध फूट न पड़े। पर आज तीसरे पहर वे मेरे पास आईं और मेरी गोद में सिर रखकर फूट फूट कर रोने लगीं, रुका हुआ बांध भरजाने से आप से आप फूट कर बहने लगा।

थोड़ी देर मैंने कुछ न कहा, स्नेह के साथ उनकी पीठ पर हाथ फेरता रहा और वे मेरी गोद में आंसू बरसाती रहीं।

रुलाई का पूर कुछ कम होने पर मैंने स्नेहपूर्ण स्वर में कहा–देवी क्या तुम समझती हो कि मैं तुमसे रुष्ट हूँ ?

देवी ने सिर उठाया। उनकी आंखें आंसुओं से भरी हुई थीं। कुछ क्षण उनने गला साफ करने की, चेष्टा की पर गला भरा ही रहा। तब वे रुंधे गले से ही बोलीं–आप महान हैं, आपको समझने की शक्ति मुझमें नहीं है, इसलिये नहीं कह सकती कि आप रुष्ट हैं कि नहीं ? फिर भी इतना जानती हूं कि आपको रुष्ट होने का अधिकार है। मैंने आपकी साधना में कभी हाथ नहीं बटाया। जानती हूँ कि आपका मन किधर है, फिर भी उस दिशा में बढ़ने से मैंने आपको पीछे की ओर ही खींचा है, आपकी साधना के मार्ग में कंटीली झाड़ीसी बनकर खड़ी होगई हूँ और उसीका भयंकर और असह्य दण्ड मुझे आपकी ओर से मिल रहा है।

मैंने कहा–भूलती हो देवि ! मेरी साधना से तुम्हें वेदना पहुंच रही है, इतना मैं समझता हूं। पर मैं तुम्हें दण्ड दे रहा हूं यह तुम्हारा भ्रम है। मेरी साधना संसार पर अहिंसा की है, दया की है। मैं तुम्हें तो क्या एक कीड़ी को भी दंड नहीं देना चाहता।

देवी–पर जहां तक मैं समझती हूं, संसार के सन्त महंतों ने नारी की पर्वाह कीड़ी बराबर भी नहीं की है। कम से कम पत्नी के रूप में तो नहीं ही की है।

मेरे चेहरे पर मुसकुराहट आगई और मैंने मुसकराते हुए कहा–फफोले फोड़ रही हो देवी।

देवी ने मुझसे कुछ कम मुसकराते हुए कहा–मैं ठीक कर रही हूं देव !

मैं–तुम्हारा कहना निराधार नहीं है, पर है एकान्तवाद। एकांतवाद में आंशिक तथ्य होसकता है, पर उसे सत्य नहीं

कह सकते ।

देवी-तथ्य में सत्य देखने की क्षमता मुझमें नहीं है देव, मैं तथ्य की तीक्ष्णता से ही इतनी घायल होजाती हूं कि सत्य को खोजने की हिम्मत ही टूट जाती है। आप जो आज कल कर रहे हैं उसमें भी सत्य तो होगा ही, पर उसका स्वाद मुझे नहीं मिल पाता। इस नारियल के तथ्यरूपी जटों से ही मेरी जीभ इतनी छिल जाती है कि सत्य की गिरी तक पहुंचने की हिम्मत ही नहीं रहती।

मैं- पर यह क्षमता जरूरी है देवि ! नहीं तो निरर्थक कष्ट ही पल्ले पड़ेगा।

देवी- आप जिसप्रकार उचित समझें उसप्रकार इस कष्ट से मेरी रक्षा कीजिये। मेरी धृष्टता के कारण आप इसप्रकार कष्ट सहें यह मुझसे न देखा जायगा। मैं तो समझती हूँ, आत्मकष्ट दंड का भयंकरतम रूप है।

मैं- तुम ठीक समझती हो देवि ! पर जो कुछ मैं करता हूँ, वह आत्मकष्ट नहीं है, सिर्फ अभ्यास है। अभ्यास को किसी-प्रकार का दंड नहीं कहा जासकता।

देवी ने अचरज और सन्देह से दुहराया-अभ्यास है ?

मैंने कहा-हां ! अभ्यास है। जगत भोगों में ही सुख का अनुभव करता है और भोगों की ही छीनाझपटी से वह नरक बना हुआ है। मैं बताना चाहता हूँ कि असली सुख का स्रोत भीतर से है, बाहर से नहीं। जगत को जो मैं बहुत से पाठ पढ़ाना चाहता हूं, उसमें एक पाठ यह भी है। इसी के लिये यह अभ्यास है।

देवी कुछ सोचने लगीं, फिर बोलीं-देव, आप सरीखे जन्मजात ज्ञानी को और संकल्प-बली को इस प्रकार का अभ्यास

करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोमलाङ्गी स्त्रियाँ भी आवश्यकता होने पर विना अभ्यास के ही बड़े बड़े दुःसाहस के काम कर जाती हैं। आप तो महापुरुष हैं, जिस दिन जिस कार्य की आवश्यकता होगी उस दिन निष्णात की तरह आप वह काम कर दिखायँगे। इसलिये दया करके ऐसा अभ्यास न कीजिये जो दिनरात मेरे हृदयमें शूलसा चुभता रहे।

मैं कुछ देर चुपरहा फिर बोला आखिर तुम क्या चाहती हो?

देवी-यही कि कुछ अभ्यास कम करदें आप खड़े होकर ध्यान लगायें और जब चाहे तब लगाएँ मुझे आपत्ति नहीं है। पर अचानक ही आप रूखा सूखा खाने लगते हैं, फल यह होता है जिसदिन जो रस आप नहीं लेते वह मैं भी नहीं लेती, मेरी ही थालीमें भोजन करने को प्रियदर्शना बैठती है, तब वह रूखा सूखा भोजन भरपेट नहीं खापाती। मेरे लिये नहीं किन्तु उस बच्ची के लिये तो इस अभ्यास में कमी कीजिये। यही बात शयन के बारेमें है, आप अभ्यास के लिये सोनेमें वस्त्र का उपयोग नहीं करते, मैंभी नहीं करती, प्रियदर्शना मेरे विना दूसरी जगह सोती नहीं। आधीरात तक तो ठीक, पर उसके बाद ठण्ड बढ़ जाती है। मैं बच्ची को छाती से चिपटा लेती हूं और उसकी पीठपर अपना अंचल फैला देती हूं, फिर भी वह ठण्ड से सिकुड़ जाती है उसे नींद नहीं आती। वह बार बार पूछती है कि माँ, तुम कपड़ा क्यों नहीं ओढ़ती? पर मैं उसे क्या समझाऊं? कैसे समझाऊं?

यह कहकर देवी चुप होगई। उनका सिर एकदम झुक गया, थोड़ी देर में जमीन पर टपके हुए आंसू दिखाई दिये।

मैंने देवी का झुका हुआ सिर दोनों हाथ से ऊपर की ओर किया, और कहा-मेरी साधना और तुम्हारी साधना की दिशाएँ भिन्न भिन्न हैं या बिलकुल उल्टी हैं फिर भी मैं

तुम्हारी साधना में बाधा नहीं डालना चाहता । आज से जब तक मैं गृहस्थाश्रम में हूँ तब तक कायोत्सर्ग ध्यान आदि तक ही मेरा अभ्यास सीमित रहेगा ।

मेरी इस सहज स्वीकृति से देवी अप्रतिभ सीं होगईं । यद्यपि उनने सन्तोष व्यक्त किया किंतु भीतरी आत्म-ग्लानि के चिन्ह मुखमण्डल पर झलके बिना न रहे । जिसे वे अपना सहज अधिकार समझतीं हैं वह चीज भी उन्हें मांगने से मिली, आंसू बहाने से मिली, इसकी वेदना भी उन्हें होने लगी । और शायद उन्हें इस बातकी भी लज्जा आने लगी होगी कि प्रियदर्शना की आट में उनने आत्मरक्षा की है । यद्यपि मैं जानता हूं कि यह बात नहीं है ।

फिर भा जीवन के विषयमें मेरे दृष्टिकोण और देवी के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है । उनकी सहज रुचि यह है कि जीवन के भौतिक आनन्द भोगते हुए, भोजन में चटनी की तरह बीच बीचमें कुछ परोपकार भी कर दिया जाय, इससे भी कुछ आनन्द ही बढ़ेगा । धर्म अर्थ काम इन तीन तक ही उनकी रुचि है, मोक्ष को या तो वे समझती ही नहीं या निकम्मा समझती हैं । परिणाम यह होता है कि जगत के प्रतिकूल होनेपर उनके हृदयमें हाहाकार मच जाता है । जब कि मेरी रुचि यह है कि जगत अनुकूल हो या प्रतिकूल, अपना सुख अपनी मुट्ठी में रहना चाहिये । प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति की भी हमें पर्वाह न करना चाहिये ।

अस्तु, जब तक गृहस्थाश्रम में हूं तब तक वहां की मर्यादा का ख्याल रखना भी जरूरी है । वह युग अभी दूर है, अतिदूर है, जब गृहस्थाश्रम में भी मोक्ष के दर्शन होने लगेंगे । उस युग के लाने की मैं चेष्टा करूँगा, इस तरह के चित्र भी खींचूंगा, जिससे इस सत्य को लोग समझें, पर अभी तो वह दुर्लभ है । और मेरी साधना तो उस रूप में हो ही नहीं सकती । मुझे तो अपना

जीवन विकट परीक्षाओं में से गुजारना होगा।

देवी ने यह ठीक कहा था की मुझे अभ्यास करने की जरूरत नहीं है। सचमुच नहीं है, पर वास्तविक बात तो यह है कि मुझे इस अभ्यास में एक तरह का आनन्द आता है, ठीक उसी तरह जिस तरह एक योद्धा को युद्ध में आनन्द आता है। प्रकृति पर अधिक से अधिक विजय पाना मेरी साध है, यही जिनत्व है और मुझे जिन बनना है। अस्तु! मेरी गृहतपस्या बाहर से भले ही कम होगई हो पर भीतर तपस्याओं में कोई कमी न आने पायगी।

१५ — उलझन

१४ चन्नी ९४३१ इ. सं.

माताजी का स्वर्गवास हुए एक वर्ष से भी ऊपर होगया, भाई साहब को जो एक वर्ष का वचन दिया था वह भी बीत चुका। अब भाई साहब से अनुमति मिलने में सन्देह नहीं। पर भाई साहब तो निमित्तमात्र हैं वास्तविक प्रश्न तो देवी का है। इधर एक दो माह से उनके चेहरे पर ऐसी विह्वलता छाई रहती है और चिन्ता के कारण उनकी शरीर-यष्टि इतनी दुर्बल होगई है कि उनके सामने निष्क्रमण की चर्चा असमय के गीत से भी भद्दी मालूम होती है। अब तो कठिनाई यहां तक बढ़गई है कि जीवन की समाज की, कोई चर्चा भी नहीं होपाती। थोड़ा सा ही प्रकरण छिड़ते ही वे यह समझकर अत्यन्त व्याकुल होजातीं हैं कि यह सब निष्क्रमण के प्रस्ताव की ही भूमिका है।

मैं झटका देकर नहीं जाना चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि वे किसी न किसी तरह इस अप्रिय सत्य को समझें। जगत्कल्याण के लिये मुझे जिस मार्ग पर बढ़ने की जरूरत है उस मार्ग पर वे

स्वयं तो नहीं बढ़सकतीं, खासकर अभी तो नहीं बढ़सकतीं. पर मुझे अनुमति देकर जगत्कल्याण करानेका पुण्य लेसकती हैं। उनका यह त्याग सहर्ष हो या विचार पूर्वक हो तो मुझे तो सन्तोष रहेगा ही, साथ ही उनका जीवन भी विकसित होगा। अगर उनकी इच्छा के विना मैं उन्हें छोड़कर चलदूं तो इसमें उनका त्याग न होगा, लुटजाना होगा, यह तो एक तरह का वैधव्य होगा। मुझे स्वेच्छासे अनुमतिदेकर वे महाव्रती वनसकती हैं, त्यागमूर्ति वनसकता हैं, आध्यात्मिक दृष्टिसे परम सौभाग्यवती बनसकती हैं। पर यह हो कैसे ? जब तक मेरी बात विवेक पूर्वक उनके गले न उतर जाय तब तक ठोकपीटकर वैद्यराज बनाने से क्या होगा ? पिछले कुछ दिनों से मैं इसप्रकार बड़ी उलझन में पड़ा हूं।

१६ - देवी की अनुमति

४ सत्येशा ९४३२ इ. सं.

इधर कुछ दिनों से जो उलझन थी वह अकस्मात् ही आज सुलझ गई। आज भोजन के उपरान्त मैं अपने कक्ष में बैठा था, देवी भी मेरे कक्ष में आगई थीं, इधर उधर की चर्चा चलरही थी पर निष्क्रमण की अनुमति मांगने लायक कोई प्रकरण नहीं आरहा था। इतने में दासी ने खबर दी कि बाहर कुछ लोग बैठे हैं और आप से मिलना चाहते हैं।

मैं-कौन हैं ? गृहस्थ हैं या सन्यासी ?

दासी- क्या बताऊं ! कुछ समझ में नहीं आता। साधारण गृहस्थ तो हैं नहीं, पर साधु सन्यासियों सरीखे भी नहीं मालूम होते। पर आदमी कुछ ऊंची श्रेणी के मालूम होते हैं। ऐसे आदमी अपने यहां आये हुए कभी नहीं देखे गये।

मैं-अच्छा तो उन्हें भेजदे।

पहिले तो देवी की इच्छा कक्षके बाहर जाने की हुई पर दासी ने जो वर्णन किया था उससे उनमें उन्हें देखने की उत्सुकता भी पैदा हुई। इसलिये वे बैठी रहीं।

कुल आठ सज्जन थे। देखने से ही मालूम होता था कि ये लोग विद्वान होंगे, विचारशील होंगे। गृहस्थों सरीखा वेष नहीं था, पर श्रमणों या वैदिक साधुओं सरीखा भी वेष नहीं था। यथास्थान बैठने के बाद परिचय करने से मालूम हुआ कि ये लोग एक तरह के राजयोगी हैं। किसी तरह की कोई बाह्य तपस्या नहीं करते, बड़े ही स्वच्छ परिमार्जित ढंग के कपड़े पहिनते हैं फिर भी ऐसे, जिनसे विलास या विटत्व न मालूम हो! आजन्म ब्रम्हचारी रहते हैं, किसी राजदर्बार आदि में कभी नहीं जाते। शास्त्र का मनन चिन्तन आदि ही करते रहते हैं। जो पहिले नम्बर पर बैठे थे उन सारस्वतजी ने यह सब परिचय दिया। दूसरे आदित्यजी ने बताया कि इस गणतन्त्र के बाहर राजतन्त्र में वे रहते हैं। गणतन्त्र की सीमा से पांच गव्यूति दूर पर ब्रम्हलोक नाम का एक नगर है, उस नगर के बाहर आठों दिशाओं में आठ आश्रम हैं। हम लोग इन्हीं आश्रमों में रहते हैं। बाकी छः के नाम थे वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट। सब के अलग-अलग आश्रम थे।

उनके आश्रमों में स्त्रियाँ नहीं होतीं, शिष्य नहीं होते, सभी वयस्क और विद्वान ब्रम्हचारी होते हैं। किसीसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। किसी उत्सव में शामिल भी नहीं होते।

उनका परिचय पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मन में आश्चर्यपूर्ण यह जिज्ञासा भी हुई कि जब ये किसी श्रीमान या शासक से मिलने नहीं जाते यहां तक कि प्रजा के किसी उत्सव में भी सम्मिलित नहीं होते तब मेरे पास आने की कृपा क्यों की? यह बात मैंने उनसे पूछी भी।

बोले-यद्यपि हम लोग जगत के मायामोह से अलग हैं, फिर भी आँखें बन्द करके नहीं बैठते। जगत को देखते हैं कि वह सुधरे। इस समय समाज की बड़ी दुर्दशा है, ज्ञान विज्ञान सब नष्ट होरहा है, शास्त्र तो बस अन्धश्रद्धापूर्ण क्रियाकांड की जानकारी में समाप्त होगये हैं। समाज का एक वर्ग इस तरह पददलित किया जारहा है मानो वह मनुष्य ही नहीं है, कदाचित् पशु से भी गई बीती उसकी दशा है। यज्ञ के नाम पर हत्याकांड इतने बढ़गये हैं कि यातायात के लिये अश्व और कृषि के लिये बलीवर्द भी नहीं मिलते। कृषक वर्ग तड़प रहा है, शूद्र वर्ग पिस रहा है, पर कोइ सुननेवाला नहीं है। जिनके पास वैभव है उन्हें स्वर्ग में अप्सराओं को नियत कर लेने की चिन्ता है। उर्वशी और तिलोत्तमा पर सब की दृष्टि हैं। पर इससे समाज का बहुभाग कंगाल बनता जारहा है इसकी तरफ किसी की दृष्टि नहीं है।

मैं- तब आप अपने यहां के शासकों से यह बात क्यों नहीं कहत ?

वे-कहने का क्या अर्थ ? शासक तो दो बातें ही जानते हैं-युद्ध और विलास। बाकी और सब बातें समझने का ठेका उनने ब्राह्मणों को दे दिया है।

मैं-तो ब्राह्मणों से ही कहिये।

वे-ब्राह्मणों से कहने का भी कुछ अर्थ नहीं है। क्योंकि लोगों के अन्धविश्वास तथा बेकार के इन क्रियाकांडों पर ही ब्राह्मणों की जीविका निर्भर है। और इस जीविका को व्यवस्थित रखने के लिये जिस बड़प्पन की जरूरत है, वह जन्म से जाति मानने से तथा दूसरों को नीचा दिखाने से ही मिल सकता है, समाज की दुर्दशा पर ही जिनके स्वार्थ टिके हैं, वे दुर्दशा को क्या दूर कर पायँगे ? और क्यों करेंगे ?

मैं-तब आप मुझसे क्या आशा करते हैं ?

वे-हम लोगों ने आपके बारे में बहुत सुना है। आप बहुत ज्ञानी हैं, तपस्वी हैं, संसार की इस दुर्दशा से चिंतित हैं। इसलिये आप एक नये तीर्थ की स्थापना कर सकते हैं। जब तक नया तीर्थ न बने, तीर्थ के आधार से विशाल संघ न बने तब तक साधारण जनता के मन पर अपने विचारों की छाप न पड़ेगी, समाज का इस दुर्दशा से उद्धार नहीं होगा।

बीच में बोल उठीं देवीजी-पुराने तीर्थ कुछ कम नहीं हैं, तब एक नया तीर्थ बनाने से क्या लाभ ?

वे-घर में अगर बहुत से बुड्ढे बैठे हों तब क्या इसीसे नये बालक की आवश्यकता नहीं रहती माई ?

देवी-बालक क्या वृद्ध न बनेगा ?

वे-बनेगा, पर वृद्ध बनने के पहिले जवानी भर काम कर जायगा, आगे के लिये नया बालक भी पैदा कर जायगा। जगत् की व्यवस्था तो इसी तरह चलती है माई। पुराने व्यक्ति मरते हैं, नये पैदा होकर उनकी जगह लेते हैं, पुराने तीर्थ मरते हैं, उनकी जगह नया पैदा होता है, धर्म की परम्परा मानव की परम्परा की तरह इसी तरह चलती है।

कुछ क्षण सब चुप रहे, फिर लौकान्तिक बोले-इसमें सन्देह नहीं माई ! कि कुमार के जाने से आपके जीवन में शून्यता आजायगी। पर आज की दुर्दशा के कारण कितने घरों में शून्यता आरही है इसका पता अगर आपको एक बार भी लग-जाय तो दिन रात आपके आंसू थमेंगे नहीं। पशुओं की दुर्दशा की बात जाने दीजिये, उसके लिये तो ब्राह्मणों का साफ कहना है कि 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' यज्ञ के लिये ही पशु बनाये गये हैं

और यज्ञ का अर्थ कर रक्खा है उन्हें जीवित जलाकर खाजाना, पर मनुष्यों का जो यज्ञ होता है, उसके स्मरण मात्र से छाती थर्रा जाती है। अभी दो सप्ताह पहिले की बात है, कृषकों का एक दल हमारे पास आया था, सब के पास रजतपिंड थे पर उससे वे बलीवर्द न खरीद सके। सामन्तों ने स्वर्ण पिंड देकर यज्ञ के लिये सब बलीवर्द खरीद लिये। बलीवर्द के बिना वे इसी तरह तड़पते थे जैसे कोई सन्तानहीन व्यक्ति तड़पता है, बलीवर्द के मरने से वे इतने ही दुःखी होते हैं जैसे कोई जवान बेटेके मरनेसे, आज समाजके हजारों घरोंमें इसी तरह का सूतक छाया हुआ है। कृषक पत्नियोंके उच्छ्वासोंसे वायुमण्डल तप्त होगया है, अन्न के बिना उनका सौभाग्य दुर्भाग्यसे भी बुरा बना हुआ है। बलीवर्दोंके अभावमें कृषकोंको, कृषकपत्नियोंको, कृषक-बालकों को खेत में जाकर स्वयं बलीवर्द बनना पड़ता है। उधर लाखों आदमी जातिमद के शिकार हैं। अभी एक सप्ताह पहिले की बात है—हमारे नगर के बाहर कुछ चांडाल कुटुम्ब रोते चिल्लाते जारहे थे। मालूम हुआ कि अमुक मर्यादा के भीतर एक चांडाल के प्रवेश से यज्ञ भ्रष्ट होगया था इसलिये उस चांडाल की हत्या कर दी गई थी। कैसा सुन्दर हृष्ट पुष्ट युवक था! उसके पीछे उसकी विधवा पत्नी, बुड्ढी मां और तीन वर्ष की छोटी सी बच्ची क्या दहाड़ें मारमार कर रोरही थी, देखकर पत्थर के भी आंसू निकल सकते थे, पर आजका मनुष्य पत्थर से भी अधिक कठोर है, उसे पिघलाने के लिए किसी महान तपस्वी का तप चाहिये यह योग्यता हम वर्द्धमान कुमार में ही देखते हैं। माई! जगत् के उद्धार के लिये तुम्हें भी इस तपस्या में सहायक होना पड़ेगा, वर्द्धमान कुमार को छुट्टी देना होगी। तुम्हारा यह त्याग जगत् के महान से महान त्यागों में होगा। तुम दयालु हो माई, लाखों व्यक्तियों की आंखों से निकली जलधारा को देखकर तुम अपने आंखों के आंसू भूल जाओगी माई!

देवी सिर झुकाकर बैठी रहीं। उनकी आंखोंमें आंसू भर आये और क्षणभर बाद उनने मेरे पैरों पर सिर रखदिया और रोती रोती बोलीं क्षमा कीजिये देव, मैं बहुत स्वार्थिनी हूँ. मैंने अपने सुख के लिये जगत के सुखका बलिदान किया है. अपने आंसू बचाने के लिये लाखों प्राणियों के आंसुओं की वैतरणी बनने दी है. अपने आंसुओं की ओट में जगत के आंसू देखने से बचती रही हूँ। पर अब मैं यह पाप न करूंगी। आपके मार्ग में बाधा न डालूंगी।

लौकान्तिक-धन्य है माई ! धन्य है !!

इसके बाद लौकान्तिक चले गये: और जाते जाते कह गये-अब हम जगत को कहेंगे-शान्त हो रे जगत्, धीरज रख रे जगत्, तेरे उद्धार के लिये नया सृष्टा आरहा है, नया तीर्थंकर आरहा है।

उनके जाने पर मैंने देवी के सिर पर हाथ रक्खा ! अपनी दृष्टि से ही कृतज्ञता प्रगट की। वे अपने उमड़ते हुए आंसुओं को रोक रही थीं।

१७-निष्क्रमण

४ सत्येशा ९४३२ इतिहास संवत्।

कल सन्ध्या को ही मैंने भाई साहब से निष्क्रमण के निश्चय की बात कह दी। और आज तीसरे पहर गृहत्याग करने का कार्यक्रम सूचित कर दिया। इससे एक तहलका सा मच-गया। दौड़ी दौड़ी भाभी जी आगईं, दासियाँ भी आगईं। सब ने मुझे घेर लिया। पर ठिठकीसी रह गईं। थोड़ी देर बाद भाभी ने मेरे कंधे पर हाथ रखते हुए कहा-माताजी के लिये तुम कई वर्ष रुके देवर; अपने भैया के लिये भी एक वर्ष रुके, अब क्या अपनी भाभी के लिये छः मास भी नहीं रुक सकते ? क्या भाभी का इतना भी अधिकार नहीं ?

मैंने मुसकराते हुए कहा-तुम्हें भैया से जुदा समझने का पाप नहीं कर सकता भाभी !

मेरी बात सुनकर दासियाँ तक मुसकरा पड़ीं। भाभी ने कहा-दूसरों का मुँह बन्द करना खूब जानते हो देवर !

बीच में बोल उठे भैया। बोले-वर्धमान कुमार सब बातों में असाधारण हैं, अन्यथा किसी भाभी का मुँह बन्द कर सकने वाला कोई देवर तो आजतक देखा सुना नहीं।

फिर एक हलकी सी मुसकुराहट की लहर सब के बीचमें दौड़गई।

इसके बाद भैया ने कुछ गम्भीर होकर कहा-अब तुम्हें रोक सकने का कोई शस्त्र हमारे पास नहीं रहा वर्धमान ! हम हारे हुए हैं, इसलिये कल तुम जिस तरह विदाई चाहोगे उस तरह तुम्हें विदा करदेना पड़ेगा।

मैं-इस के लिये कुछ विशेष योजना तो करना नहीं है भैया ! मैं कल तीसरे पहर अपने वस्त्राभूषण गरीबों को दान देकर सिर्फ एक चादर लपेटकर वन की ओर अकेला चल दूंगा।

भाभी ने अचरज से कहा-पैदल ही ?

मैं- पैदल नहीं तो क्या ? परिव्राजक साधु क्या हाथी घोड़े शिविकाओं पर घूमा करते हैं ? अब तो मुझे जीवन के अन्त तक पैदल ही भ्रमण करना है।

मेरी बात सुनकर भाभी क्षणभर को स्तब्ध होगई। फिर अंचल से अपनी आँखें पोंछकर बोलीं-जीवनभर तुम जैसे चाहे घूमना देवर, पर मैं ऐसी अभागिनी भाभी नहीं बनना चाहती जिसका देवर साधारण भिखारी सा बनकर घर से निकलजाय।

अगर मेरा देवर साधारण युद्ध विजय के लिये भी जाता तो गांव-भर की सीमन्तिनियाँ उसकी आरती उतारतीं, वह अश्वारूढ़ होता, उसके रास्ते में फूल बिछे होते। पर कल तो मेरा देवर विश्व-विजय के लिये जारहा है, लोगों के शरीर पर नहीं आत्माओं पर विजय पाने लिये के जारहा है तब उसका समारोह उसके अनुरूप ही होगा।

भैया ने कहा-हां ! हां ! क्यों नहीं होगा ? इस विषय में वर्धमान कुछ नहीं कह सकते। मैं अभी से सब तैयारी कराता हूँ।

यह कहकर भैया जी उठकर चलेगये। मैं भी उठकर चला आया। प्रसाद के आगे रातभर ठक ठक चलती रही, राजपथ स्वच्छ और सजा हुआ करने की धामधूम होती रही। अश्वारोहियों के इधर उधर जाने की आवाजें आती रहीं। मालूम होता था कि जितनी दूर तक के सामन्तों और प्रजाजनों को खबर दीजासकती थी, खबर दीगई।

कुछ तो इस तरह रात्रि की निस्तब्धता भंग होने के कारण, कुछ निष्क्रमण के उल्लास के कारण, कुछ आगे के कार्य-क्रम के विचार के कारण मुझे नींद नहीं आई। बीच बीच में मैं कक्ष के भीतर चंक्रमण करने लगा, यहां तक कि निशीथ का समय आगया इतने में मैं चौंका। देवी के कक्ष से थपथपाने की आवाज आई। समझगया कि देवी को भी नींद नहीं आरही है और इसीसे प्रियदर्शना भी नहीं सो रही है, उसे सुलाने के लिये वे थपथपारही हैं।

यद्यपि पिछले एक वर्षसे मैं कुछ अलग सा ही रहता हूँ, एक तरह से मेरा सारा समय अपनी साधना में लगा रहा है फिर भी मिलने जुलने और बात करने का समय तो मिलता ही रहा है। पर आज उनके और मेरे जीवन के ऊपरी मिलनकी अंतिम

रात्रि है। इसके बाद ऊपरी दाम्पत्य भी विच्छिन्न होजायगा।

कल उन लौकान्तिक राजयोगियों की बातें सुनकर देवीने मुझे निष्क्रमणकी अनुमति देदी, फिर भी इस त्याग का बोझ उन्हें काफी भारी पड़रहा है। उनके विवेक ने, विश्वहितैषिताने अनुमति दी है पर मन तो कराह ही रहा है पर इसका उपाय क्या है? दुनिया के तामस यज्ञों को दूर करने के लिये यह महान सात्विक यज्ञ करना ही पड़ेगा।

एक बार इच्छा तो हुई कि देवी के कक्षमें जाकर उन्हें सान्त्वना दे आऊं जिससे उन्हें नींद आजाये, पर रुकगया। इस समय उन्हें सान्त्वना देने का अर्थ होता उन्हें रातभर रुलाना, इसलिये नहीं गया।

मैं चाहता हूँ कि मेरे जाने के बाद वे वैधव्य की यातना का अनुभव न करें, किन्तु त्याग के महान गौरव का अनुभव करें।

इन सब विचारों में काफी रात निकल गई। चंक्रमण से कुछ थकावट सी मालूम हुई और मैं लेट गया। थोड़ी देर में निद्रा भी आगई। पर कुछ मुहूर्त ही सोपाया था कि मैं चौंक गया। आंख खुलते ही देखा कि देवी शैया के नीचे बैठी बैठी-इकटक मेरे मुँह की ओर देख रही हैं। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। फिर भी प्रेमल स्वर में मैंने पूछा-इतनी रात तक क्या तुम सोई नहीं देवी?

देवी के ओंठ कांपने लगे, मालूम हुआ दोनों ओंठ उमड़ती हुई रुलाई का धक्का नहीं सह पारहे हैं। बड़ी कठिनाई से रुँधे गलेसे उनने कहा-सोने को तो सारा जीवन पड़ा है देव!

मैं उठकर बैठ गया। देवी का हाथ पकड़ कर मैंने उन्हें शय्या पर बिठला लिया और हलकी सी मुसकुराहट लाते हुए कहा-इस तरह इकटक क्या देख रही थीं देवी?

देवी- आपके रूप पी रही थी देव ! सोचा जीवनभर तो प्यास से छटपटाना ही है, यह अन्तिम रात्रि है, जितना पी सकूँ पी लूं।

मैंने कहा-मोक्ष के सिवाय क्या कभी काम से प्यास बुझी है देवी ?

देवी चुप रही।

मैंने कहा-इस तरह धीरज खोने की आवश्यकता नहीं है देवि ! तुम्हें तो अपनी दानवीरता का अनुभव करना है। लाखों सुवर्ण मुद्राओं का दान करने वालों की दानवीरता तुम्हारी इस दानवीरता के आगे पासंग भी नहीं है। वे सुवर्ण के टुकड़ों का दान करते हैं पर हृदय के टुकड़ों का या पूरे हृदय का दान वे नहीं कर पाते। तुमने तो आज अपने हृदय का, जीवन के उन सुखों का, जिसके लिये लोग न जाने कितने पाप करते हैं, दान किया है; और यह सब किसी स्वर्ग की लालसा से नहीं, किन्तु विश्व के कल्याण के लिये किया है, इस महान गौरव को पाने वाली सीमन्तिनी मुझे कोई दिखाई नहीं देती। आये दिन युद्ध होते रहते हैं, हजारों योद्धा मारे जाते हैं, लाखों महिलाओं के आंसुओं से समुद्र का खारापन बढ़ता जाता है, वह खारापन रोकना है, आंसू बहाकर वह बढ़ाना नहीं है। दुर्दैव से लुटी हुई उन अभागिनी महिलाओं में तुम्हें अपनी गिनती नहीं कराना है, कंगाली और त्याग को एक नहीं बनाना है। कल देश में वह कौन स्त्री होगी जो विश्वकल्याण के लिये सर्वस्व का त्याग करने वाली यशोदा देवी के सामने सिर ऊंचा करके चल सकेगी ? पर अगर तुम दीनता का अनुभव कर स्वयं ही अपना सिर नीचा करलो तो दूसरों का सिर आप ही ऊंचा रह जायगा। यह तो विलास के सामने त्याग की हार होगी। यह सब वर्धमान की पत्नी के योग्य नहीं है।

देवी ने अपने आंसू पोंछ लिये। क्षणभर रुककर बोलीं-क्षमा कीजिये देव, मेरा कोमल हृदय थोड़े से ही ताप से पिघलकर आंसू बनने लगता है। मैं तो समझती हूँ नारी में यह कोमलता, जिसे दुर्बलता ही कहना चाहिये, सहज है। पर मैं नारी की इस सहज प्रकृति पर विजय पाने का पूरा प्रयत्न करूँगी। आपकी पत्नी के योग्य भले ही न बन सकूँ, पर उसके गौरव की रक्षा तो करना ही है।

मैं-नारी के हृदय की कोमलता को मैं दुर्बलता नहीं कह सकता देवि! वह कोमलता ही तो धर्मों का, सभ्यताओं का मूल है। नारी का यह पिघलता हुआ हृदय जब अपनी असंख्यधाराओं से दसों दिशाओं को व्याप्त करलेता है तब वही तो 'सत्वेषु मैत्री' बन जाता है, वही तो भगवती अहिंसा की त्रिपथगा मूर्ति बन जाता है; और जब उसे कोई पुरुष पाजाता है तब देवता कहलाने लगता है। इसलिये उसे दोष समझकर उसपर विजय पाने की कोशिश न करो! किन्तु उसे फैलाओ। इतना फैलाओ कि संसार का प्रत्येक प्राणी तुम्हें प्रियदर्शना सा मालूम होने लगे और मेरा निष्क्रमण असंख्य प्रियदर्शनाओं की सेवा में लगा हुआ दिखाई देने लगे।

देवी ने एक गहरी सांस ली और कहा-ऐसा ही करूंगी देव, मैं आपका अनुसरण तो नहीं कर पाती पर थोड़ा बहुत अनुकरण करने का यत्न अवश्य करूंगी। अनुसरण अगर इस जन्म में न होसका तो अगले जन्म में अवश्य होगा।

इतने में कुक्कुट का स्वर सुनाई दिया। मैंने कहा-उषाकाल आगया है देवि!

देवी उठीं, बोलीं-तो जाती हूँ, प्रियदर्शना जाग कर रोने न लगे। यह कहकर वे आंसू पोंछती हुई चलीगईं।

प्रातः काल होते ही जब मैने राजपथ पर नजर डाली तब मालूम हुआ कि आज सबेरे से ही काफी भीड़ है। आसपास के गांवों की जनता सबेरे से ही इकट्ठी हो रही है। बिचारी भोली जनता नहीं समझती कि मैं क्या करने जारहा हूं। जनता सिर्फ इस कुतूहलसे इकट्ठी होरही है कि एक राजकुमार वैभव को लात मारकर जारहा है। मूल्य त्याग के उद्देश का नहीं है, राजकुमारपन का है।

प्रासाद के भी भीतर बड़ी चहलपहल थी, हां! उल्लास नहीं था। सुगन्धित चूर्ण से मेरा उबटन किया गया. हेमन्त ऋतु होने से गर्म जल से स्नान कराया गया। भोजनमें व्यञ्जनों की भरमार थी, सब कुछ था, पर हास्य की-विनोद की सब जगह कमी थी।

भोजन के बाद मेरा बहुतसा समय गरीबों को दान देने में गया, तब तक राजपथ पर दोनों ओर सहस्रों नरनारियों की भीड़ इकट्ठी होगई। भाई साहब ने शिविका को जिस तरह सजाया था वैसी सजावट मेरे विवाह के समय भी नहीं की गई थी। फिर भी ऐसा मालूम होता था कि बहुत कुछ सजकर भी शिविका हँस नहीं रही है।

दिन का तीसरा पहर बीता जारहा था, इसलिये मुझे विदा लेने के लिये शीघ्रता करना पड़ी। पुरुष वर्ग तो ज्ञातखंड तक साथ चलने वाला था। दासी परिजनों से भाभी से और देवी से विदा लेना थी। सब ने साश्रु नयनों से विदा किया, सब आंसुओं से मेरे पैर धोती गईं; और अंचल से पोंछती गईं। भाभी ने आंसु भरकर और मेरी भुजापर अपना हाथ रखकर कहा-देवर, हम लोग क्षत्राणियाँ हैं, जन्म से ही अपने भाग्य में यह लिखा लाई हैं कि मौत के मुँह में जाते समय अपने पति पिता पुत्र भाई और देवर की आरती उतारा करें और बिना

आंसू निकाले विदा किया करें, पर आज सरीखी विदाई देना भी अपने भाग्य में लिखा लाई है इसकी हमें कल्पना तक नहीं थी, इसलिये इस अवसर पर अगर हम अपने हृदयों को पत्थर न बना पायें तो हमें क्षमा करना।

मैंने कहा—भाभी, मैं इसलिये विदा ले रहा हूँ कि भविष्य में भी बहिन पुत्री पत्नी और भाभियों को अपने हृदय को पत्थर बनाने के अवसर ही न आयें। आशीर्वाद दो कि मैं अपनी साधना में सफल हो सकूं।

इसके बाद विदा दी देवी ने। अुनके मुंह से कुछ कहा न गया। पहिले तो पास में खड़ी प्रियदर्शना को उनने मेरे पैरों पर झुका दिया फिर स्वयं झुककर मेरे पैरों पर सिर रखकर फफक पड़ीं। उनके आंसुओं से मेरे पैर भींगने लगे। मैंने अुन्हें उठाते हुए कहा—धीरज रक्खो देवी, मोतियों से भी अधिक सुन्दर और बहुमूल्य आंसुओं को इस तरह खर्च न करो। दुःख से जलते हुए संसार की आग बुझाने के लिये इन आंसुओं को सुरक्षित रखना है।

देवी ने गद्गद् स्वर में कहा चिन्ता न करो देव, नारियाँ धीरज में भले ही कंगाल हों पर आंसुओं में कंगाल नहीं होतीं; आंखों का पानी ही तो अुनके जीवन की कहानी है।

मैं—तो तुम भी आशीर्वाद दो देवी, कि तुम्हारे आंसुओं में मैं संसार भर की नारियों की कहानी पढ़ सकूं।

देवी बगल में खड़ी भाभी जी के कन्धे पर सिर रखकर उनका कन्धा भिगाने लगी।

क्षणभर मैं स्तब्ध रहा। फिर भाभी से बोला—अब चलता हूं भाभी, साहस बटोरने का काम तुम्हें सौंप जाता हूं, आशा है उसका बड़ा हिस्सा तुम देवी को प्रदान करोगी।

मैं प्रासाद के बाहर निकला। मुझे देखते ही हजारों कंठ चिल्लाये-वर्धमान कुमार की जय। मैं शिविका में बैठा। हजारों आदमी आगे और हजारों आदमी पीछे चल रहे थे। गवाक्षों से सीमन्तिनियाँ लाजा बरसा रही थीं। बस्ती के बाहर जब जुलूस पहुंचा तब मेरी दृष्टि पथ से दूर खड़े हुए एक मानव समूह पर पड़ी। वे चांडाल कुटुम्ब थे। शिवकेशी की घटना के बाद मेरे विषय में उनका आदर काफी बढ़गया था। चाहते थे कि जुलूस में आकर मेरी शिविका पर लाजा बरसा जायें, पर यह उनके लिये आग में कूदने से भी भयंकर था। इसलिए चांडालवधुओंने अपने अञ्चल में रक्खे हुए लाजा मेरी ओर लक्ष्य करके अपने ही आगे बरसा लिये थे। यह देखते ही मेरा हृदय भर आया। जिन आंसुओं को मैं देवी और भाभी के आगे रोक सका था वे अब न रुके, उन्हें पोंछकर मैंने अपना उत्तरीय पवित्र किया।

क्षणभर को इच्छा हुई कि शिविका में से उतर कर मैं चांडालवधुओं को सान्त्वना दे आऊं, पर पीछे यह सोचकर रुक गया कि इससे जनता में इतना क्षोभ फैलेगा कि रास्ते से दूर खड़े होने के अपराध में भी जनता उन चांडालों को मेरे जाने के बाद पीस डालेगी, इसलिये रुक गया।

ज्ञातखंड पहुंचने पर मैं शिविका से उतरा। जनता एक समूह में खड़ी होगई। मैंने सबको संबोधन करते हुए कहा-अब मैं आप लोगों से विदा लेता हूं। इसलिए नहीं कि आप लोगों से कौटुम्बिकता तोड़ना चाहता हूं, किन्तु इसलिए कि मैं वह साधना कर सकूं जिससे आप लोगों के समान मनुष्य मात्र से या प्राणिमात्र से एक सरीखी कौटुम्बिकता रख सकूं। जिस तृष्णा और अहंकार ने आत्मा के भीतर भरे हुए अनन्त सुख के

यह कहकर मैंने एक एक आभूषण उतार कर फैंक दिया। पीछे वस्त्रों की बारी आई। एक देवदूष्य उत्तरीय छोड़कर बाकी सब वस्त्र भी अलग कर दिये।

यह सब देखकर भाई नन्दिवर्धन की आखों में आंसू आगये और सैंकड़ों उत्तरीय अपनी अपनी आंखें पोंछते हुए दिखाई देने लगे। मैंने कहा- आप लोग इसका शोक न करें। अपरिग्रहता दुर्भाग्य नहीं, सौभाग्य है। किसी पशु पर लदा हुआ बोझ उतर जाय तो यह उस पशु का दुर्भाग्य होगा या सौभाग्य? इसलिये प्रसन्नता से अब आप लोग घर पधारें, मैं अपनी साधना के लिये विहार करने जाता हूं।

यह कहकर मैं चल दिया और फिर मुंह फेर कर उनकी तरफ देखा भी नहीं। काफी रास्ता चलने के बाद जब रास्ते के मुड़ने से मुझे मुड़ना पड़ा तब मेरी नजर विदाई की जगह पर पड़ी। सब जनता ज्यों की त्यों खड़ी थी। सम्भवतः वह तब तक मुझे देखते रहना चाहती थी जब तक मैं दिखता रहूं। इसमें सन्देह नहीं, स्नेह का आकर्षण सब आकर्षणों से तीव्र होता है। पर मैं आज उसपर विजय पासका, उसका बन्धन तोड़ सका। हां! यह बन्धन तोड़ने के लिये नहीं तोड़ा है पर विश्व के साथ नाता जोड़ने के लिये तोड़ा है।

१०-अब भी राजकुमार

५ सत्येशा सन्ध्याकाल ९४३२ इतिहास संवत्

विदा देनेवाली जनता ओझल हो चुकी थी और मैं आगे बढ़ता हुआ चला जारहा था। इतने में पीछे से किसी की पुकार सुनाई दी 'वर्द्धमान कुमार! ए वर्द्धमान कुमार! मैं नहीं चाहता था कि ममताका कोई जाल अब मेरे ऊपर फिर आक्रमण करे, इसलिये पुकार की पर्वाह न कर मैं आगे बढ़ता ही

गया। पर फिर सुनाई दिया-वर्धमान कुमार, तनिक ठहरो तो मैं बूढ़ा ब्राह्मण हूँ. दौड़ता दौड़ता थक गया हूं।

मैं रुका और लौटकर देखा कि सोम काका हांफते हुए चले आरहे हैं। पिताजी को ये समवयस्कता और परिचय के नाते मित्र कहा करते थे इसलिये मैं इन्हें चाचा कहता रहा हूं। इधर एक वर्ष से ये दिखाई नहीं दिये। एक कारण तो यह कि पिताजी चले गये थे, दूसरा यह कि मैं अपनी साधना में लीन था। आज इन्हें देखकर याद आई। सोचा बेचारे विदाई के समय न आपाये थे सो अब आगये हैं।

काका का यह वात्सल्य देखकर कुछ अचरज हुआ।

काका पास में आकर खड़े होगये। ठंड के दिन थे पर दौड़ने की गर्मी से स्वेदबिन्दु उनके ललाट पर मोतियों की झालर से लटकने लगे थे। क्षणभर रुककर अपने कन्धे पर पड़े हुए फटे चिथड़े से उनने वह मोतियों की झालर मिटादी और गहरी सांस लेते हुए बोले-मुझे यह ज्ञान नहीं था कुमार, कि तुम आज निष्क्रमण करने वाले हो। मैं अभागी दरिद्री गांव गांव भिक्षा मांगा करता हूं तब भी चरितार्थ नहीं चलता। अभी अभी जब मैं गांव से भिक्षा मांगकर आया तब तुम्हारी ब्राम्हणी काकी ने मुझे खूब फटकारा, कहा—तुम अभागी हो, और तुम्हारे ही कारण मैं भी अभागिनी हूं कुमार चले गये, और अटूट सम्पत्ति दान कर गये पर तुम उस अवसर पर पहुँचे ही नहीं, और न कुमार को विदाई दी। जग का दारिद्र्य मिटगया और तुम कंगाल के कंगाल ही रहे। क्या कहूं कुमार, तुम्हारे निष्क्रमण की बात सुनते ही मैं इतना बेचैन होगया कि हारा थका होने पर भी न तो मैंने विश्राम किया न भोजन किया और दौड़ा हुआ चला आया।

मैं-पर अब इस तरह दौड़े आने की क्या आवश्यकता थी काका ?

काका कुछ गम्भीर होगये और गहरी सांस लेकर सिर मटकाते हुए बोले-कुमार तुम्हें क्या बताऊं ? अगर न आता तो ब्राह्मणी खाने भी न देती।

मेरे हृदय को एक धक्का सा लगा। सचमुच निर्धनता इतना बड़ा पाप है कि उसमें प्रेम सहानुभूति सज्जनता शिष्टता आदि गुण नहीं पनप सकते। सम्पत्ति के एक जगह इकट्ठे होजाने से जो जगत में निर्धनता फैलती है उससे मनुष्यों को ही भूखों नहीं मरना पड़ता, किन्तु मनुष्यता को भी भूखों मरना पड़ता है।

मेरे मन में ये विचार कुछ तूफान सा मचाये हुये थे कि सोम काका ने कहा-कुमार अब ऐसा उपाय करो कि लौटने पर ब्राह्मणी की फटकार न सहना पड़े।

मैं-तुम देख तो रहे हो काका कि मैं एक निष्परिग्रह श्रमण हूँ।

सोम-पर मेरे लिये तो तुम अब भी राजकुमार हो कुमार!

मैं-तुम्हारी इस वत्सलता के लिये साधुवाद, पर इस वत्सलता की राजकुमारता से वह धन तो नहीं टपक सकता जो काकी का मुँह बन्द कर सके।

ब्राह्मण का चेहरा उतर गया। सारे शरीर का पसीना तो सूख गया था पर अब ऐसा मालूम होने लगा कि आंखों को पसीना आजायगा।

कुछ क्षण रुककर ब्राह्मण ने दीर्घ उच्छ्वास के साथ पूछा-तो क्या मैं खाली हाथ जाऊं?

ओह, ब्राह्मण के चेहरे पर कितनी दीनता थी, कितनी

वेदना थी ! मुझसे यह सब न देखा गया। मैंने अपना उत्तरीय निकालकर उसके दो टुकड़े किये और एक टुकड़ा ब्राह्मण को देकर कहा-इस समय और कुछ तो मेरे पास है नहीं, यह आधा कपड़ा ले जाओ! बहुमूल्य है यह, इसके विक्रय से अनेक दीनारें मिल जायँगी

ब्राम्हण की आंखें चमक उठीं, मुख मण्डल पर हँसी लहलहाने लगी। बोला-मैंने तो कहा था कि तुम हमारे लिए अभी भी राजकुमार हो कुमार! तुमने मुझे संकट से बचा लिया कुमार, ब्राह्मणी तुम्हें भूरि भूरि आशीर्वाद देगी।

मैं—अकेली ब्राह्मणी के आशीर्वाद से काम न चलेगा काका, तुम भी आशीर्वाद देते जाता, नहीं तो तुम्हारा आशीर्वाद यदि उधार रहगया तो फिर क्या देकर मैं उसकी भरपाई करूंगा।

ब्राह्मण ने अट्टहास्य किया। और यह कहते कहते चला गया कि तुम तो मेरे लिए अब भी राजकुमार हो कुमार। /

१९-पारिपार्श्वक एक बाधा

६ सत्येशा ९४३२ इ. सं.

कल सूर्यास्त होते तक जितना दूर चल जासकता था उतना चला। कूर्मार गांव के पास आपहुँचा। बस्ती में जाने की इच्छा नहीं थी। आज तक बस्ती में रहते रहते ऊब गया था, इसलिये बस्ती के बाहर अटवी के किनारे ही रात बिताना तय किया। रात भर हृदय में विचारों का तूफान सा आता रहा। यह बात बार बार ध्यान में आई कि एक राजकुमार की हैसियत से नहीं, किन्तु साधारण जन की हैसियत से जगत के सामने अपने को उपस्थित करूं? क्योंकि इसके बिना मेरा जीवन साधारण जन को अनुकरणीय नहीं बन सकता। लोग अपनी

साधारणता को शिथिलता का बहाना बना लेते हैं। अब मैं राजकुमारपन के बन्धनों से मुक्त होगया हूं अब साधारण जन की आंखों से जगत को देखूंगा और साधारण जन की कठिनाइयों का अनुभव कर जगत की और जीवन की चिकित्सा करूंगा।

रात इसी तरह के विचारों में निकलगई। उषाकाल में जब कि मैं कार्योत्सर्ग से खड़ा हुआ था दो बैल आकर मेरे पास बैठगये। बैलों का स्वामी किसान शामको यहां चरने छोड़ गया था और बस्ती में चला गया था। बैल चरते चरते अटवी की तरफ निकल गये थे और पेट भरने के बाद उषा काल में फिर आकर बैठ गये थे। किसान रातभर बैलों को ढूँढ़ता रहा और रातभर की परेशानी से झल्ला गया।

सवेरे जब बैल उसने मेरे पास बैठे देखे तब उसे भ्रम हुआ कि बैल रातभर मैंने छिपा रक्खे थे और सवेरे ले भागनेवाला था। इसलिये आक्रोश करते हुए बोला कि यह सब तुम्हारी बदमाशी है। बनते हो साधु, और करते हो बदमाशी। इसप्रकार गुनगुनाते हुए वह मुझे रस्सी लेकर मारने को दौड़ा। इतने में बगल से आवाज आई–अरे मूर्ख, यह क्या करता है ?

किसान का हाथ तो रुक गया पर मुँह चला। बोला–यह साधु मेरे बैल लेकर भागना चाहता था।

आगन्तुक ने कहा–अरे मूर्ख, जानता है ये कौन हैं ? ये कुंडलपुर के राजकुमार वर्धमान हैं जिनने कल ही इतना दान किया है जिसमें तेरे कई कुमार गांव खरीदे जासकते हैं। ये सर्वस्व का त्याग कर तपस्याके लिये निकले हैं। क्या ये तेरे बैल लेंगे ?

मेरा नाम सुनते ही और मेरी राजकुमारता का पता

पाते ही किसान बुरी तरह घबराया और बैलों को भगाता हुआ इस तरह भागा मानों जंगलमें कोई वाघ दिख पड़ा हो।

मैंने आगन्तुक को पहिचाना और पूछा—इन्द्रगोप, तुम इससमय यहां कैसे आये ?

इन्द्रगोप ने हाथ जोड़ कर कहा—कुमार, मैं तो कल से ही आपके पीछे पीछे हूँ।

मैं- तुम्हें इस काम के लिये किसने नियुक्त किया ?

इन्द्र- सभी ने नियुक्त किया समझो कुमार, हालांकि मुझ से आपके साथ रहने की बात यशोदा-देवी ने ही कही है कल जब आप हम सबको छोड़कर चले आये तब कुछ देर तक हम लोग मूर्ति की तरह खड़े खड़े आपको देखते रहे। जबतक आप दिखते रहे तबतक नन्दिवर्धन भैया के साथ सब लोग आपको देखते रहे, पर ज्यों ही आप ओझल हुए, नन्दिवर्धन भैया बच्चों की तरह फूट फूटकर रोने लगे हम लोगों ने स्वयं रोते रोते बड़ी कठिनाई से भैया को धैर्य बँधाया और किसी तरह घर की तरफ लौटाया।

ज्यों ही मैं घर पहुंचा त्यों ही सुपर्णा मेरे पास आई और उसने कहा-छोटी आर्या जी तुम्हें बुलाती हैं। मैं तुरन्त उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उनका चेहरा देखते ही मैं थक रहगया। थोड़े ही समय में क्या से क्या होगया था। कपोल उनके अभी भी गीले थे। बोलीं -इन्द्रगोप जी, आर्यपुत्र तो मुझे छोड़कर चले गये, अथवा उन्हें क्या दोष दूं ? मैंने ही तो उन्हें अनुमति दी थी।

इतना कहते कहते वे बिलख बिलखकर रोने लगीं, मुझमें भी इतनी हिम्मत न रही कि उन्हें धीरज बंधाऊ, मुझे भी अपने आंसू पोंछने की पड़ी थी। कुछ समय में स्वयं स्वस्थ

होकर वे बोलीं-वे तो मुझे छोड़गये पर मैं तो उन्हें नहीं छोड़ सकती। मुझे उनकी बड़ी चिन्ता है। मैं उन्हें जानती हूँ। उनकी साधना के ध्येय का तो मुझे पता नहीं, पर वे कुछ ऐसे हठी हैं कि सामने मौत आजायगी तो भी किनारा काटने की कोशिश न करेंगे। इसलिये मैं चाहता हूं कि उन्हें विना जताये दूर दूर रहकर तुम अुनके आसपास रहो। और जब कोई संकट आये तब सारी शक्ति लगाकर निवारण करो। और किसी तरह जब उनकी अनुमति मिलजाय तब अुनके पारिपार्श्वक बनने की चेष्टा करो। तुम्हें जो आजकल भृति मिलती है अुससे चौगुणी भृति मिलेगी। इतना ही नहीं, मेरे पास की जो सम्पत्ति तुम चाहोगे वह भी तुम्हें मिलेगी।

मैंने हाथ जोड़कर कहा-आप की दया से मुझे किसी बातकी कमी नहीं है बहूरानी, चौगुनी भृति लेकर तो मैं क्या करूंगा, विना भृति के भी अगर कुमार मेरी सेवा लेना स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को सौभाग्यशाली समझूंगा। यह कहकर मैं आया। रास्ते में सोम काका मिलगये, अुनसे पता लगा कि आप इस तरफ आये हैं। मैं जब आया तब पहर भर रात बीत चुकी थी, रात तो अंधेरी थी पर तारों के प्रकाश में मैं आपको पहिचान सका। फिर उस नीम के झाड़ के नीचे रातभर रहा। बीच बीच में सोता भी रहा; और आपकी आहट भी लेता रहा। अभी उस गमार की दुष्टता देखकर मुझे खुलकर पास आना पड़ा।

इन्द्रगोप की बातें सुनकर मैं चकित होगया। देवी की दिव्यता से हृदय श्रद्धा से भरगया पर यह भी सोचा कि देवी के इन प्रयत्नों से मेरी साधना में कितनी बाधा पड़ सकती है इसका देवी को पता नहीं है, अन्यथा वे ऐसा प्रयत्न कभी न करतीं। मैं कुछ ऐसे ही विचार कर रहा था कि इन्द्रगोप ने कहा-कुमार अभी न जाने आपको कितने वर्ष कैसी तपस्या करना है

और उसमें न जाने कितने नीच और मूर्ख लोगों से आप पर संकट आयेंगे ऐसी अवस्था में मुझे पारिपार्श्वक बनाने की दया कीजिये, इससे आपको भी सुविधा होगी, बहुरानी को भी कुछ सन्तोष होगा और मेरा जीवन भी सफल होगा।

मैंने कहा- इन्द्रगोप, क्या तुम यह समझते हो कि इस तरह पहरेदारों के भरोसे कोई मनुष्य निर्भय, कष्टसहिष्णु और जिन या अर्हत् बन सकता है ? ऐसा होता तो घर में ही क्या बुरा था ?

इन्द्रगोप चुप होगया। फिर सोचते सोचते बोला—कुमार, एक गमार आप को इस तरह रस्सी मारने दौड़े इसमें आपकी साधना को क्या बल मिलेगा यह तो मैं अज्ञानी क्या समझूँ ? पर यह समझता हूं कि जो आप पर हाथ उठायगा उसको नरक के सिवाय और कहीं जगह न मिलेगी। ऐसे लोगों को अगर आपका परिचय दे दिया जाय तो उनका अधःपतन रोका जासकता है।

मैं— नहीं रोका जासकता। राजकुमारपन के परिचय देने से साधु का विनय न होगा, राजकुमार का विनय या आतंक होगा। ऐसी आतंकितता पशुता का चिह्न है देवत्व का नहीं।

इन्द्रगोप फिर चुप रहा और कुछ सोचकर बोला-पर कुमार, जब इन गमारों को यह मालूम होगा कि साधु के वेष में चोर नहीं राजकुमार तक रहते हैं तब इस तरह साधु का अपमान करने का उनका दुःसाहस नष्ट होजायगा।

मैंने कहा-नहीं। एक भ्रम पैदा होजायगा। जनता यह समझने लगेगी कि राजकुमार साधुओं के पास तो पारिपार्श्वक रहा करते हैं जिनके पास पारिपार्श्वक नहीं हैं वे चोर हैं। इस कारण बहुत से सच्चे साधुओं का अपमान होने लगेगा। जो हिंसा

और जो परिग्रह पाप का प्रतीक है वह पूज्यता का प्रतीक बन बैठेगा। बात यह है कि साधुता का अपमान इसतरह नहीं रुकसकता, वह रुकसकता है साधुसंस्था को पवित्र करने से। आज साधुसंस्थामें चोर उचक्के मोघजीवी दम्भी लोग घुसगये हैं इसलिये अपरिचित लोग उनका अपमान करें यह स्वाभाविक है। मुझे ऐसे लोगोंकी साधुसंस्था बनाना है जिनके पास कुबेर की सम्पत्ति और इन्द्र की अप्सराएँ तक सुरक्षित समझी जायँ। उस ग्रामीण ने मुझे चोर समझा इसमें उसका कुछ अपराध नहीं है। साधुसंस्था के वर्तमान रूप का अपराध है। उस रूप को बदलना है, उस क्रांति के लिये भी मेरी साधना है। इसलिये तुम जाओ इन्द्रगोप, निश्चिन्त होकर जाओ ! और देवी से कहदो कि वे अब मेरी तरफ से निश्चिन्त होजायं निर्मोह होजायं। पारिपार्श्वक भेजकर साधना में बाधा न डालें।

इन्द्रगोप ने मुझे प्रणाम किया और आंसू पोंछता हुआ चला गया।

२० रससमभाव

८ सत्येशा ९४३२ इं सं·

आज कोलाक ग्राम में बेला (दो उपवास) का पारणा होगया। बहुल ब्राह्मण ने बहुत आदर से भोजन कराया। मिष्टान्न की योजना भी उसने की थी। ब्राह्मण के घर इसलिये गया था कि उसके यहां नीरस भोजन मिलेगा पर मिला मिष्टान्न ही। मिष्टान्न देखकर कुछ सन्ताप हुआ। यह एक तरह की निर्बलता ही है। नीरस और सरस में मुझे समभावी बनना है। पर यह समभाव अभी स्वाभाविक नहीं है। समभाव के लिये कुछ मनोबल लगाना पड़ता है वह मनोबल न लगाया जाय तो

समभाव ढीला होजायगा। यही तो कारण है कि मिष्टान्न देखकर कुछ सन्तोष हुआ और ब्राह्मण के बारे में कुछ सद्भावना पैदा हुई। यह बात बुरी है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि अगर कोई नीरस भोजन कराये तो बाहर से समभाव का प्रदर्शन करता हुआ भी भीतर से असन्तुष्ट होजाऊंगा, इसप्रकार निर्धनता और निष्परिग्रहता का अपमान करूंगा। अब आशा है भविष्य में मैं पूरी तरह रससमभावी बनजाऊंगा।

मनुष्यमात्र के लिये रससमभावी होना आवश्यक है। संसार में जितने पाप होते हैं उनमें से आधे पापों की जड़ यह रस ही है, आधे में बाकी सारे पाप समझना चाहिये। जब कि जीवन की दृष्टि से इसका कोई उपयोग नहीं है मीठा खाने से आयु बढ़ नहीं जाती, केवल इन्द्रिय-दासता ही बढ़ती है, इससे अकाल मरण की संभावना भी बढ़ती है। मैं रस-लोलुपता का एक कण भी मनके भीतर नहीं रहने देना चाहता।

दाता की भावनाओं का आदर करना एक बात है और रस की प्रिय अप्रियता का आदर अनादर करना दूसरी बात है। मैं दाता की भावना का तो ध्यान रक्खूंगा पर रस की प्रिय अप्रियता का नहीं।

२१—केशलोंच

१४ सत्येशा ९४३२ इ. सं.

मेरे घुंघराले बालों में निष्क्रमण के दिन डाले गये सुगन्धी द्रव्यों का असर कई दिन तक बना हुआ था। इससे बड़ा अनर्थ हुआ। प्रमदाएँ उन घुंघराले चिकुरों को देखकर विनोद करने लगीं, कामयाचना करने लगीं। निराश होने पर मुझे नपुंसक कहने लगीं, यौवन को व्यर्थ नष्ट न करने की प्रार्थना करने लगीं, युवक लोग सुगंधित द्रव्य बनाने की विधि पूछने लगे। इन सब बातों से मुझे बड़ा खेद हुआ।

कितनी लज्जा की बात है कि इस देश का चरित्र इतना गिर गया है कि ब्रह्मचर्य की आवश्यकता लोग समझते ही नहीं। दाम्पत्य बहुत शिथिल होगया है। अगर यही दशा रही तब मनुष्य का और पशु का अन्तर मिटजायगा, घर घुड़साल से भी भी बुरे बन जायँगे। साधु भी काम के जाल में फँसकर मोघ-जीवी विट बन जायँगे।

इसलिये मैंने निश्चय किया है कि जब मैं अपना संघ बनाऊंगा तब ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दूँगा, इसे एक मुख्य व्रत बनाऊंगा, साधुसंस्था में ब्रह्मचर्य अनिवार्य कर दूँगा। देशकाल को देखते हुए मुझे यह आवश्यक ज्ञात होता है। लैंगिक असंयम भी इस युग की मुख्य समस्या बनी हुई है। उस पर विजय पाने के लिये मुझे उसके बाहरी साधनों से बचना बचाना पड़ेगा। तपस्याएँ करना कराना पड़ेंगीं, देह दण्ड भोगना पड़ेंगे। यही कारण है कि मुझे अपना केशलौंच कर लेना पड़ा।

जब मैं भिक्षा लेने के लिये ग्राम की ओर जारहा था तब ग्राम के पास मुझे चार पांच युवतियां इठलातीं हुई आती मिलीं और मेरा रास्ता रोककर खड़ी होगईं। एक हँसती हुई बोली-मदनराज! यह श्रमण का वेष क्यों बनाया है?

दूसरी बोली-ऊपर से वेष बनाने से क्या होता है ये घुँघराले बाल कामदेवत्व को स्पष्ट ही प्रगट करते हैं।

तीसरी बोली-अरी इसमें तो न जाने कितनी रतिदेविया फंसकर रह जांयगी।

चौथी बोली-हम तो सब की सब फंस ही गईं हैं?

उन लोगों की बातें सुनकर मुझे इस बात का बड़ा खेद होरहा था कि मेरे केशों ने मेरे सौंदर्य को इतना बढ़ा रक्खा है कि इन विवेकहीन युवतियों का असंयम उद्दीप्त होरहा है। इसलिये

मैं मार्ग के किनारे बैठगया। युवतियाँ भी मेरे चारों तरफ खड़ी होगईं और आपस में कुछ इंगित करने लगीं। इतने में मैंने झटका देकर बालों का एक गुच्छा सिर से निकाला और फेंक दिया।

मेरी यह चेष्टा देखकर वे घबराईं और भाग गईं। मन निश्चय कर लिया कि अब सिर में एक भी बाल न रहने दूंगा। धीरे धीरे मैंने सारे सिर का लौंच कर लिया। जब मैं लौंच कर चुका तब वे युवतियां एक जनसमूह के साथ फिर आईं। सब हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगीं, पर मैंने एक भी शब्द मुंह से नहीं कहा और वहां से उठकर चला आया।

मेरे आने के बाद उन लोगों ने मेरे बाल बीनलिये और एक निधिकी तरह सबने बांट लिये।

मुझे इससे क्या तात्पर्य? वे चाहे उन्हें जलायें चाहे पूजा करें, चाहे उनसे काम-याचना करें। अब मैं विश्वास करता हूं कि वे अब मुझे छेड़ने का लालच न करेंगी।

मुझे सम्भवतः ऐसे बहुत से नियम बनाना पड़ेंगे जो साधुता की दृष्टि से अनिवार्य भले ही न कहे जांय पर आज की उपयोगिता की दृष्टि से जिन्हें पर्याप्त स्थान देना होगा।

केशलौंच के बाद फिर मैं भिक्षा लेने नहीं गया। रुचि भी नहीं रही थी और लोकाचार की दृष्टिसे भी केशलौंच के बाद भिक्षा लेना ठीक नहीं मालूम हुआ।

२२— अदर्शन विजय

११ बुधी ९४३२ इतिहास संवत

घर छोड़े करीब चार माह होगये, इन चार मासों में इतने कठोर अनुभव हुए जितने पहिले जीवनभर नहीं हुए थे

कितनी लज्जा की बात है कि इस देश का चरित्र इतना गिर गया है कि ब्रह्मचर्य की आवश्यकता लोग समझते ही नहीं। दाम्पत्य बहुत शिथिल होगया है। अगर यही दशा रही तब मनुष्य का और पशु का अन्तर मिटजायगा, घर घुड़साल से भी भी बुरे बन जायँगे। साधु भी काम के जाल में फँसकर मोघ-जीवी विट बन जायँगे।

इसलिये मैंने निश्चय किया है कि जब मैं अपना संघ बनाऊंगा तब ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दूंगा, इसे एक मुख्य व्रत बनाऊंगा, साधुसंस्था में ब्रह्मचर्य अनिवार्य कर दूँगा। देशकाल को देखते हुए मुझे यह आवश्यक ज्ञात होता है। लैंगिक असंयम भी इस युग की मुख्य समस्या बनी हुई है। उस पर विजय पाने क लिये मुझे उसके बाहरी साधनों से बचना बचाना पड़ेगा। तपस्याएँ करना कराना पड़ेगीं, देह दण्ड भोगना पड़ेंगे। यही कारण है कि मुझे अपना केशलौंच कर लेना पड़ा।

जब मैं भिक्षा लेने के लिये ग्राम की ओर जारहा था तब ग्राम के पास मुझे चार पांच युवतियां इठलातीं हुई आती मिलीं और मेरा रास्ता रोककर खड़ी होगईं। एक हँसती हुई बोली-मदनराज! यह श्रमण का वेष क्यों बनाया है?

दूसरी बोली-ऊपर से वेष बनाने से क्या होता है ये घुँघराले बाल कामदेवत्व को स्पष्ट ही प्रगट करते हैं।

तीसरी बोली-अरी इसमें तो न जाने कितनी रतिदेविया फंसकर रह जांयगी।

चौथी बोली-हम तो सब की सब फंस ही गई हैं?

उन लोगों की बातें सुनकर मुझे इस बात का बड़ा खेद होरहा था कि मेरे केशों ने मेरे सौंदर्य को इतना बढ़ा रक्खा है कि इन विवेकहीन युवतियों का असंयम उद्दीप्त होरहा है। इसलिये

मैं रास्ते के किनारे बैठगया। युवतियाँ भी मेरे चारों तरफ खड़ी होगईं और आपस में कुछ इंगित करने लगीं। इतने में मैंने झटका देकर बालों का एक गुच्छा सिर से निकाला और फेंक दिया।

मेरी यह चेष्टा देखकर वे घबराईं और भाग गईं। मन निश्चय कर लिया कि अब सिर में एक भी बाल न रहने दूंगा। धीरे धीरे मैंने सारे सिर का लौंच कर लिया। जब मैं लौंच कर चुका तब वे युवतियां एक जनसमूह के साथ फिर आईं। सब हाथ जोड़कर क्षमा मांगने लगीं। पर मैंने एक भी शब्द मुंह से नहीं कहा और वहां से उठकर चला आया।

मेरे आने के बाद उन लोगों ने मेरे बाल बीनलिये और एक निधिकी तरह सबने बांट लिये।

मुझे इससे क्या तात्पर्य? वे चाहे उन्हें जलायें चाहे पूजा करें, चाहे उनसे काम-याचना करें। अब मैं विश्वास करता हूं कि वे अब मुझे छेड़ने का लालच न करेंगीं।

मुझे सम्भवतः ऐसे बहुत से नियम बनाना पड़ेंगे जो साधुता की दृष्टिसे अनिवार्य भले ही न कहे जांय पर आज की उपयोगिता की दृष्टि से जिन्हें पर्याप्त ख्याल देना होगा।

केशलौंच के बाद फिर मैं भिक्षा लेने नहीं गया। रुचि भी नहीं रही थी और लोकाचार की दृष्टिसे भी केशलौंच के बाद भिक्षा लेना ठीक नहीं मालूम हुआ।

२२— अदर्शन विजय

११ बुधी ९४३२ इतिहास संवत

घर छोड़े करीब चार माह होगये, इन चार मासों में इतने कठोर अनुभव हुए जितने पहिले जीवनभर नहीं हुए थे

लोगों में विषय लोलुपता, उद्दण्डता असहिष्णुता आदि दोष बहुत फैल हुए हैं। इन कारणों से लोगों ने मुझे काफी परेशान किया हं। राजकुमार या या राजा बनकर मैं जीवनभर इस परेशानी का अनुभव न कर पाता, तब समाज की चिकित्सा भी क्या करता? आज मेरी पूजा प्रतिष्ठा बिलकुल नहीं है, लोग साधारण जन की तरह मेरे साथ व्यवहार करते हैं या मुझ में जो बाहरी असाधारणता देखते हैं उसे हंसने की, अपमान करने की या आलोचना की ही बात समझते हैं।

कई बार इस बात का विचार आया कि मैं राजकुमार की अवस्था में क्या था और आज क्या हूं? पर ऐसे विचारों को क्षणभर से अधिक मैंने ठहरने नहीं दिया। क्षणभर के लिये होने वाले इस अदर्शन या कुदर्शन को मैंने सत्यदर्शन से जीता है।

साधकके लिये यह बड़ी भारी मानसिक बाधा है कि छोटे से छोटे व्यक्ति उसका अपमान कर जाते हैं और दम्भी नीच असंयमी सन्मानित होते रहते हैं। पर सच्चा साधक इन अपमान के घूटों को बिना मुंह बिगाड़े पीजाता है, जगत की इस अंधेरशाही को हंसकर निकाल देता है। मूढ़ और नासमझ लोग अगर योग्य सन्मान नहीं करते या अपमान करते हैं तो इसमें अपने मन को छोटा करने की जरूरत नहीं है।

आज सवेरे की ही बात है, मेरे सामने गाय बैलों का झुण्ड चला आरहा था। सब मस्तानी चाल से मेरे पास से ही नहीं मुझे घिसते हुए निकल गये किसी ने मुझे रास्ता देने की पर्वाह नहीं की। पर ज्योंही एक सांड आया सबने मैदान साफ कर दिया। तब क्या मैं इसके लिये रोऊंगा कि मेरा सन्मान एक सांड बराबर भी नहीं है? जनता राजाओं का राजकुमारों का, दम्भी ब्राह्मणों का सन्मान करती है और मुझे चार माह से परेशान कर रक्खा है इसकी मुझे चिन्ता नहीं है। जनता मूढ़ है,

दयनीय है उसपर अनुकम्पा ही करना चाहिये।

अल्पदर्शन अदर्शन या कुदर्शन से ही चित्त चलायमान होता है पर सम्यग्दर्शन से वह स्थिर हो जाता है। चार महीने में मुझे इस बात का काफी अनुभव हुए। अदर्शन परिषह विजय पर मुझे काफी विचार सामग्री मिली।

२३-तापसाश्रम में

१६ बुधी ९४३२ इ. सं.

आज दुइज्जंतक तापसों के आश्रम के बाहर एक वृक्ष के नीचे बैठा था कि तापसों के कुलपति अपनी शिष्य मण्डली के साथ वहां से निकले। मुझे भी एक तापस समझकर मेरे पास भी आये। कुलपति वृद्ध थे इसलिये मैंने उठकर और हाथ जोड़कर उनका सन्मान किया। उनने परिचय पूछा। परिचय मिलने पर इकदम हर्षित होकर बोले-तुम तो मेरे भतीजे हो। राजा सिद्धार्थ मेरे मित्र थे। वे कई बार इस आश्रम में आये हैं और आश्रम को भेंट भी देते रहे हैं। तुम इस आश्रम को अपना घर ही समझो और यहीं रहो।

मैंने कहा-अभी तो मेरी इच्छा पर्यटन करने की ही है।

बोले-कोई बात नहीं, इच्छानुसार पर्यटन करो! पर चतुर्मास में तो एक जगह रहना होगा। इस वर्ष का वर्षावास यहीं आकर बिताना।

मैंने कहा-यह ठीक है।

१४ इंगा ९४३२ इ. सं.

ग्रीष्म ऋतु भर इधर उधर विहार करके मैं तापसाश्रम में आगया। कुलपति ने घास की एक झोपड़ी रहने को दे दी। पर आज उस झोपड़ी को गायों ने चरलिया।

प्रारम्भ में थोड़ी वर्षा हुई थी पर इधर वर्षा न होने से गर्मी बहुत बहुत पड़ने लगी है और जमीन में घास भी नहीं दिखाई देती है इसलिये गायों ने झोपड़ियों का सूखा घास चरना ही शुरू कर दिया। दूसरे तापसों ने तो गायों को हकालदिया इस लिये उनकी झोपड़ियाँ बचगई पर मेरी झोपड़ी चरली। मैं अपने विचारों में इतना मग्न था कि मुझे पता ही न लगा कि झोपड़ी गायों ने चरली है। उसका छप्पर वर्षाऋतु के लिये उपयुक्त नहीं रहगया है।

मैंने सोचा तो येही था कि इस टूटे छप्पर के नीचे ही वर्षाकाल निकाल दूंगा। मैं ठण्ड गरमी के समान वर्षा के कष्ट सहने में भी अपने को निष्णात बना लेना चाहता हूँ। पर बात कुछ दूसरी ही होगई। बाहर कुलपति की शिष्य मण्डली मेरे विषय में जो चर्चा कर रही थी वह सुनकर मैं चौंका। वे लोग जानबूझकर इतने जोर से बोल रहे थे कि मैं सुनलूं।

एक बोला-बस! अब आश्रमम एक ही मुनिराज आये हैं जिनने सब आश्रमवासियों को अपना दास समझ रक्खा है।

दूसरा हँसते हुए बोला-भाई वे मुनिराज दीर्घ तपस्वी हैं, इतने कि उनके तपस्तेज से गायें भी नहीं डरतीं और उनकी झोपड़ी चर जाती हैं।

तीसरा बोला-चर न जायँ झोपड़ी, दीर्घ तपस्वी जी को क्या पर्वाह, हम लोग दास जो विद्यमान हैं, बार बार बनादिया करेंगे, आखिर वे कुलपति जी के लाड़ले जो कहलाये।

चौथे को यह व्यंग्यविनोद अपर्याप्त मालूम हुआ, उसने तर्जनी भाषा में कहा-होगा कुलपति का लाड़ला, इससे क्या हमारे सिर पर सवार होगा। हम कुलपति जी से स्पष्ट कह देते हैं कि ऐसे भोंदू मुनिको यहां रखने से क्या लाभ? वह मुनि है तो क्या हम लोग मुनि नहीं हैं?

महाशय जी डौल तो ऐसा करते हैं मानो आप तीर्थंकर बनने वाले हों।

अरे गायें तो सम्हलतीं नहीं तीर्थ क्या सम्हलेगा और क्या बनेगा ?

वह तीर्थंकर बने चाहे भगवान, अपनी दम पर बने। हमारे ऊपर सवार होकर नहीं।

इसप्रकार पर्याप्त आलोचना होने के बाद वे लोग कुलपति के पास गये। थोड़ी देर में कुलपति आगये। बोले-

वत्स, यह क्या बात है ? तुमसे झोपड़ी की भी रक्षा न हुई ? तुम्हारे पिता तो चारों आश्रमों की रक्षा करते थे। दुष्टों को दंड देना और अनधिकार चेष्टा रोकना तो तुम्हारा व्रत होना चाहिये। तुम्हारे पिता की मित्रता के नाते मैं विशेष कुछ नहीं कहता पर आगे से ऐसा प्रमाद न होना चाहिये

कुलपति ने जो कहा ठीक ही कहा। आश्रमकी व्यवस्था की दृष्टि से उन्हें ऐसा ही कहना चाहिये था। फिर भी मैं यह सोचता हूं कि यहां रहने से न मैं इन्हें कुछ दे सकूंगा, न मैं इनसे कुछ लेसकूंगा। मेरे जीवन का ध्येय, मेरी महत्ता ये समझ नहीं सकते। मेरे तीर्थंकरत्व का ये मजाक उड़ाते हैं। ये नहीं जानते कि इसीके लिये तो मैं अहर्निश तैयारी करता रहता हूँ, तपस्या करता रहता हूँ, अनुभव बटोरता रहता हूँ, वितर्क और विचार में लीन रहता हूँ। गायों की रखवारी करने की मुझे फुरसत कहां है ?

पहिले मैं सोचता था कि कुलपति पूर्वपरिचित होने से सहायक होगा पर अब यह सोचता हूं कि पूर्वपरिचित जन ही विकास में सब से बड़ी बाधा हैं। यह ठीक ही है। अपने साथी या परिचित को आगे बढ़ते देखकर पीछे रहजाने का अपमान सहने को कौन तैयार होगा ? उनकी तो चेष्टा ही यही होगी कि

परिचित की महत्ता किसी तरह बढ़ न जाय। अगर बढ़ भी जाय तो उस महत्ता को ये किसी तरह स्वीकार न करेंगे बल्कि झूठे सच्चे बहानों से उसको घटाने की चेष्टा करेंगे निन्दा करेंगे। सारी शक्ति लगाकर भी अगर वे महत्ता न घटा सकेंगे तो अन्तमें उस महत्ता का श्रेय लूटने की कोशिश करेंगे, उसके निर्माण में अपने सहयोग के गीत गाते फिरेंगे, इस तरह तीर्थ रचना और जन जागृति के काम म हर तरह अड़ंगे डालेंगे। परिचितों के कार्य होते हैं विकास में बाधा डालना, निन्दा करना, हितैषी बनकर साहस नष्ट करना और सफलता में सारा या अधिक से अधिक श्रेय लूट लेना।

मुझे कुलपति से कुछ सीखना नहीं है, तीर्थंकर बनने वाला व्यक्ति श्रुतिस्मृति के बलपर ज्ञान प्राप्त नहीं करता, वह इस प्रकृति को इस संसार को ही बड़ा वेद मानता है। मैं उसी का अध्ययन कर रहा हूं। चार मास एकान्त में निराकुलता से रहकर मैं यही कार्य यहां करना चाहता था पर अब यहां न रहूंगा।

इस घटना ने मुझे बहुतसी बातें सिखाई हैं।

पहिली बात यह है कि पूर्व परिचितों के सम्पर्क में न रहना। इससे साधना में बाधा ही नहीं पड़ती किन्तु परिचितों का अधःपतन भी होता है।

दूसरी बात यह कि जहां क्लेश हो वहां न रहना। भले ही वह क्लेश चाहे शब्दों से प्रगट हो चाहे उपेक्षा पूर्ण चेष्टाओं से। इससे उन लोगों को दुःख तो होता ही है साथ ही सत्य का, धर्म का, अपमान भी होता है, और उन्हें पापी बनना पड़ता है।

तीसरी बात यह कि अपात्र का विनय न करना। अपात्र

का विनय करने से उसमें अहंकार जागता है, वह सत्य का अपमान करने को तैयार हो जाता है. सत्य को ग्रहण करने की उसकी क्षमता नष्ट हो जाती है, वह असत्य में सन्तोष का अनुभव करने लगता है।

चौथी बात यह कि कम से कम बोलना। अत्यावश्यक होने पर या किसी की प्रेरणा पाने पर ही बोलना।

पांचवीं बात यह कि हाथमें ही आहार लेना। पात्रमें आहार लेने से, पात्र लटकाये रहने से, झंझट बढ़ती है या जिसके यहां भोजन करो उसे पात्र के लिये परेशान होना पड़ता है। कुलपति के शिष्यों को इसके लिये भी कुछ परेशान होना पड़ा इसलिये भी उनके मन में खेद होगया।

यद्यपि चातुर्मास शुरु होचुका है फिर भी मैंने विहार करना निश्चित कर लिया है। क्योंकि वर्षामें विहार के पाप से यहां के क्लेश का पाप अधिक है।

२४ – शूलपाणि यक्ष का मन्दिर

१५ इंगा ६४३२ इ. सं.

तापसाश्रम से निकलकर मैं अस्थिक ग्राम में आया। ज्ञात हुआ कि अस्थियों के ढेर पर यहां शूलपाणि यक्ष का मन्दिर बना हुआ है। इसी मन्दिर में वर्षा ऋतु बिताने का मैंने विचार किया। गांववालों से अनुमति मांगी तो उनने कहा– आपको ठहरने के लिये दूसरा स्थान हम बतादेते हैं, यहां पर ठहरना तो मौत के मुँह में जाना है।

जब मैंने विशेष कारण पूछा तब उन लोगों ने एक कहानी सुनादी। बोले-एक बार धनदेव नामका व्यापारी पांचसौ गाड़ियों में किराना भरकर यहां से निकला। वेगवती नदीमें

कीचड़ होने से बैलों को बड़ा कष्ट हुआ। एक बैल के मुँह में से तो रुधिर निकल पड़ा। तब उस व्यापारी ने गांववालों को वह बैल सौंप दिया और उसके खाने के लिये धन भी दे दिया, और वह चला गया। पर गांववालों ने उसका धन तो रख लिया पर बैल को खाने न दिया बैल भूखसे मरकर यक्ष होगया। तब उस यक्ष ने गांव में ऐसी महामारी फैलाई कि मृतकों का दाहकर्म करना भी कठिन होगया। लोग यों ही मृतकों को मैदान में फेंकने लगे और वहां अस्थियों का ढेर लगगया। इससे इस गांव का नाम अस्थिक होगया।

हम लोग गांव छोड़कर भागे तो वहां भी महामारी साथ गई। ज्योतिषियों से बहुत पूछा, गृहदेवियों की पूजा की, पर महामारी न गई। तब ज्ञानदादा ने कहा कि तुम लोगों ने जो बैल का धन खाया था उसीके पाप से यह सब हुआ है। वह बैल यक्ष हुआ है और हाथमें पैना शूल लिये घूमा करता है, उसी शूलपाणि यक्ष के नामसे तपस्या करो ! पूजा करो ! तब वह यक्ष प्रसन्न होगा।

ज्ञानदादा के कहने के अनुसार हम लोगों ने उपवास किये, केवल फलहार पर रहे, गरम पानी पीने लगे, नगर की सफाइ की और उसे सजाया, सब हड्डियाँ उठवाकर एक जगह गड्ढेमें भरदीं और उस पर यक्ष का मन्दिर बनवा दिया, खूब पूजा की, तब कहीं यक्षराज प्रसन्न हुए और महामारी दूर हुई। लेकिन यक्षके डर से इस मन्दिर में रातमें कोई नहीं रहता। एक बार एक आदमी रात में रहने से मरगया था। तब से लोग शाम को ही यहां से चलेजाते हैं।

सारी कहानी सुनकर मैं मन ही मन खूब हँसा। जनता के अन्धविश्वास और मूर्खता पर खेद भी हुआ। कहानी का रहस्य तो कहानी सुनते सुनते ही ध्यान में आगया था। लोग

जब उपवास करेंगे, गरम पानी पियेंगे, सफाई करेंगे तो कोई बीमारी किस दम पर रहेगी ?

मैंने हँसकर पूछा-अब तुम लोग किसी का धन तो नहीं मारते, जैसे उस बैल का मार लिया था ?

वे- नहीं महाराज, अब तो बहुत डरकर रहते हैं।

मैं- अच्छा तो मैं उस यक्ष को समझा दूंगा, नहीं मानेगा तो पराजित करके भगा दूंगा। तुम सब जाओ ! मैं रातको इसी मन्दिर में रहूँगा।

मुँह पर चिन्ता का रंग पोतते हुए वे चले गये।

मैं रातभर निर्भयता से सोया। पिछली रात मुझे बहुत से स्वप्न आये और मैं जागगया।

प्रातःकाल जब लोग आये और अुनने मुझे जीवित देखा तब बड़ा आश्चर्य हुआ और प्रसन्न भी खूब हुए। यहां के ज्योतिषी ने स्वप्नों का फल ऐसा बताया कि सारा गांव मेरा भक्त होगया।

मेरा यह चातुर्मास काफी निराकुलता से बीता।

मेरे मनमें यह बार बार आया कि यक्ष की कल्पितता का रहस्य इन्हें बता दूँ, पर यह सोचकर रहगया कि पहिले तो इनका अन्धश्रद्धालु हृदय विज्ञान की इतनी मात्रा पचा न पायगा, दूसरे यह कि यक्ष का भय निकल जाने से ये लोग फिर दूसरों का धन मारने लगेंगे। इसप्रकार इस तथ्य को असत्य समझकर प्रगट न किया।

२५– दम्भी का भण्डाफोड़

३ सत्येशा ९४३३ इ. सं.

लोकहित की दृष्टि से यक्ष की घटना का रहस्य तो मैंने नहीं बताया फिर भी मेरे मन में यह अभिलाषा बहुत तीव्र हुई कि जो पाखण्डी मंत्र तंत्र के बलपर लोगों को ठगते हैं और ठगना ही जिनकी जीविका है ऐसे लोगों का भण्डाफोड़ करूं। जब मैं मोराक के तापसाश्रम में था तब अच्छदक नाम के एक धूर्त के बारे में बहुत सुना था। वह व्यभिचारी था चोर था और अपनी स्त्री को सदा पीटा करता था। फिर भी भविष्यदर्शी के नाम पर गांवभर में पुजरहा था। लोग दैववादी बनकर भविष्यवाणियों के चक्कर में पड़कर पुरुषार्थहीन बनते हैं, इस प्रकार के धूर्तों का पेट भरते हैं और धन तथा धर्म से हाथ धोते हैं।

अच्छंदक के पापों की दो एक घटनाएँ मुझे भी मालूम हैं। एक दिन भिक्षा से लौटते समय मैंने उसे चोरी का माल जमीन में गाड़ते देखा था, एक दिन तो उसने एक मेढ़ा ही चुराकर खालिया था और हड्डियाँ जमीन में गाड़ दी थीं। इन दो घटनाओं के आधार से मैंने अच्छंदक के भण्डाफोड़ का विचार किया। इसीलिये मैं फिर मोराक आया। तापसाश्रम में जाने की आवश्यकता तो थी नहीं, सीधे गांव में गया।

गांववाले मुझे पहिचानते नहीं थे। तापसाश्रम से भिक्षा लेने कभी आया भी था तब अन्य तापसों से अलग मैं नहीं पहिचाना गया। अच्छंदक का भण्डाफोड़ करने के लिये यह परिस्थिति काफी अनुकूल थी।

जब मैं गांव किनारे पहुँचा तब मुझे एक ग्वाला मिला। यहां के ग्वाले क्या खाते हैं यह मुझे मालूम ही था। इसलिये मैंने कहा–आज तूने कंगकूर का भोजन किया है।

ग्वाला अचरज में पड़गया। बोला-हां महाराज। पर आपको कैसे पता लगा ? आप तो बड़े ज्ञानी मालूम होते हैं!

मैंने मुसकरा दिया और फिर कहा—तू सपने में रोया क्यों करता है ?

अब तो ग्वाला मेरे पैरों पर गिर पड़ा। बोला-आप देवार्य तो घट घट की बातें जानते हैं।

इसके उत्तर में भी मैंने मुसकरादिया।

वह गांव की तरफ दौड़ा गया। दो एक साधारण बातों से वह इतना प्रभावित हुआ कि वह मुझे त्रिकालवेत्ता समझने लगा। लोग इतने मूढ़ हैं कि थोड़े से चतुर आदमी को सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी आदि सब कुछ समझ डालते हैं। मैं चाहता हूँ कि इन मूढ़ों का यह अन्धविश्वास हटा दूं, अगर पूरी तरह न हटा सकूं तो इतना तो कर ही दूं कि ये धूर्तों के शिकार न हुआ करें, अन्धविश्वास का अुपयोग धर्म सदाचार आदि को पाने और स्थिर रखने के काममें किया करें।

थोड़ी देर में वह ग्वाला गांव की भीड़ लेकर मेरे पास आया। मैंने इधर अुधर की साधारण बातें सुनाकर अुन सब को प्रभावित कर दिया। ये लोग इतने मूर्ख और सहज श्रद्धालु हैं कि कोई भी चतुर आदमी इनके सामने सर्वज्ञ बनसकता है। इनकी बातें सुनकर ही उन्हीं के आधार से बहुतसी बातें ऐसी कहीं जासकती हैं कि ये प्रभावित हो जाते हैं। मैंने भी यही किया।

एक बोला-देवार्य तो अच्छंदक गुरु की तरह अब बातें बनाते हैं।

मैंने कहा-वह तो धूर्त है, तुम लोगों को ठगकर जीविका करता है, वह कुछ नहीं जानता।

लोग चकित होकर चले गये। थोड़ी देर बाद अच्छंदक को साथ लेकर आये। वह मुझे पराजित करने आया था। उसने एक घासका तिनका हाथमें लेकर पूछा-इसके टुकड़े होंगे कि नहीं? उसने सोचा कि यह देवार्य हां कहेगा तो टुकड़े न करूंगा, न कहेगा तो करदूंगा।

पर मैंने उत्तर दिया-इसके टुकड़े एक बैल करेगा। मेरी बात सुनकर जनता हँस पड़ी। अच्छंदक ने भी यह सोचकर तृण फेंक दिया कि मैं टुकड़े करूंगा तो बैल कहलाऊंगा। जनता ने यह सोचकर सन्तोष किया कि सचमुच कोई बैल ही इसके टुकड़े करेगा, अच्छंदक नहीं। देवार्य ने ठीक भविष्यवाणी की है।

अब मेरी बारी थी। मैंने कहा-यहां कोई वीरघोष है।

वीरघोष वहीं बैठा था। उसने कहा--उपस्थित हूँ देवार्य।

मैंने कहा-ग्रीष्म ऋतु में तेरा कोई पात्र चोरी गया था?

वीरघोष ने कहा--गया था देवार्य, पर उसका अभी तक पता नहीं लगा।

मैंने कहा-बताओ अच्छंदक, वह कहां है?

अब अच्छंदक क्या बताये? अपनी चोरी कैसे खोलदे। इसके बाद मैंने पूछा-यहां कोई इन्द्रशर्मा है?

इन्द्रशर्मा हाथ जोड़कर बोला-जी हां! मैं हूं।

मैंने पूछा-क्या पहिले तेरा मेढ़ा खोया गया था।

उसने कहा-जी हां!

मैंने कहा-बताओ अच्छंदक वह कहां है?

अच्छंदक का मुँह उतर गया। तब मैंने कहा--देख

वीरघोष, अच्छंदक ने ही तेरा पात्र चुराया है। तू जा, और अपने घर की पूर्व दिशा में जो एक बड़ा झाड़ है उसके नीचे हाथभर जमीन खोद, सब पता लग जायगा।

फिर इन्द्रशर्मा से कहा-अच्छंदक ने ही तेरा मेढ़ा मार कर खालिया है। अब मेढ़ा तो मिल नहीं सकता लेकिन उसकी हड्डियाँ बेरी के झाड़ के पास गड़ी हुई अब भी मिल सकती हैं।

वीरघोष और इन्द्रशर्मा कुछ आदमियों के साथ अपनी अपनी जगह खोदने चले गये। अच्छंदक का मुँह जरा सा रह गया, लोगों की घृणापूर्ण दृष्टि उसपर पड़ने लगी। इसके बाद लोगों ने कहा-और भी कोई बात बताइये देवार्य, अच्छन्दक ऐसा पापी है इसकी हमें कल्पना तक नहीं थी।

मैंने- एक बात ऐसी है जिसको मैं नहीं कहना चाहता, उसकी पत्नी बतायगी, क्योंकि वह बात अच्छंदक के शील से सम्बन्ध रखती है।

घबराकर अच्छंदक उठकर भागा, लोग भी उसके पीछे दौड़े। घर जाकर लोगों ने उसकी पत्नी से पूछा। पत्नी ने कहा यह व्यभिचारी है, एक नाते की बहिन के साथ यह व्यभिचार करता है। दिनमें उसे बहिन बहिन कहता है और रात में व्यभिचार करता है। मुझे तो यह पूछता भी नहीं!

गांव भर में अच्छंदक का धिक्कार होने लगा। दो दिन वह घर के बाहर न निकला, तीसरे दिन उषाकाल के समय वह एकान्त में मेरे पास आया और रोता हुआ बोला-भगवन्, आप मुझ पर दया करके चले जाइये! नहीं तो मैं मर जाऊंगा।

मैंने कहा-अच्छंदक पर तो मैं दया कर सकता हूं पर अच्छंदक के पापों पर नहीं कर सकता।

अच्छंदक-पर आज से मैं वे सब पाप छोड़ता हूं भगवन्, न मैं चोरी करूंगा न व्यभिचार करूंगा।

मैं-पर पत्नी के साथ मारपीट तो करोगे।

अच्छंदक-नहीं भगवन्, अब उसके साथ मारपीट करने की मेरी हिम्मत ही नहीं है। मैंने शपथ ले ली है कि मैं उसके ऊपर उंगली भी उठाऊं तो उंगली पर इन्द्र का वज्र पड़े।

मैं-पर झूठी भविष्यवाणियां सुनाकर लोगों को ठगते तो रहोगे।

अच्छंदक-अब उसकी भी सम्भावना न रही भगवन्! अब तो गांव मुझपर विश्वास नहीं करता। मैं वह सब छोड़ दूंगा। जो कुछ ज्योतिष का मुझे थोड़ा बहुत ज्ञान है उसीसे मुहूर्त आदि बतादिया करूंगा। अब तो भूखों मरने की बारी आगई है भगवन्!

मुझे अच्छन्दक पर दया आगई। मैंने उससे कहा-मैं आज ही चला जाऊंगा और लोगों को समझाऊंगा कि वे तुम्हें भूखों न मरने दें। अच्छन्दक प्रणाम कर चला गया।

अच्छन्दक के चलेजाने पर लोग मेरे पास आये। मैंने कहा-अच्छन्दक ने अब अपने पाप छोड़ दिये हैं और तुम लोगों को न ठगने की भी प्रतिज्ञा ली है इसलिये अब तुम लोग उसे भिक्षा देते रहना।

अच्छंदक के हृदय-परिवर्तन के लिये इतना अवसर उपयोगी होगा।

---

२६ — वस्त्र छूटा

३० सत्येशा ९४३३ इ. सं.

आज मैं दक्षिण चावाल से उत्तर चावाल की तरफ जारहा था। सुवर्ण वालुका नदी के किनारे कटीली झाड़ियों के बीचमें मार्ग चलने में बड़ी कठिनाई मालूम हुई। मैं बहुत सम्हल सम्हल कर चल रहा था कि एक गड्ढ के कारण लम्बा कदम भरना पड़ा। मैं तो आगे बढ़गया पर मेरा वस्त्र कांटों की एक झाड़ी में बुरी तरह फँसकर रहगया। मैं कांटों में से वस्त्र निकालने के लिये लौटा पर वस्त्र कांटों में इतनी जगह फसगया था कि जल्दी न निकला। वस्त्र निकालते निकालते मेरे मनमें विचार आया कि आखिर यह जंजाल क्यों? मैं अपनी गति को अप्रतिहत रखना चाहता हूँ, वस्त्र अगर उसमें बाधा देता है तो वह भी जाय। यह विचार आते ही मैंने हाथ खींच लिया। वस्त्र वहीं रहने दिया। यद्यपि मैं मानता हूँ कि हर एक साधु को वस्त्र त्याग अनिवार्य नहीं है फिर भी मैंने वस्त्र न रखने का ही निश्चय कर लिया है।

२७ अहिंसा की परीक्षा

४ मम्मेशी ९४३३ इ. सं.

मैं श्वेताम्बी नगरी तरफ जारहा था कि एक जगह मार्ग को दो भागों में विभक्त देखा। मैं निश्चय न कर सका कि इनमें से श्वेताम्बी का मार्ग कौन है? पास में कुछ ग्वाल बालक खेल रहे थे। मैंने उनसे पूछा तो उनने कहा–दोनों ही मार्ग श्वेताम्बी की तरफ जाते हैं। पर बायें हाथ की पगडंडी से श्वेताम्बी निकट है और दाहिने हाथ के मार्ग से काफी चक्कर है।

मैंने कहा–पर बायें हाथ की पगडंडी अधिक चलती नहीं

मालूम होती, दाहिना मार्ग ही अधिक चलता है इसका कारण क्या ?

छोटे बालक एक दूसरे का मुँह ताकने लगे, पर उनमें से एक बड़ा बालक बोला—बायें हाथ की पगडंडी में बड़ा संकट है देवार्य, इस पथमें एक भयंकर नाग मिलता है जो पथिकों को काट खाता है। इसप्रकार कई पथिकों को वह मार चुका है इसलिये यह पथ बहुत चलता नहीं है।

सोचने के लिये मैं क्षणभर रुका फिर उसी पगडंडी की तरफ मुड़ा।

पर बड़ा बालक बोला—आप देवार्य उस पथ से न जायँ, कुछ देर तो लगेगी पर दाहिना मार्ग ही पकड़ें! नागराज के कोप से बचें।

मैंने कहा—चिन्ता न कर बच्चे, नागराज अहिंसक का कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

यह कहकर मैं उसी संकटापन्न मार्ग से आगे बढ़ा। अपनी अहिंसा की परीक्षा का यह शुभ अवसर छोड़ना मैंने उचित नहीं समझा। मनुष्य के बारे में संदेह रह सकता है कि अहिंसा का प्रयोग सफल होगा या नहीं, क्योंकि मनुष्य इतना वक्र है कि उसकी मनोवृत्ति का पता लगाना कठिन है पर मनुष्येतर प्राणियों के बारे में अहिंसा के प्रयोग सरलता से किये जासकते हैं। अगर हम अहिंसक होकर वीतराग मुद्रा से रहे तो जानबूझकर कोइ मनुष्येतर प्राणी हमें न सतायगा। व्याघ्रादि जिन पशुओं के लिये मनुष्य भक्ष्य है उनकी बात दूसरी है। पर वे भी मनुष्य को तभी खाते हैं जब बहुत भूखे हों और दूसरा खाद्य मिल न सकता हो। बाकी जिनके लिये मनुष्य भक्ष्य नहीं है वे अहिंसक मनुष्य को कभी नहीं छेड़ते। सर्प के लिये मनुष्य

भक्ष्य नहीं है इसलिये अहिंसा के द्वारा सर्प से बचना सरल है। हां! कोई कोई सर्प होते हैं जो दौड़कर भी मनुष्य को काटते हैं। यह नागराज भी ऐसा ही मालूम होता है, पर इस आक्रमण का कारण भी भ्रमवश शत्रुता की कल्पना है। सच्चा अहिंसक अपनी मुद्रा से सर्प के मनमें यह कल्पना भी पैदा नहीं करने देता है। भय भी वैर की निशानी है। हां! अशक्तिपूर्ण वैर की निशानी है इसलिये अहिंसक भय भी नहीं रखता।

अहिंसा के बारे में जो मेरे ये विचार हैं उन्हें आजमाने का यह अवसर जानकर मैं आगे बढ़ा। हां! ईर्यासमिति से आगे बढ़ा। अहिंसा की परीक्षा में ईर्या समिति अर्थात् देख देख कर चलना जरूरी है। क्योंकि मनमें अहिंसकता रहनेपर भी अगर अजानकारी से किसी जन्तुपर पैर पड़जाय तो वह उसे आक्रमण ही समझकर प्रत्याक्रमण करेगा। इसप्रकार अहिंसा की साधना निष्फल जायगी। प्रमाद भी अहिंसा की साधना को नष्ट कर देता है।

थोड़ी दूर जानेपर दूर से ही मुझे वह सर्प दिखाई दिया। अकस्मात् की बात कि वह मेरी तरफ ही आरहा था। ऐसी हालत में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि मुझे अपनी तरफ आता देखकर वह भ्रम से मुझे शत्रु समझे इसलिये मैंने उसकी तरफ जाना ठीक न समझा। अगर मैं पीछे लौटता तो वह मुझे डरपोक शत्रु समझता तब मेरा जीना मुश्किल होजाता। क्योंकि प्राणी सबल की अपेक्षा निर्बलपर अधिक जोर करता है। निर्बल के आगे उसका आत्माभिमान उद्दण्ड होजाता है।

इन सब विचारों से न मैं आगे बढ़ा, न पीछे हटा, किनारे ध्यान लगाकर खड़ा होगया।

सर्प आया, मुझे देखा और फण उठाकर खड़ा होगया।

पर मुझमें कोई अस्थिरता न देख पाया। तब वह आगे बढ़ा और मेरी बाईं ओर आगया। फिर फण उठाकर मुझे देखने लगा। स्थिर देखकर विशेष परीक्षा के लिये फुसकारा। इतने पर भी मुझमें कोई विकृति न देखकर मेरे बिलकुल पास आगया। इसके बाद अुसने मेरे दो तीन चक्कर काटे फिर भी मुझे निश्चल पाया। तब वह मेरे पैरों को स्पर्श करता हुआ दो तीन बार इधर से अुधर उधर से इधर घूम गया। अन्त में मुझे बिलकुल निरुपद्रव समझकर मेरे चारों तरफ घूमघामकर चलागया।

अहिंसा की परीक्षा सफल हुई। इस सफलता का मुख्य कारण यह था कि सर्प के बारे में मेरा हृदय वत्सलता से परिपूर्ण था। मेरे हृदय में सर्प के बारे में ऐसे ही विचार आते रहे जैसे किसी अनाड़ी बच्चे के बारे में किसी मां के मन में आते रहते हैं। मैं मन ही मन सर्प से कहने लगा—वत्स, शान्त रह, निर्भय रह, जगत् का बुरा न कर, जगत तेरा बुरा न करेगा।

सर्प बेचारा मेरे मनकी बात क्या सुनता और मेरी भाषा भी क्या समझता ? पर मन की भावनाएँ मुख-मण्डल पर विशेष आकृति के रूप में जो लिख जाती हैं अुन्हें कोई भी पढ़ सकता है। सर्प ने भी मेरी मुखाकृति को पढ़ा होगा और इसी कारण मैं अहिंसा की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ।

२८—शुद्धाहार

२० सम्मेशी ९४३२ इ. सं.

उत्तर चात्राल ग्राम के बाहर नागसेन श्रेष्ठी का भवन है। उसके घर कोई महोत्सव होरहा था। मैं भीड़भाड़ से बचने के लिये किनारे से निकल जाना चाहता था पर नागसेन ने मुझे देखलिया। नागसेन मुझे पहिचानता तो था नहीं, पर मेरी

नग्नता देखकर ही उसने न जाने कितनी पवित्रता देखली। इसीलिये दौड़ा दौड़ा मेरे पास आया। बोला-भगवन् आपकी कृपा से कई वर्ष में अकस्मात मेरा पुत्र घर आया है, उसका महोत्सव है; पर आप सरीखे महाश्रमणों के पैर पड़े बिना न तो मेरा घर पवित्र होसकता है. न उत्सव की शोभा होसकती है. इसलिये पधारिये, आहार लेकर मेरा घर पवित्र कीजिये।

मैंने कहा नागसेन, किसी के आहार करने से घर पवित्र नहीं होता. घर पवित्र होता है मन पवित्र होने से, और मन पवित्र होता है पवित्र व्यक्ति के गुणों का विशेष परिचय होने से, उसके विषय में विशेष आदर होने से, और उसके गुणों की तरफ अनुराग होने से। पर आज जैसी तुम्हारे यहां भीड़-भाड़ है उसमें तुम्हें इतना अवकाश नहीं है कि तुम मन पवित्र करसको ! मैं ऐसी भीड़भाड़ में आहार लेना पसन्द नहीं करता।

नागसेन-नहीं भगवन् मुझे पूरा अवकाश है; आनेवालों की भीड़भाड़ जितनी है. सम्हालनेवालों की भीड़भाड़ भी उसके अनुरूप है। इसलिये मेरे मन को पर्याप्त अवकाश है भगवन् ! आप अवश्य पधारें भगवन्, आज मैं किसी तरह भी यह अलभ्य लाभ न छोडूंगा।

शब्दभाषा के साथ स्वर चेष्टा और मुखाकृति से भी उसने इतना अनुनय विनय किया कि मैंने समझा कि यदि मैं न जाऊंगा तो इसके मनको काफी चोट पहुँचेगी। इसलिये मैं चलागया।

मेरे सामने एक से एक बढ़कर मिष्टान्नों, और व्यञ्जनों के थाल सजाकर रखादिये गये। पर उनकी गंधसे तथा उनकी आकृति देखकर मैं समझगया कि इन सबों में किसी न किसी रूप में मांस मिला हुआ है। जिन्हें देखकर दूसरों के मुँह में

पानी भर आता है अुन्हें देखकर मैं सिहर उठा।

थालों के भीतर मुझे मिष्टान्न नहीं, व्यञ्जन नहीं, किन्तु जानवरों के करुण दृश्य दिखाई देने लगे। मैंने देखा हरिण हरिणी का जोड़ा आपसमें किलोलें कर रहा है इतने में व्याध के बाण से हरिण घायल होकर गिर पड़ा है। हरिणी कातर नयनों से अश्रु बहारही है। मेरी आंखें बन्द होगई और मनही मन में आंसू बहाने लगा।

मुझे ध्यानस्थ सा देखकर पहिले तो नागसेन शान्त रहा, उसने समझा भोजन के पहिले मैं किसी इष्ट का ध्यान कर रहा हूँ पर जब मेरे मुँह से एक आह निकली तब वह चौंका, बोला-क्या सोचरहे हैं भगवन्, आहार ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये।

मैंने कहा-नागसेन, पेट के लिये मैं अपनी सन्तान और भाइ बन्धुओं को नहीं खासकता।

नागसेन कुछ न समझ सका, नासमझीमें घबराकर बोला-मैं अज्ञानी हूं भगवन, कोई अपराध हुआ हो तो क्षमा करें! मैंने जानबूझकर कोई अविनय नहीं किया है भगवन, अपनी सन्तान और भाई बन्धुओं को कौन खासकता है भगवन, आपकी बात का तात्पर्य मैं समझ नहीं सका भगवन! आहार ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें भगवन्!

नागसेन की व्याकुलता देखकर तथा टूटी कड़ियों सरीखी उसकी बातें सुनकर मैं चिन्ता में पड़गया। आहार ग्रहण न करने से इसके मनको कितनी चोट पहुँचेगी इसका बड़ा करुण चित्र मेरी आंखों के आगे नाचने लगा। फिर भी मेरा निश्चय था कि अशुद्धाहार किसी भी अवस्था में मैं न लूंगा। मैंने कहा-पशुपक्षी भी हमारे भाई बन्धु या सन्तान के समान हैं

नागसेन, भले ही वे छोटे भाई हैं पर क्या इसीलिये उन्हें मार कर खाजाना चाहिये ?

नागसेन थक होकर रहगया। क्षणभर उसके मुंह से एक शब्द न निकला, फिर सम्हलकर बोला-ऐसा सूक्ष्म विचार तो आज तक किसी श्रमण ब्राह्मण के मुंह से नहीं सुना भगवन् ।

मैं-सुनने का समय नहीं था नागसेन ! कृषि का विकास न होसकने से और पशुओं के उपद्रव की बहुलता होने से यह सूक्ष्म विचार सुनने को कोई तयार नहीं था नागसेन, पर अब परिस्थिति बदलगई है, पशुओं की हमें जरूरत है और अन्न से सारी जनता पेट भर सकती है, ऐसी अवस्था में पीढ़ियों से जो क्रूरता हिंसा हम करते आये हैं उसे त्यागना होगा, पशुओं के साथ भी कौटुम्बिकता निभाना होगी ।

नागसेन के मनपर मेरी बातों का प्रभाव पड़ा। वह भक्ति से हाथ जोड़कर बोला-धन्य है भगवन्, आपकी दया अनन्त है, कौटुम्बिकता असीम है। ऐसे महाभाग के पधारने से मेरी सात पीढ़ियाँ तरगईं। भगवान के लिये मैं अभी दूसरा पवित्र निरामिष भोजन तैयार कराता हूँ, जिस ढंग से, और जो कहिये वह ।

मैंने कहा-नागसेन, सच्चा श्रमण समाज के लिये बोझ नहीं होता। वह समाज को कोई विशेष कष्ट पहुँचाये बिना शरीरस्थिति के लिये कुछ ईंधन लेलेना चाहता है। वह बचे खुचे से गुजर कर लेना चाहता है इसलिये वह अदिष्ट त्यागी होता है। तुम मेरे लिये जो भोजन तैयार करोगे वह मेरे लिये अग्राह्य होगा इसलिये मेरे लिये भोजन बनाने तैयारी न करो।

मेरी बात सुनते ही नागसेन की आंखें डबडबा आईं, उसके ओठ कांपने लगे पर रुलाई का धक्का न सहपाये, नागसेन

रोने ही लगा, विलाप करने लगा-"मैं बड़ा अभागी हूं, आज मेरे द्वार से महाश्रमण भूखे लौट जाने वाले हैं। धिक्कार है मेरी इस सम्पत्ति को! जिससे महाश्रमण का आहार भी नहीं होसकता; धिक्कार है मुझे! जो घर आये हुए महाश्रमण को भोजन भी नहीं देसकता। मेरे जन्मसे क्या लाभ? मैं पैदा होते ही क्यों न मरगया!" इस के बाद वह हिलक हिलक कर रोने लगा। उसके बच्चे भी रोने लगे, और पत्नी भी रोने लगी। मुझे ऐसा मालूम हुआ मानों मैं रुदन के समुद्र में डूब जाऊँगा।

मैंने इस रुदन समुद्र में तैरने के लिये हाथ चलाने के समान हाथ उठाकर धीरज रखने का संकेत किया। और जब वे सब के सब मेरी ओर उत्सुकता से देखने लगे तब मैंने कहा- तुम लोग दुःखी न होओ! मैं तुम्हारे यहां से निराहार न जाऊंगा। यह ठीक है कि इन थालों में रक्खा हुआ भोजन मैं नहीं लेसकता, और अपने लिये नया भोजन भी तयार नहीं करा सकता, पर गुड़ लेकर पानी पीसकता हूँ, दूध हो तो दूध भी लेसकता हूं।

नागसेन की पत्नी बोली-तो दूध लें देवार्य, मलाई लें देवार्य, हमें भाग्यवान बनायें देवार्य।

मैंने कहा-मलाई रहने दे बाई, दूध ही ले आ। इन्द्रियों की पूजा नहीं करना है शरीर को ईंधन देना है।

अन्तमें मैंने दूध लिया। दूध इतना स्वादिष्ट और गाढ़ा था कि उसे शरीर का ईंधन ही नहीं कहा जासकता, इन्द्रियों की पूजा-सामग्री भी कहा जासकता है। पर मैंने इन्द्रियों की पूजा नहीं की, ईंधन समान समझकर ही उसे लिया।

मेरे भोजन लेलेने से उन सब को बड़ा सन्तोष हुआ। अतिथि गण भी धन्य धन्य कहने लगे। कोई कोई 'अहोदान अहोदान' बोलने लगे। नागसेन तो प्रसन्न होकर कहने लगा-आज मेरे घर में जैसी वसुधारा हुई वैसी कभी नहीं हुई, कभी नहीं हुई।

२९—सत्कार विजय

१३ बुधी ९४३३ इ. सं.

सोचा तो मैंने यही था कि श्वेताम्बी नगरी में ही चौमासा करूंगा क्योंकि सुना था कि यहां का प्रदेशी राजा बड़ा धर्मात्मा है सो सचमुच वह बड़ा धर्मात्मा विनीत और सेवाभावी है। जिस दिन मैं इस नगरी में आया उसी दिन चौथे पहर प्रदेशी राजा मुझसे मिलने आया। उसे यह पता लगगया था कि मैं एक क्षत्रिय राजकुमार हूं जो तपस्या के लिये वैभव छोड़कर विहार कर रहा हूँ। इसलिये मेरा उसने वह सत्कार किया जो शायद ही किसी श्रमण ब्राह्मण को मिलता है। अपने अन्तःपुर मन्त्रीवर्ग और सचिव वर्ग, नगर का श्रीमन्तवर्ग और योद्धावर्ग को लेकर वह मेरी वंदना को आया। मेरे चारों तरफ इतने महर्द्धिक आदमी इकट्ठे होगये कि साधारण जनता मेरे पास आने का साहस न दिखलासकी।

राजाने मुझसे अनुरोध किया कि मैं इसी नगरी में चौमासा करूं। मैंने वचन तो नहीं दिया, ऊपर से इतना ही कहा कि समय आने पर देखा जायगा। पर भीतर ही भीतर यह इच्छा थी ही कि यहां चातुर्मास करने से सब तरह का सुभीता रहेगा। खैर! मैं यहां रहने लगा। नगर में सन्मान बहुत था और चूंकि बड़े बड़े महर्द्धिक मेरा सन्मान करते थे इसलिये मुझे देखते ही सारा नगर डर जाता था। मेरे ज्ञान में अनुराग किसी को न था और अभी मैंने वह ज्ञान पूरी तरह प्राप्त भी नहीं किया था जिसका सन्देश दुनिया को दूं, मैं तो राजकुमार या राजर्षि के नाम से पुजरहा था।

पुजना या सत्कार पाना किसे बुरा लगता है फिर भी इसके बारे में संयम और विवेक की आवश्यकता है। जैसे विवाह

हरएक को अच्छा मालूम होने पर भी बाल विवाह जीवन के लिये घातक है उसी तरह सिद्धि पाये विना सिद्ध की तरह पुजना जीवन के लिये घातक है।

अगर विना सिद्धि पाये मैं यहां सत्कार पाता रहा तो सत्कार के जाल में फँसकर ही मेरा जीवन मोघ होजायगा। सत्कार एक प्रलोभन है और सब से बड़ा प्रलोभन है, इसका सामना करना बड़ा कठिन है। विपदाएँ हीनवीर्य व्यक्ति के लिये ही आकर भ्रष्ट कर पाती हैं पर सत्कार बलवान व्यक्ति को भी लुभाकर भ्रष्ट कर देता है। मुझे इस सत्कार को ठुकराना होगा, सत्कार पर विजय करना होगी, सत्कार परिषह जीते विना मेरी प्रगति असम्भव है। सत्य के पूर्ण दर्शन होने के बाद सत्कार सत्य के प्रचार की सामग्री बनजाता है उससे व्यक्ति के पतन की ऐसी सम्भावना नहीं रहती, पर साधक अवस्था में सत्कार वह पौष्टिक खुराक है जिसे साधक पचा नहीं सकता, वह अर्थात् उसका आत्मा उसका जीवन, रुग्ण होकर मरता है पतित होता है। इन विचारों से मैंने श्वेताम्बी नगरी छोड़ दी। यहां अभी चौमासा करने का विचार भी छोड़दिया।

३०-संवर्तक (बड़ा तूफान)

२५ बुधी ६४३३ इ. सं.

श्वेताम्बी नगरी से निकलकर मैं भ्रमण करता हुआ सुरभिपुर पहुँचा। छोटा सा अच्छा नगर है। पर मनमें राजगृह नगर पहुँचने की इच्छा थी। सम्भव है सिद्धि प्राप्त करलेने पर सत्यप्रचार के लिये राजगृह अनुकूल क्षेत्र सिद्ध हो। इस विचार से सुरभिपुर छोड़दिया। पर राजगृह आने के लिये गंगा पार करना जरूरी था। यद्यपि ग्रीष्म ऋतु होने से गंगा की धारा की चौड़ाई कम रहगई है फिर भी विशाल है और अगाध भी है।

सचमुच गंगा नदियों की रानी है। चौड़ी तो यह है ही, पर गहराई में कदाचित् ही कोई नदी इस की बराबरी कर सके और जल तो इसका इतना अच्छा है कि उसे अमृत ही कहना चाहिये। पर प्रकृति के इस सौन्दर्य का मैं क्या करूं ? इस गंगा से भगीरथ के पुरखों का कैसे उद्धार होगया, कौन जाने, पर मुझे तो मानव जाति का उद्धार करना है, उनका उद्धार इस गंगा से न होगा, उसके लिये जिस ज्ञानगंगा को लाना है उसके लिये भगीरथ से अधिक और उच्चश्रेणी की तपस्या मुझे करना है। इस जड़ गंगा का मेरे लिये क्या मूल्य है ? इसके तो पार ही जाना चाहिये।

मैं नदी किनारे आया। एक नाव पार जाने के लिये छूटनेवाली थी। बहुत से यात्री उसमें बैठ गये थे इतने में पहुंचा मैं। मल्लाह ने मुझे देखते ही कहा-आओ देवार्य, इस सिद्धदन्त की नाव को पवित्र करो। मैं बैठ गया। नाव चलने लगी। इतने में आया तूफान।

ग्रीष्म ऋतु में कभी कभी वायु का वेग काफी प्रबल होजाता है। पर आज की प्रबलता कल्पनातीत थी। जब नाव मझधार में पहुँची तब वायु का वेग इतने जोर का बढ़ा कि सब कहने लगे यह संवर्तक (प्रलय कालका वायु) है। नौका दायें बायें इस प्रकार डोलने लगी मानों वह भूतावेश में आगई हो। सभी लोग घबरागये। पर मैं शान्त रहा। सोचा घबराने से अगर तूफान शान्त नहीं होसकता तो घबराने से क्या लाभ ?

मेरी नग्नता के कारण मुझपर सब की दृष्टि थी ही, पर मेरे शान्त रहने के कारण और भी अधिक होगई। मेरे बारे में सभी लोग कानाफूसी करने लगे। एक बोला-यह तूफान इसी देवार्य के कारण मालूम होता है अन्यथा ऐसा तूफान तो आज तक नहीं देखा।

दूसरा बोला-देवार्य तो परमशान्त परम दयालु मालूम होते हैं वे किसी को क्या सतायँगे ? हां, यह होसकता है कि कोई देव उनका वैरी हो और वह बदला लेरहा हो।

तीसरा-परम शांत परम दयालु का वैरी कौन होगा ?

दूसरा-वैरी इसी जन्म के नहीं होते, पूर्वजन्म के भी होते हैं। हो सकता है कि पहिले किसी जन्म में देवार्य राजा रहे हों और अुनने किसी शेर का शिकार किया हो और कालान्तर में वह शेर मरकर कोई नागदेव होगया हो जो इस गंगा में रहता हो। देवार्य को देखते ही पूर्वजन्म के स्मरण से वह उपसर्ग करने आया हो।

पहिला-तब तो इस देवार्य के पीछे हम सब भी मरेंगे।

दूसरा-हां, देवार्य मरेंगे तो हम भी मरेंगे। पर ऐसे देवार्यों के जितने वैरी होते हैं उससे अधिक भक्त होते हैं। अगर देवार्य का वैरी कोई एक देव उपसर्ग कर रहा है तो दो देव रक्षा को भी आसकते हैं।

तीसरा-सम्भवतः इसीलिये देवार्य निश्चिंत बैठे हैं। पलपलपर नाव डूबने का डर है पर वे आंख बन्द किये इसप्रकार बैठे हैं मानों कुछ हो ही नहीं रहा है।

दूसरा-देवार्यों की निश्चिंतता देवताओं के भरोसे नहीं होती, परमात्मा के भरोसे होती है, जीवन-मरण में समभाव के भरोसे होती है।

यह सब खुसखुस फुसफुस हो ही रही थी कि धीरे धीरे तूफान का जोर घटने लगा और नौका बढ़ने लगी। सबने छुटकारे की सांस ली। मल्लाह जल्दी से जल्दी नाव पार लेजाने लगे। अब उन लोगों की चर्चा को काफी बल आगया।

तीसरा भाई बोला-मालूम होता है बेचारे की रक्षा के लिये कोई देव आगया है।

दूसरा-एक नहीं दो। एक तो वैरी देव से लड़ रहा है दूसरा नाव को जल्दी जल्दी आगे बढ़ा रहा है। देख नहीं रहे हो? नौका किस तरह उड़ी जारही है।

यह ठीक है कि मैं निश्चिंत था, पर किसी परमात्मा में ध्यान लगाने के कारण नहीं, केवल समभाव के कारण। ध्यान तो मेरा उन लोगों की खुसखुस फुसफुस में लगा था। प्राकृतिक घटनाओं को लोग किस तरह दिव्य रूप दे देते हैं यह जानकर मुझे बड़ा कुतूहल हुआ। मैं समझता हूं इस युग में उनके इस आधार को तोड़ा नहीं जासकता। ईश्वर के सिंहासन को कदाचित खाली किया जासकता है पर इन देवताओं के जगत् को नहीं मिटाया जासकता। नये तीर्थ के निर्माण में मुझे इस बात का ध्यान रखना होगा।

३१-गोशाल

१४ धनी ९४३३ इ. स.

राजगृह नगर में मैंने दूसरा चौमासा पूरा किया। रहने के लिये मैंने नालन्दा का भाग चुना था। वहां कपड़े बुनने की एक विशाल शाला थी, इसीके एक हिस्से में एक खाली स्थान में मैंने चौमासा बिताया। कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास करना, और जगत् को देने लायक सत्य की शोध करने के लिये चिन्तन करना ये ही दो मुख्य कार्य मेरे रहे। पारणे के लिये मैं कभी विजय श्रेष्ठी के यहां कभी आनन्द श्रेष्ठी के यहां, कभी सुनंद के यहां चला जाता था। इन लोगों के यहां मुझे शुद्ध भोजन मिल जाता था, और मेरे निमित्त से इन्हें कुछ बनाना भी न पड़ता था। और ये लोग काफी आदर प्रेम से

भोजन कराते थे मेरी निस्पृहता के कारण भी इनकी अनुरक्ति थी।

भोजन के विषय में भी मुझे लोगों के जीवन में क्रान्ति करना है। निर्दयता-पूर्ण मांस-भोजन और उन्मादक मद्य का भोजन में कोई स्थान न रहे ऐसी मेरी इच्छा है। मैं स्वयं इन वस्तुओं का उपयोग नहीं करता। यहां तक कि जिस भोजन में इनका मिश्रण हो वह भी नहीं लेता। आजकल इसप्रकार का निरुद्दिष्ट भोजन मिलना कठिन तो होता है पर एक दिन ऐसा अवश्य आयगा जब घर में ऐसा पवित्र भोजन मिलने लगेगा। इस चातुर्मास में उन श्रेष्ठियों के यहां पवित्र भोजन मिला इसलिये वारी वारी से मैं उन्हीं के यहां गया। मेरे भोजन की पवित्रता तथा मेरी निस्पृहता देखकर वे अत्यधिक आदर या अनुराग से भोजन कराते थे।

मेरे विषय में आदर और अनुराग प्रगट करते हुए इन श्रेष्ठियों को देखा गोशाल ने, इसलिये यह भाई मेरे पास आकर रहने लगा। यह एक भिक्षुक का पुत्र है। इसके पिता का नाम है मंखली और माता का नाम है भद्रा। शरवन गांव की गोशालामें उसका जन्म हुआ था इसलिये इसका नाम गोशाल रक्खा गया।

मातापिता के साथ यह भी भिक्षा मांगा करता था। पर माता पिता से न बनी और यह अलग होगया। उस दिन जब मैं आनन्द श्रेष्ठी के यहां भोजन करने गया तब यह भी वहीं खड़ा था। श्रेष्ठी ने जिस आदर से मुझे भोजन कराया उससे इसने मुझे कोई बड़ा महात्मा समझा। और शाम को मेरे पास आकर बोला-गुरुदेव, मैं आपका शिष्य होता हूं। मैंने न 'हां' कहा न 'ना' जब तक मैंने सत्य का पूर्ण दर्शन नहीं पाया है तब तक किसी को शिष्य बनाने से क्या लाभ? पर यह मेरे पास रहने लगा।

गोशाल है तो भोला, पर जन्म के संस्कारों ने इसकी मनोवृत्ति को क्षुद्र बना दिया है। यह धीरज नहीं रख सकता। जहां न मांगना चाहिये वहां भी मांग बैठता है और बड़ी निर्लज्जता से मांग बैठता है। इसको देखकर मैं सोचता हूं कि माता पिता के द्वारा मिले हुए संस्कारों का भी जीवन में एक विशेष महत्व है। ऐसा मालूम होता है गोत्र भी जीवन की एक बड़ी विशेषता है। यही कारण है कि गोशाल कई माह मेरी संगति में रहा पर अपने नीचगोत्र का असर वह दूर न कर सका।

यद्यपि यह मैं नहीं मानता कि गोत्र बदल नहीं सकता। ज्ञान और संयम से जन्म के संस्कार भी बदल जाते हैं। नीचगोत्री मनुष्य में जो एक तरह की क्षुद्रता की भावना, आत्मगौरवहीनता या नकली अभिमान आदि नीच गोत्र के चिन्ह होते हैं वे दूर होसकते हैं और समय पाकर मनुष्य उच्चगोत्री बन सकता है। मैं तो समझता हूं कि संयमी मनुष्य नीचगोत्री रह नहीं सकता, भले ही उसके माता पिता नीचगोत्री रहे हों। लेकिन मैं देखता हूं कि यह असाधारण परिस्थिति गोशाल के जीवन में नहीं दिखाई देरही है। जहां मैं जाता हूं वहां पीछे से यह भी भोजन करने पहुँच जाता है, मुझे यह लाओ, मुझे वह लाओ, कह कह कर परेशान कर देता है। फल यह हुआ है कि इसका आदर नहीं रहपाता है। जिस दिन मैं भोजन करने जाता हूं उस दिन तो उसे अच्छा भोजन मिल जाता है पर जिस दिन मैं भोजन नहीं करता उस दिन यह मारामारा फिरता है और आदर सन्मान खोता रहता है।

कभी कभी यह रुपया वगैरह भी मांग बैठता है पर इस तरह भिखारियों को कहीं रुपये मिलते हैं? यह पहिले से ही अच्छे अच्छे भोजनों के नाम गिना गिनाकर भोजन मांगता है, लोग भी चिढ़कर खराब से खराब भोजन बताते हैं। इसप्रकार

लोगों के मन में गोशाल के बारे में प्रतिक्रिया होगई है। यह जो मांगता है लोग उससे उल्टा ही देते हैं और बहुत बुरी वञ्चनापूर्ण हँसी भी उड़ाते हैं।

आज उसने मुझसे पूछा-बताइये ! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?

मैंने कहा-तुम क्या चाहते हो ?

बोला-अच्छा मीठा दही, बढ़िया शालिका भात, और दक्षिणा में चमचमाता हुआ चोखा निष्क (रुपया)।

अब मुझे यह समझने में देर न लगी कि आज इसे भिक्षा में क्या मिलेगा ? यह जो चाहता है वही मांगता है। एक बार इसे खोटा निष्क मिला था तब से यह चोखा निष्क मांगने लगा है, उसकी इस विचित्र याचना से सभी हँसने लगते हैं और उलटा ही देते हैं।

इसलिये मैंने जरा मुसकराते हुए कहा-आज तुम्हें खट्टा छांछ, कोद्रव का भात, और दक्षिणा में खोटा निष्क मिलेगा।

गोशाल भिक्षा लेने चला गया।

उसके जाते ही मेरे मनमें आया कि ऐसे मनुष्य को पास में रखना ठीक नहीं, इसलिये मैंने भी विहार कर दिया और सन्ध्या तक कोल्लाक गाव में आ पहुँचा। आशा है स्थान पर मुझे न पाकर वह कहीं अन्यत्र चला जायगा।

३२— नियतिवाद के बीज

१६ धनी ६४३२ इतिहास संवत्

मैं तो समझता था कि गोशाल से पिंड छूट गया इसलिये कुछ निश्चिन्तता का अनुभव कर रहा था। आज भोजन करने के लिये गया तो कुछ निश्चिन्त सा था क्योंकि अन्य दिन

यह चिन्ता रहती थी कि मेरा शिष्य बनकर गोशाल जाकर न जाने कैसी क्षुद्रता का प्रदर्शन करेगा। आज यह चिन्ता नहीं थी।

भोजन बहुल ब्राह्मण के यहां हुआ। यह ब्राह्मण होनेपर भी श्रमणों को बहुत आदर से जिमाया करता है मुझे भी इसने बड़े आदर से जिमाया। मैं समझता हूं कि साधु को भोजन में यथोचित आदर का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। आदर इस बात का चिह्न है कि साधु मोघजीवी नहीं है, यह समाज सेवा का महान साधक है। इसलिये भोजनादि के रूप में जो कुछ यह जनता से लेता है वह अमाप विनिमय का बहुत ही तुच्छ अंश है।

आदर सत्कार का परिणाम यह होगा कि साधु में दीनता न आने पायगी। साथ ही उसे इस बात का भी ध्यान रहेगा कि वह मोघजीवी न बनजाय। मोघजीवी मनुष्य को किसी न किसी तरह दीन बनना पड़ता है। सच्चे साधक को दीन बनने की जरूरत नहीं है। उसमें आत्मगौरव रहना ही चाहिये। आजकल साधु या उससे मिलता जुलता वेष लेकर बहुत से मनुष्य भीख मांगा करते हैं इससे साधुता दूषित होरही है। जनता भी किंकर्तव्य विमूढ़ है। वह भिखारी और साधु को एक समझने लगती है। मुझे साधुओं को इतना आत्मगौरवशाली बनाना है कि इनके शब्दों का मूल्य इतना बढ़जाय कि समाज उनकी अवहेलना न कर सके। अस्तु

बहुल ब्राह्मण के यहां खीर मिष्टान्न और घृतका स्वादिष्ट भोजन कर मैं ग्राम के बाहर एक वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर बैठ गया। पहर भर तक साधु संस्था के बारे में सोचता हुआ निश्चेष्ट बैठा रहा। ध्यान के बाद ज्यों ही मैंने नजर खोली कि देखा कि सामने से गोशाल महाशय चले आरहे हैं। पहिले तो मैंने उन्हें पहिचाना ही नहीं, पास आने पर मालूम हुआ कि महाशयजी गोशाल हैं।

एक ही दिन में आपने कायापलट करली थी। सिर का पूरी तरह मुंडन करालिया था और सब वस्त्रों का त्याग कर मेरे ही तरह दिगम्बर वेष ले लिया था। आते ही कहा-

भगवन्, आप मुझे अपात्र समझ कर छोड़कर चले आये। पर अब देखिये मैं पात्र होगया हूं। जब मैं आप ही की तरह दिगम्बर हूं, आप ही की तरह मुंडी हूं। आगे भी मैंने आप की ही तरह रहने का संकल्प कर लिया है।

मैंने कहा-केवल दिगम्बर और मुंडी होने से ही तो मेरा अनुकरण नहीं होसकता। आगे तुम कैसे निकलोगे इसका क्या ठिकाना ?

गोशाल-ठिकाना क्यों नहीं है भगवन्, जो जैसा होने वाला होता है वैसा ही होता है उसमें न राई घट सकती है न तिल बढ़सकता है। सब भविष्य नियत है। इसलिये आप कोई चिन्ता न कीजिये।

मैं-तुम तो पक्के नियतिवादी बनगये गोशाल !

गोशाल-आपने ही तो मुझे नियतिवाद का पाठ पढ़ाया है।

मैं-पर तुम सरीखा घोर नियतिवादी तो मैं भी नहीं हूं। मैं तो नियतिवाद को सचाई का एक अंश ही मानता हूं वह भी मुख्यांश नहीं। मैं तो यत्नवादी हूं। तब तुम्हें नियतिवाद का पाठ कैसे पढ़ाऊंगा ?

गोशाल-परसों आपने कहदिया था कि मुझे भिक्षा में खट्टा छाछ, कोद्रव का भात और खोटा निष्क मिलेगा। मैंने दिन-भर यत्न किया, और हर एक से कहा कि मुझे खट्टा छाछ न देना, कोद्रव का भात न देना, खोटा निष्क न देना, पर किसी के यहां दूसरी चीज न मिली। तब भूख से पीड़ित होकर शाम

को मुझे खट्टा छाछ और कोद्रव का भात ही स्वीकार करना पड़ा। निष्क भी जो मिला वह यद्यपि खोटा कहकर नहीं दिया गया था पर निकला खोटा ही। इसलिये मेरा तो निश्चय होगया है कि जो भविष्य नियत है वह कितने भी यत्न करने से टल नहीं सकता।

गोशाल की बात सुनकर मुझे उसके भोलेपन पर खूब हँसी आई। इस समय उसे समझाना व्यर्थ था। सोचा फिर कभी समझाऊंगा। अुसकी तीव्र इच्छा देखकर मैंने उसे साथ रहने दिया।

२२ धनी ६४३३ इ. सं.

आज मैं स्वर्णखल की तरफ जारहा था, गोशाल मेरे साथ था ही। बीचमें एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिये बैठ गये। कुछ दूसरे पथिक भी पथ की दूसरी ओर एक वृक्ष के नीचे आकर ठहर गये। मध्यान्ह का समय आरहा था। वे बेचारे भूखे थे। मालूम हुआ कि उनके पास चावल ही थे और थी एक छोटीसी हंडी। अुनने हंडी में चावल पकाकर ही क्षुधा को शांत करने का निश्चय किया। पथिक थे चार, और उसके पास चारों के खाने लायक चावल भी थे, पर हंडी ऐसी नहीं थी कि चारों के लिये भात पक सके। छोटी हंडी देखकर ही मेरा ध्यान अुस तरफ गया। और मैं कुतूहल से उनकी ओर देखने लगा उनने आग जलाई, हंडी चढ़ाई, उसमें पानी डाला चावल धोये और हंडी में डाल दिये। चावल इतने अधिक डाले कि हंडी गले तक भरगई। मैंने मन ही मन कहा कि अब इनका भात पक चुका। मालूम होता है इन लोगों ने कभी भात नहीं पकाया।

इतने में गोशाल मेरे बहुत निकट आकर बोला-भगवन् मुझे बहुत भूख लगी है, सामने ये लोग भात पका रहे हैं चलिये

अपन यह भोजन करें।

मैंने कहा–तुम उसकी आशा न करो, भात पकनेवाला नहीं है। पकने के पहिले ही हंडी फूट जायगी।

मैं समझ गया था कि जो इतने नासमझ हैं वे फूलकर निकलते हुए भात को रोकने की कोशिश अवश्य करेंगे। और इसीसे हंडी फूट जायगी।

अन्त में ऐसा ही हुआ। जब भात फूलकर निकलने लगा तब वे हंडी के मुँह पर पत्थर का एक ढक्कन ढककर बांस से दबाकर बैठ गये। थोड़ी ही देर में हंडी फूट गई। भात बिखर गया। पर पथिक बहुत भूखे थे। उनने ठीकरों में से अधपके भात को बीन बीनकर खालिया, गोशाल वहां गया पर उसे कुछ मिल न सका।

लौटकर गोशाल ने कहा–भगवन अब मेरा और भी पक्का निश्चय होगया है कि नियतिवाद ही सत्य है। जो होना होता है वह होकर रहता है, यत्न उसे रोक नहीं सकता।

मैंने देखा कि अब गोशाल को समझाना वृथा है। उसके मन में नियतिवाद के बीज बहुत पक्के जम गये हैं।

कार्यकारण की जो परम्परा है उस पर विचार करने से और थोड़े से मनोविज्ञान से बहुत सा भविष्य बताया जासकता है, पर गोशाल में इतनी समझ नहीं है, किन्तु वह अपनी नासमझी को नहीं समझना चाहता इसलिये वह उसे प्रकृति के मत्थे थोप देना चाहता है। वह अपनी असफलता को अपनी मूर्खता का परिणाम नहीं मानना चाहता किन्तु यह कहना चाहता है कि वह घटना तो प्रकृति से नियत थी, उसे किसी भी तरह बदला नहीं जासकता था, तब मैं क्या करता?

गोशाल जो इसप्रकार नियतिवाद के बन्धन में पड़ रहा

है उसका कारण गोशाल का भोलापन नहीं है किन्तु असंयम है। अपने अज्ञान को छिपाने के लिये एक छल है छद्म है। जो इस-प्रकार छलछद्म कर सकता है वह छद्मस्थ अज्ञानी तो कहा जासकता है पर भोला नहीं कहा जासकता। छद्म एक बड़ी भारी चालाकी है।

गोशाल में अज्ञान होता तो उसे दूर किया जासकता था पर उसमें एक प्रकार का अहंकार है और उसे चरितार्थ करने के लिये वह छद्म का सहारा लेरहा है इसलिये उसे समझाना व्यर्थ है।

मुझे आशा नहीं कि गोशाल सत्य के दर्शन कर सकेगा फिर भी यदि वह मेरे साथ रहता है तो उसे भगाऊंगा नहीं, कभी न कभी वह स्वयं चला जायगा। अगर संगति से सुधर गया तो यह अच्छा ही होगा।

मैं सोचता हूं नियतिवाद के बीजवपन के लिये मनुष्य की मनोभूमि बड़ी उर्वर है। सम्भवतः इसको मिटाया नहीं जासकता, हां उसका समन्वय कर उसका विषापहरण किया जासकता है। भविष्य में मैं यही करूंगा।

६३–उदासीनता की नीति

२ जिन्नी ९४३४ इ. सं.

संसार में जो बुराइयाँ हैं उनका विरोध मैं भी करना चाहता हूं फिर भी मैं इस तरह रहता हूं मानों मैं बुराइयों से भी उदासीन हूं। गोशाल को यह बात पसन्द नहीं है। वह अपने को रोक नहीं सकता। फल अफल अवसर अनवसर का विचार किये बिना वह उखड़ पड़ता है। विरोध की मर्यादा और उचित तरीके का भी विवेक उसमें नहीं रहता। फल यह होता है कि बुराई मिटने के बदले बढ़जाती है।

इतना ही नहीं, गोशाल सामाजिक अनीतियों को और अपने अपमानों को एक सरीखा समझता है। सामाजिक अन्यायों का विरोध कभी तीव्रता से किया भी जासकता है पर अपने अपमानों का विरोध अुतनी तीव्रता से नहीं किया सकता। हम सन्मान के ठेकेदार नहीं हैं कि जहां जायँ वहां हमारा सन्मान हो ही। लोगों की इच्छा होगी सन्मान करेंगे, न होगी न करेंगे। हमें सन्मान वसूल करने के लिये बलात्कार क्यों करना चाहिये ?

मैं गोशाल को ये सब बातें समझाता नहीं हूं, क्योंकि बिना जिज्ञासा प्रगट हुए मैं किसी को समझाना भी पसन्द नहीं करता, पर गोशाल को अपनी उतावली का और असंयम का परिणाम भोगना पड़ा है।

उस दिन ब्राह्मण ग्राम में ऐसा ही हुआ। इस गांव के दो संचालक हैं एक नंद दूसरा उपनंद, दोनों भाई हैं। आधा गांव नंद के हाथ में है आधा अुपनंद के। नंद उपनंद की अपेक्षा कम धनी है। गांव में घुसते ही गोशाल ने इन सब बातों का पता लगालिया। मैं तो नंद के यहां ही भिक्षा लेने चलागया और गोशाल इसलिये उपनंद के यहां गया कि अधिक धनी के यहां अधिक अच्छा भोजन मिलेगा पर। हुआ उल्टा ही। उपनन्द ने एक दासी को आज्ञा देकर बासा भात दिलवादिया। बासा भात देखकर गोशाल बकझक करने लगा। उपनन्द ने गुस्से से दासी से कहा-अगर यह न लेता हो तो इसी के सिर पर डाल दे। इसपर गोशाल ने इतनी गालियाँ दीं कि उपनन्द का जी जलने लगा और उसने भी गालियाँ दीं। और अुसके घरवाले आकर भी गालियाँ देने लगे। इस तरह गोशाल ने सब घर में तो आग लगादी पर न तो सन्मान पाया न किसी का सुधार करपाया। साधुता का यह मार्ग नहीं है।

१७ चिंगा ९४५४ इ. स.

चम्पा नगरी में तीसरा चातुर्मास पूरा कर मैं फिर कोल्लाक गांव में आया। बस्ती के बाहर शून्य गृह में ठहरा। रात में एक नवयुवक अपनी एक दासी के साथ रति क्रीड़ा करने के लिये उस मकान में आया। मकान बड़ा था। दूसरे हिस्से में जाकर वह उस दासी के साथ व्यभिचार करने लगा। जब वे निकलने लगे तब गोशाल ने दासी को धिक्कार किया, तब उस नवयुवक ने गोशाल को खूब पीटा।

इसी तरह की एक घटना पत्रकाल नगर में भी हुई, वहां भी गोशाल एक व्यभिचारी के द्वारा पिटा।

आज जो घर घर में व्यभिचार का तांडव होरहा है इससे गार्हस्थ्य जीवन बिलकुल नष्ट होरहा है। ब्रह्मचर्य तो दूर, साधारण शील भी लोगों में नहीं पाया जाता। व्यभिचार की कोई मर्यादा ही नहीं है। पुरुष जिसे चाहे और जितनी चाहे स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने में नहीं हिचकता, और उनके साथ वैवाहिक बन्धन में भी नहीं रहना चाहता, इस तरह समाज व्यभिचारजात मनुष्यों से भर रहा है। उनकी माताएँ व्यभिचारिणी होती हैं, बाप का पता नहीं होता, इसलिये कौटुम्बिक संस्कारों का लाभ भी उन्हें नहीं मिल पाता, इससे मनुष्य का चरित्रबल गिरता जाता है और प्रायः सभी घर अशांति की क्रीड़ाभूमि बने हुए हैं। इस उद्दाम व्यभिचारवृत्ति पर कुछ न कुछ नियन्त्रण लगाना होगा। पर इस तरह व्यभिचारियों को गाली देने से यह नियन्त्रण न होगा। उसके लिये एक व्यापक आन्दोलन द्वारा समाज का वातावरण बदलना होगा। अवसर आने पर मैं यह सब करूंगा। आज जो मैं इन बातों की तरफ उदासीन रहता हूं उसका एक कारण तो यह है इन पापों को मैं समाज का अपराध मानता हूं, समाज ने जो विचारधारा

स्वीकार कर रक्खी है और विवाह की मर्यादा को जो ढीला बना रक्खा है उसे सुधारने की जरूरत है। बहुविवाह को सम्भवतः मैं न रोक सकूंगा फिर भी विवाह के विना सम्मिलन को अवैध तो ठहराना ही होगा। तीर्थ प्रवर्तन के बाद मैं यह सब करूंगा।

उदासीनता का दूसरा कारण यह है कि मैं जानता हूं कि अमुक जगह रोकने से प्रतिक्रिया ही होगी तब वहां रोकने से क्या फायदा? अवसर देखकर ही प्रयत्न करना चाहिये। अपनी शक्ति को व्यर्थ खर्च न करना चाहिये और न अपने शब्दों में मोघता आने देना चाहिये। गोशाल मेरी इस नीति को नहीं समझपाता।

३४-एक राज्य की आवश्यकता

२३ जिन्नी ६४३५ इतिहास संवत्

कल सन्ध्या को ही मैं चोराक गांव के बाहर आगया था। रातभर तो मैं आराम से सोया, चौथे पहर में खड़ा होकर ध्यान करने लगा। दिनभर के लिये मैंने मौन लेलिया था। मौन से चिन्तन में बड़ा सुभीता होता है, कम से कम गोशाल के साथ बड़बड़ करने से बच जाता हूं।

सूर्योदय होने के बाद राज्य के आरक्षक आये और पूछा तुम लोग कौन हो?

मौन होने से मैं तो चुप रहा, गोशाल बोला-हम लोग परिव्राजक साधु हैं।

आरक्षक-यहां क्यों आये?

गोशाल-हमारी इच्छा हुई सो हम आये, क्या आने की भी मनाई है?

आरक्षक-हां, बाहरवालों को आनेकी मनाई है। इस राज्य के ऊपर पड़ौसी राज्य आक्रमण करनेवाले हैं। तुम लोग उनके गुप्तचर मालूम होते हो।

गोशाल ने हँसी उड़ाते हुए कहा-अरे वाहरे अन्तर्यामी!

आरक्षक ने डपटकर कहा-हम तुम्हारी सारी हँसी ठिकाने लगा देंगे। बताओ तुम कौन हो?

आरक्षकों का कठोर स्वर सुनकर गोशाल को भी क्रोध आगया। वह बोला जाओ! नहीं बताते।

आरक्षक ने कहा-अच्छा, देखता हूं कैसे नहीं बताते।

यह कहकर उन लोगों ने मुझे और गोशाल को रस्सी से बाँधा और छाती के पास एक लम्बासा रस्सा बाँधकर कुए में घड़े की तरह लटका दिया। धीरे धीरे पानी में ले गये। गोशाल चिल्लाने लगा, उसकी आवाज से वहां कुछ लोग इकट्ठे होगये। आरक्षक रस्सा ढीला करके हमें डुबाते थे और फिर खींचकर ऊपर उठाते थे। और हर वार पूछते थे कि बताओ तुम कौन हो?

दस वारह वार उनने ऐसा किया। इतने में मैंने ऊपर बहुत लोगों की आवाज सुनी, बहुत से लोग आरक्षकों को उलहना देने लगे। जनता के विरोध के भय से आरक्षकों ने हमें कुए में से निकाला। इस वार संकट के समय भी मेरे चेहरे पर मुसकराहट थी। मानों एक तमाशा था. जो होगया। भीड़ में से दो परिव्राजिकाओं ने मुझे पहिचान लिया। वे कुछ रोष में आकर आरक्षकों से बोलीं तुम लोगों ने यह क्या दुष्ट कार्य किया? ये तो कुंडलपुर के राजकुमार और परम त्यागी वर्द्धमान कुमार हैं जो बड़े सिद्ध पुरुष हैं। जिनने हमारे अस्थिक गांव के शूलपाणि यक्ष को जीतकर भगा दिया था। तुम लोगों ने ऐसे महात्मा को सताकर अपना सर्वनाश कर लिया है।

मेरे राजकुमारपन के कारण और यक्ष-विजय के कारण आरक्षक बहुत डरे और पैरों पर गिरकर क्षमा मांगने लगे। फिर भी मैं शांत मौनी बना रहा। परिव्राजिकाओं ने लोगों को अस्थिक गांव की कहानी सुनाई और मैंने वहां चातुर्मास किया था उसकी बात भी कही। उनकी बातों से मालूम हुआ कि उनका नाम सोमा और जयन्तिका है, इनका भाई उत्पल ज्योतिष का धन्धा करता है। इसी उत्पल ने शूलपाणि यक्ष के मन्दिर में मेरे स्वप्नों का फल बताया था जिससे लोगों की अनुरक्ति और बढ़गई थी।

आज दिनभर में इस घटना पर कई दृष्टियों से विचार करता रहा। एक बात जो बार बार विचार में आई, वह थी एक राज्य की आवश्यकता। आज कल राज्य इतने छोटे छोटे हैं कि दो चार गांव जाते ही दूसरे राज्य की सीमा आजाती है। राज्य की रक्षा के लिये राज्य की सीमा की रखवाली के लिये प्रत्येक राज्य को इतनी शक्ति लगाना पड़ती है कि प्रजा की सेवा के लिये राजा के पास शक्ति सम्पत्ति कुछ नहीं बचती। लोगों को भी यातायात में बड़ी कठिनाई होती है। एक ही दिन की यात्रा में कई बार नये नये राज्यों की सीमाएँ आजाती हैं, प्रत्येक स्थानपर यात्रियों की जांच परख होती हैं, आरक्षकों के द्वारा यात्री तंग किये जाते हैं। इसकी अपेक्षा सारे भरत क्षेत्रमें एक चक्रवर्ती का राज्य हो तो लोगों को भी यातायात में सुविधा हो, गांव गांव में परचक्र का भय भी न रहे, सेना और परराज्य से रक्षा आदि का व्यय भी घट जाय और बचीहुई शक्ति सम्पत्ति जनता के हितमें लगाई जा सके।

यद्यपि मेरा कार्य महाराज्य या साम्राज्य स्थापन करना नहीं है फिर भी मैं अपने तीर्थ में इस तरह के विशाल साम्राज्यों का समर्थन अवश्य करूंगा, इसप्रकार की कथाएँ भी बनाऊंगा जिस से सारे भरतक्षेत्र के एक राज्य की व्यावहारिकता पर प्रकाश पड़े।

३५ शृंगार का प्रवाह

१७ सत्येशा ६४३६ इ. सं.

पिछले दस मास में कोई विशेष घटना नहीं हुई। पृष्ठ-चम्पा नगरी में चौथा चौमासा अच्छी तरह किया। चिन्तन मनन निरीक्षण का काम चलता रहा पर ऐसा मालूम होता है कि अभी इस दिशा में बहुत काम करना है। अनुभवों का संग्रह तो करना ही है। यह सब कार्य होरहा है।

कल इस कृतमंगल नगर में आया। यह नगर उत्तर की ओर नया बसता जा रहा है। दक्षिण की तरफ पुरानी बस्ती है। यहां कुछ वेषधारी भिखारी रहते हैं। नगर का यह भाग कभी पर्याप्त सुन्दर रहा होगा। क्योंकि बीचमें जो यक्ष मन्दिर है वह पर्याप्त विशाल दृढ़ और सुन्दर है।

गर्भगृह के आगे की जगह छोड़कर-जिससे दर्शनार्थियों को कोई असुविधा न हो-मैं एक कोने में ठहर गया। शरीर को टिकाने के लिये यह कोना काफी था।

पहरभर रात निकलने पर कुछ परिवार वहां आये। प्रौढ़ प्रौढ़ाओं, युवक युवतियों तथा बालक बालिकाओं का वहां अच्छा जमघट लगगया। पहिले तो उनने मद्यपान किया फिर नशा आने पर नृत्यगान शुरु किया। स्त्रियों ने भी उसमें भाग-लिया। गीतों में भक्ति और शृंगार का मिश्रण था पर चेष्टाओं में शृंगार की प्रधानता थी। धर्म के नामपर रात्रि जागरण करने की जो परम्परा है उसके पालन करने के लिये यह सब आयोजन था।

मेरे लिये यह सब चिन्तन की अच्छी सामग्री थी। मैं नाना दृष्टिकोणोंसे इन सब बातों का चिन्तन करने लगा। जो कुछ अप्रिय या अनिष्ट मालूम हुआ उसे सहन करने लगा। पर

गोशाल को यह सहन न हुआ। वह बोला-ये कैसी निर्लज्ज स्त्रियाँ है जो इस तरह मद्यपान कर नाच करती हैं।

युवतियों के पति, जो कि यौवन के साथ मद्य से भी उन्मत्त थे, गोशाल की बात सुनकर बिगड़ पड़े। उनने कहा तो कुछ नहीं, पर गोशाल की गर्दन पकड़कर मन्दिर के बाहर कर दिया। शिशिर का प्रारम्भ था, पर्याप्त ठण्ड पड़ती थी। गोशाल कांप गया। यहां तक कि उसके कांपने का स्वर मन्दिर के भीतर सुनाई पड़ने लगा। तब एक वयस्क व्यक्ति ने द्वार खोलकर उसे भीतर कर लिया। गोशाल चुपचाप एक तरफ बैठ गया। उनका नृत्यगान चलता रहा।

थोड़ी देर बाद नृत्य में एक युवति ने एक युवक की तरफ ऐसी विटत्वपूर्ण चेष्टा की कि गोशाल से चुप न रहा गया और उसके मुँह से आवेश में निकल गया "धिक्कार है ऐसी वेश्याओं को"।

अब की बार गोशाल को दो तीन धप्पे भी लगे और मन्दिर के बाहर निकाल दिया गया। थोड़ी देर में गोशाल की दंतवीणा का स्वर बहुत बढ़गया। वयस्क व्यक्तियों को फिर दया आई और गोशाल फिर भीतर ले लिया गया।

सम्भवतः गोशाल चुप ही रहना चाहता था। पर उसमें वचनगुप्ति नहीं थी। कभी कभी वचन को वश में रखने की भी आवश्यकता होती है। आवश्यकतानुसार मन वचन काय की प्रवृत्ति भले ही कीजाय पर हममें इतनी शक्ति तो होना ही चाहिये कि अपने मन वचन और शरीर को अंकुश में रख सकें. अपने संकल्प के अनुसार इन्हें रोक सकें। पर गोशाल में इन तीनों गुप्तियों की कमी थी। इसलिये अब की बार मद्य के उन्माद में और शृंगार के प्रवाह में जब एक युवति

ने एक युवक का चूमा ले लिया तब गोशाल चिल्ला पड़ा-तुम लोगों को लज्जा नहीं आती कि अपने गुरुजनों के सामने ऐसी पशुता दिखा रही हो। मैं निर्भयता से सच बोलनेवाला आदमी हूं, मुझ पर बिगड़ने से तुम्हारे पाप न धुल जायँगे, मुझे मारने की अपेक्षा अपने पापों को क्यों नहीं मारते ?

अब की बार युवक उसे पीटने को तैयार होगये ? पर वयस्कों ने उसे बचा लिया। कहा-इस बेचारे को क्यों मारते हो? इसे बकने दो ! तुम लोग जोर जोर से वादित्र बजाओ, इसका बकवाद न सुन पड़ेगा।

अन्तमें यही हुआ। गोशाल बीच बीचमें बड़बड़ाता रहा पर उन लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया। सवेरे तक नाचगाकर वे लोग चले गये।

रातभर इसी बातपर विचार आते रहे कि इस तरह का रात्रि जागरण किस काम का ? रात्रि जागरण का अभ्यास हो यह अच्छी बात है, जिससे कभी किसी अवसर पर किसी रोगी की परिचर्या करना पड़े तो कर सकें, किसी संकट में रक्षा के लिये रातभर पहरा देना पड़े तो देसकें, दिन में जहां शान्तिपूर्ण एकान्त न मिलता हो वहां रात्रि के शान्तिपूर्ण एकान्त में कुछ चिन्तन मनन कर सत्य का शोध करना हो तो कर सकें। इन लोगों को इन कामों में से कुछ भी नहीं करना था तब यह सब किसलिये? देवपूजा के बहाने शृंगार का उन्माद चरितार्थ करना था इसी-लिये इनने रात्रि नष्ट की।

पर प्रश्न यह है कि शृंगार के इस प्रवाह को कैसे रोका जाय ? बिलकुल रोकना तो अशक्य मालूम होता है सम्भवतः उससे विष्फोट होगा धर्मस्थानों को छोड़कर अन्यत्र यह प्रवाह बहाया जायगा। वहां वह और भी निरंकुश होगा। इसलिये उसे मर्यादित करना ही ठीक है।

मर्यादित करने के लिये यह आवश्यक है कि मद्यपान बिलकुल बन्द किया जाय, क्योंकि जहां मद्यपान आया वहां सारी मर्यादाएँ टूटीं। अपना भान भूलजाना तो सब पापों की जड़ है। इसलिये मद्यनिषेध पर मैं अधिक से अधिक जोर दूंगा। जब मैं अपना तीर्थ बनाऊंगा तब जो लोग तीर्थ प्रचार के लिये साधु साध्वी बनेंगे उनके लिये तो मद्य पूर्ण निषिद्ध रहेगा ही, पर जो गृहस्थ भी मेरी बात के सच्चे श्रोता बनेंगे, श्रावक बनेंगे, उनके लिये भी मद्य निषिद्ध रहेगा क्योंकि इसके बिना किसी भी कार्य में कोई मर्यादा कराई ही नहीं जासकती।

तब मैं शृंगार के प्रवाह के बारेमें यह नियम बनाऊंगा कि कामुकता के गीत न गाये जायें, न नृत्य में काम चेष्टाएँ की जायँ। भक्ति और कर्तव्यबोधक गीत ही गाये जायँ और गीतों के अनुरूप ही नृत्य चेष्टाएँ हों। इस ढंग से नृत्यगीत की प्यास भी बुझ जायगी और अपेय भी न पीना पड़ेगा।

सम्भव है कभी मेरा तीर्थ विशाल रूप धारण करे, जब मैं प्रवचन के लिये किसी नगर में समवशरण करूं तो लोग उसके लिये विशाल मंडप बनायें, गायक नृत्यकार भी वहां आयें, उस समय उन्हें इसी मर्यादा के भीतर नृत्यगान करने दूंगा। नृत्यगान से जीवन में कलुषता भी न आने पायगी और उनके रुकने से विष्फोट भी न होने पायगा।

पर यह सब दूर की बात है। अभी तो मुझे यह सब अंधेर चुपचाप देखते रहना पड़ेगा। जब तक अन्य परिस्थितियाँ अनुकूल न होजायँ तब तक गाल बजाने से क्या लाभ? पहिले मनुष्य में पात्रता पैदा करना चाहिये। ऐसा वातावरण और प्रभाव पैदा करना चाहिये कि नियन्त्रण से विद्रोह न पैदा हो सके। आज यहां मेरा क्या प्रभाव था, और क्या वातावरण था कि मैं रोकता तो सफल होता? कदाचित् मेरे बोलने की

सभ्यरीति के कारण गोशाल बराबर अपमान न होता, पर वे लोग इतना अवश्य कहते "आप अपने ध्यान में तल्लीन रहिये देवार्य, हमारे कार्य में अड़ंगा न डालिये" और मुझे चुप रहना पड़ता। इसलिये पहिले से ही चुप रहना ठीक है। हां! जब और जहां मेरा प्रभाव बढ़ा होगा, मेरे शब्दों को झेलने के लिये लोग तैयार होंगे, वहां अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाऊंगा तब यह शृंगार का प्रवाह भी नियन्त्रित होजायगा।

३६ — बीभत्स टोटके

१० मम्मेशी ९४३६ इतिहास संवत्

आज प्रातःकाल ही श्रावस्ती आगया, पर रहा नगर के बाहर ही। कभी कभी नगर के बाहर ही नगर के ठीक ठीक समाचार मिलते हैं। जो लोग नगर के भीतर भय संकोच आदि के कारण सभ्यता का आवरण डाले रहते हैं वे भी नगर के बाहर आकर खुले होजाते हैं। और तभी उनकी, उनके नगर की सभ्यता का पता लगता है। साथ ही नगर के बाहर रहने में चिन्तन के लिये एकान्त भी मिलता है। इन सब विचारों से मैं बाहर ही रहा। गोशाल नगर देखने चल दिया।

मैं एक वृक्ष के नीचे खड़ा था, और वृक्ष की पींड़ की ओट में था। थोड़ी दूर पर कुछ स्त्रियाँ, जो शौच के लिये नगर के बाहर आई थीं, खड़ी खड़ी बात करने लगीं। स्त्रियों की चर्चा का पहिला विषय होता है सन्तान। एक बोली-रात को श्रीभद्रा बहिन के बच्चा होनेवाला था, पता नहीं क्या हुआ?

दूसरी बोली-बेचारी के हरबार बच्चे मरे ही पैदा होते हैं। पांचबार हो चुके हैं, देखें अब की बार क्या होता है?

तीसरी बोली- पर अब की बार एक ज्योतिषी ने ऐसा टोटका बताया है कि फिर आगे कभी मरे बच्चे पैदा ही न हों।

पहिली बोली-बता बता, क्या टोटका है ?

तीसरी-पर किसी से कहना मत !

पहिली-हमें क्या गरज पड़ी कि किसीसे कहने जायँ। ऐसी बात क्या किसी से कही जाती है ?

तीसरी-इसीसे तो कहती हूं। ज्योतिषी ने कहा था कि अब की बार अगर मरा बच्चा पैदा हो तो उसका खून मांस नख बाल लेकर तथा उसकी नाक काटकर दूधमें मिलाना और फिर उसकी बढ़ियां खीर बनाना, अच्छा और अधिक मधु डालना, तब किसी एक भिक्षुक को खिलादेना जो इस गांव का न हो। इस के बाद घर छोड़ कर दूसरे घर में रहने लगना।

पहिली-टोटका है तो पक्का, पर है बड़ा कठिन। अपने बेटे का मांस किसी को कैसे खिलाया जायगा और उसके अंग काटकर उसकी ऐसी दुर्दशा अपने हाथसे कैसे की जायगी ?

दूसरी-पर ऐसा किये बिना इन मरे बेटों की अक्ल ठिकाने न आयगी। न जाने कहां का बदला लेने के लिये हर बार मर मरकर पैदा होते हैं और माता पिता का तन मन धन नष्ट करते हैं। एक बार ऐसी दुर्दशा की कि फिर कभी इस प्रकार मर मर कर पैदा होने का नाम न लेंगे।

तीसरी-बात बिलकुल ठीक है। इसके सिवाय दूसरी राह नहीं है।

तीनों चलीगईं। मैं सोचने लगा-कैसे कैसे अन्धविश्वासों से भरा है यह जगत्। ये सोचती हैं कि मरा बच्चा अपनी दुर्दशा देखता होगा, समझता होगा, दुर्दशा से डर कर फिर इनके यहां पैदा न होने का संकल्प करता होगा और फिर भी मरा बना रहता होगा। कैसी अद्भुत मूढ़ता है !

सम्भवतः यह मूढ़ता जन्मसिद्ध है। छोटे बच्चों में यह वृत्ति पाई जाती है कि जब उन्हें कोई लकड़ी या पत्थर लग जाता है तब वे उस लकड़ी पत्थर को पीटने लगते हैं। वे सोचते हैं कि जैसे हम जानबूझ कर ऊधम करते हैं और मार से डरते हैं उसी प्रकार लकड़ी पत्थर भी डरते होंगे।

बाल्यावस्था की यह मूढ़ता किसी न किसी रूपमें साधारण मनुष्य में जन्मभर बनी रहती है और ज्योतिषी लोग जनता की इस मूढ़ मनोवृत्ति का उपयोग कर धनधान्य कमाते हैं कैसा भद्दा व्यापार है यह!

पर किस किसको दोष दिया जाय? बड़े बड़े विद्वान भी अपनी विद्वत्ता बुद्धिमत्ता का उपयोग इसी मार्ग में करते हैं। इसी आधार पर यहां ब्रह्माद्वैत दर्शन खड़ा होगया है जो कहता है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक परमाणु तक मूल में सचेतन है अर्थात वह अनुभव करने की शक्ति रखता है। यह बालमनोवृत्ति ही एकान्तवाद के आधार पर विकसित होकर ब्रह्माद्वैत दर्शन बनगई। खैर, दार्शनिक क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि से कुछ नये विचार तो मैं जगत् को दूंगा ही, पर सब से अधिक आवश्यक है इस प्रकार के टोन टोटकों को निर्मूल करना। मरना क्या है? मरने के बाद आत्मा किस प्रकार तुरंत दूसरे शरीर में चला जाता है, पुराने शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, न मरा शरीर कुछ अनुभव करता है आदि बात दुनिया को सिखाना होगी।

आत्मा मरने के बाद शरीर के आसपास घूमता रहता है, घर में घूमता रहता है, श्मशान में घूमता रहता है, या अंतरीक्ष में चक्कराता रहता है या दूसरे शरीर की बाट देखता हुआ यमपुरी में बैठा रहता है, या पितृलोक जाकर अपने बेटों की भेंट खाता रहता है, इस प्रकार के न जाने कितने अन्धविश्वास समाज

में फैले हुए हैं, और इन मूढ़तापूर्ण विश्वासों को टिकाये रखने का काम कर रहे हैं वैदिक ब्राह्मण, क्योंकि इस बहाने से उन्हें पर्याप्त से अधिक भेंट पूजा मिलती है। अपनी इसी भेंट पूजा के लिये भोग्यजीवी बनकर ये लोग जनता को कुमार्गस्थ किये हुए हैं। मुझे इन अन्धश्रद्धाओं के विरोध में एक पूरी और व्यवस्थित योजना का निर्माण करना पड़ेगा। उसमें मैं कितना तथ्य रख सकूंगा यह तो आज नहीं कह सकता पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें सत्य पर्याप्त होगा। जनता की वञ्चना उससे रुकेगी और उससे रुकेंगे और सैकड़ों अनर्थ भी।

इतने में आया गोशाल। बोला-बहुत सुन्दर नगर है प्रभु!

मैंने उपेक्षा से कहा-अच्छा।

वह बोला-जब आप आहार के लिये जायँगे तब देखकर कहेंगे कि मैं ठीक कहता था।

मैंने कहा-पर मुझे आज आहार नहीं करना है, मेरा उपवास है।

गोशाल-पर मुझे तो बड़ी भूख लगी है। मैं तो भिक्षा के लिये जाऊंगा।

मैंने कहा-अवश्य जाओ! पर इस बात का ध्यान रखना कि स्वाद के लोभ में कहीं नरमांस न खाजाओ।

गोशाल-ऐसा कैसे होगा प्रभु, मैं उस घर में जाऊंगा ही नहीं, जहां मांस की गन्ध भी आती होगी।

मैंने कहा-अच्छी बात है, फिर भी सम्हलकर रहना।

थोड़ी देर बाद गोशाल भिक्षा के लिये नगर की तरफ चलागया। मैं इस टोटके की बात पर विचार करता रहा। रह

रह कर यही बात ध्यान में आती रही कि आज ये ज्योतिषी लोग अपनी जीविका के लिये जैसे बीभत्स कृत्य कराते हैं, उनका ठिकाना नहीं।

सोचता हूं कि अगर गोशाल को यह बात मालूम होगी तो वह खूब उपद्रव करेगा, पर उस चालाक ज्योतिषी ने इस बात का ध्यान पहिले से ही रक्खा है। इसलिये उसने कहा था कि बाहर के साधु को आहार देना, और सम्भवतः बाहर के साधु को भी पता लगजाय तो तुरन्त घर बदलने की बात है। इस प्रकार उपद्रव से बचने की पूरी सतर्कता रक्खी गई है। खेद है कि ये पण्डित लोग पाप कराने में जितने सतर्क रहते हैं उतने सत्य में नहीं रहते। अगर रहते तो उनका भी भला होता और जनता का भी भला होता।

दो मुहूर्त में गोशाल भोजन करके आगया। भोजन की और भोजन करानेवाली सेठानी की बड़ी प्रशंसा करने लगा। बोला-आज तक न तो इतने आदर से मुझे किसी ने भोजन कराया न इतना स्वादिष्ट भोजन मिला।

मैंने कहा-खूब स्वादिष्ट खीर खाई है न?

बोला-हां!

मैंने कहा-उसमें खूब मधु भी पड़ा था।

बोला-हां!

मैंने कहा-और एलची वगैरह मसाले भी खूब थे।

बोला-जी हां! बिलकुल ठीक। आप से यह सब किसने कहा?

मैंने उसकी बात अनसुनी करके कहा-और सेठानी का नाम श्रीभद्रा था न?

गोशाल बोला-नाम तो मैंने नहीं पूछा, पर इतना मैंने सुना था कि किसी ने उसे श्रीभद्रा नाम से पुकारा था, पर आप से यह सब कहा किसने ?

मैं-मेरे ज्ञान ने कहा। मैं पहिले ही जान गया था कि आज तुम नरमांस का भोजन करोगे। अन्ततः वही हुआ। उस खार में नरमांस नररक्त यहां तक कि नख और बाल तक मिले थे।

अब तो गोशाल बहुत घबराया। ग्लानिसे थोड़ी देर में उसे उल्टी होगई। उल्टी को उसने ध्यान से देखा तो उसमें बाल और नख के छोटे छोटे टुकड़े दिखाई दिये। वह क्रोध से कांपने लगा, और क्रोध में ही नगर की तरफ भागा। तीन मुहूर्त में लौटा। अभी भी उसके चेहरे पर कठोरता के भाव थे।

सेठ सेठानी उसे नहीं मिले, तब सारे मुहल्ले को हजारों गालियाँ देकर और सेठ के घर में आग लगाकर चला आया।

मुझे यह सब सुनाकर गोशाल बड़बड़ाता ही रहा। बोला-आखिर जो होना होता है होकर ही रहता है। नियतिवाद ही सच्चा है।

३७—पथिक का उत्तरदायित्व

१२ मम्मेशी ९४३६ इ. सं.

आने जाने में मनुष्य इतना अनुत्तरदायी है कि वह इस बात का नानिक भी ध्यान नहीं रखता कि दूसरों के प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है। वह अच्छे से अच्छे स्थानपर जायगा तो उसे गंदा कर देगा, आग जलायगा तो बिना बुझाये चलदेगा। मनुष्य के भीतर यह पशुता पूरी मात्रा में विद्यमान है। गत रात्रिमें इसका बड़ा कडुआ अनुभव मिला।

मैं हलिद्दु गांव के बाहर ठहरा हुआ था कि रात्रिके पहिले पहर में वहां एक सार्थ आकर ठहरगया, पिछले पहर ठंड अधिक पड़ने से उन लोगों ने जगह जगह आग जलाई। और सूर्योदय के पहिले ही आग को जलती छोड़कर चल दिये। मैदान में घास सब जगह था और वह सूख गया था इसलिये उसके सहारे आग फैलने लगी। जगह जगह आग जलाई गई थी इसलिये फैलते फैलते वह मेरे चारों तरफ फैलगई। गोशाल चिल्लाया और भाग जाने की प्रेरणा की, पर एक तो ऐसे साधारण से संकट से डर कर भागना ठीक नहीं मालूम हुआ, दूसरे भागने का रास्ता बन्द ही होगया था क्योंकि मेरे चारों तरफ आग फैलगई थी, तीसरे जहां मैं खड़ा था उसके चारों तरफ हाथ हाथ तक घास नहीं था और फिर मैं नग्न था, कपड़ा होता तो आग कपड़े को पकड़कर मुझे सिर तक जला सकती थी, इन सब बातों से मैं स्थिर रहा। यों भी मृत्युंजय बनने के लिये मेरा दृढ़ रहना ही ठीक था। आग मेरे पास तक आई, ज्वालाओं की उष्णता से मेरे पैरों में वेदना हुई पर मैंने उपेक्षा ही की। थोड़ी देर में अग्नि शान्त होगई। पर मैं इस बात का विचार करने लगा कि मनुष्य अपनी लापर्वाही से दूसरों का कितना नुकसान कर जाता है। प्रत्येक पथिक का यह उत्तरदायित्व है कि जहां से जाय वहां कोई ऐसा कार्य न कर जाय जिससे पीछे रहनेवालों या पीछे आनेवालों को कष्ट हो। देखकर उठाना, देखकर रखना देखकर मल मूत्र निक्षेपण करना आदि प्रत्येक पथिक या प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक और प्रथम कर्तव्य होना चाहिये। मैं अपनी साधु संस्था में इस विषय के नियम अनिवार्य कर दूंगा।

३८-श्रमण विरोध

५ जिन्नी ९४३९ इ. सं.

आजकल श्रमण और ब्राह्मणों का विरोध अत्युग्र होगया है। ब्राह्मण संस्था जीर्ण होगई है समाज सेवा का जो कुछ कार्य वह कर सकती थी कर चुकी। जीविका की दृष्टि से कुछ क्रिया-कांड कराने के सिवाय उसका कोई कार्य नहीं रहगया है। सदाचार सेवा त्याग का कोई कार्यक्रम इनके पास नहीं है, समाज की दशा को सुधारने की बात भी ये नहीं करते। समाज साधारणतः रूढ़िका उपासक होता है उसकी इस दुर्बलता और मूढ़ता का उपयोग कर ब्राह्मण लोग दिन पूरे कर रहे हैं। श्रमण लोग क्रान्तिकारी हैं, सुधारक हैं विचारक हैं तपस्वी हैं त्यागी हैं, एक नये संसार का निर्माण करना चाहते हैं। जनता कई भागों में विभक्त है। कुछ तो ब्राह्मण भक्त हैं, जो कि अन्धश्रद्धा और रूढ़ियों के चंगुल में फसी हुई है। कुछ श्रमण भक्त है, जो कि सुधारक हैं जातिवाद के आक्रमण से जो पीड़ित हैं वे लोग भी श्रमणों की तरफ झुक रहे हैं। कुछ लोग दोनों को मानते हैं। पर झुकाव श्रमणों की तरफ बढ़ रहा है।

ब्राह्मणों में भी ऐसे विचारक हैं जो ब्राह्मणों की दूकानदारी से ऊब गये हैं पर बहुत कम हैं। क्षत्रियों में श्रमणों का प्रभाव अधिक है, अधिकतर श्रमण क्षत्रिय ही हैं फिर भी क्षत्रियों के द्वारा श्रमण सताये जाते हैं। इसका एक कारण यह है कि हर एक राजा अपने गुप्तचर को श्रमण का वेष देता है। गुप्तचरों को श्रमण वेष में कुछ सुभीता होता है पर यह ब्राह्मणों का षड्-यंत्र भी है। आजकल राजाओं के यहां मंत्री और पुरोहित अधिकतर ब्राह्मण ही होते हैं, वे श्रमणों को बदनाम करने के लिये भी गुप्तचरों को श्रमण का वेष देते हैं। फल यह हुआ है श्रमण लोग राजपुरुषों के द्वारा अनावश्यक रूप में भी सताये जाते हैं। इस

यहाने भी ब्राह्मणों के द्वारा श्रमणों का दमन होता है। वैश्य दोनों के पुजारी है। वे स्वर्ग की कामना से ब्राह्मणों की पूजा भी करते हैं और श्रमण के आशीर्वाद में धन तथा सन्तान में वृद्धि की आशा कर श्रमण की भी भक्ति करते हैं।

वैश्यों को श्रमण भक्ति का एक लाभ यह भी है कि उनके बारे में शूद्रों का आदर बढ़ जाता है, क्योंकि शूद्र प्रायः श्रमण-भक्त हैं। श्रमण लोग शूद्रों के सामाजिक अधिकार बढ़ाने का प्रयत्न भी करते हैं। इस श्रमण ब्राह्मण संघर्ष का परिणाम यह हुआ है कि कहीं कहीं श्रमणों को निष्कारण ही सताया जाता है, नानेक तनिक सी बात में अपमान किया जाता है उनकी हँसी उड़ाई जाती है।

आज लांगलगांव में आया। यहां एक लांगली का मन्दिर है उसी में ठहरा। यहां बहुत से बालक खेल रहे थे। हम दोनों को देखते ही बालक हमारी हँसी उड़ाने लगे, तालियाँ पीट पीट पीटकर चिढ़ाने लगे। निःसन्देह इनके मां बाप-श्रमण विरोधी हैं उन्हीं के संस्कार बालकों पर पड़े हैं। गोशाल को यह सहन न हुआ उसने बालकों को खूब डराया धमकाया। बालक डर कर भागे और अपने बापों को लेआये। उनने पहिले तो गोशाल को मारा, पर गोशाल पिट पिटकर भी उनकी निन्दा करतारहा, तब उनने मुझे भी मारा। पर मैं बिलकुल मौन और निश्चेष्ट रहा, इससे उनने मुझे कोई शक्तिशाली योगी समझा, तब क्षमा मांगकर चले गये।

श्रमणों को अपनी तपस्या और सहिष्णुता से ही जनता के मन को जीतना है। मैं तो इस मार्ग में अधिक से अधिक आगे बढ़ना चाहता हूं। इससे वातावरण श्रमणों के अनुकूल होगा, श्रमणों की महिमा बढ़ेगी तब सामाजिक क्रांति का मार्ग सरल होगा।

११ जिन्नी ९४३६ इ. सं.

आज चोराक गांव में आये। यहां कहीं ब्राह्मण भोजन के लिये रसोई बन रही थी। गोशाल वहां भिक्षा के लिये गया। तब निष्कारण ही ब्राह्मणों ने उसे पीटा। जब जनता के कुछ लोगों ने विरोध किया तब उनने कहदिया कि यह चोर की तरह छिप छिपकर देखता था इसलिये हमने इसे चोर समझा। यह उनका निपट बहाना था। मूल बात श्रमण विरोध की थी।

पर जनता के कुछ लोगों को ब्राह्मणों का यह बहाना जचा नहीं, इसलिये उनमें से किसी ने गोष्ठी मंडप में चुपचाप आग लगादी, इसलिये मंडप जल गया।

१४ जिन्नी ९४३६ इ. सं.

आज कलंबुक ग्राम में आये। यहां मेघ और कालहस्ती नामक दो शैलपालक भाई रहते थे। इनने हमें चोर समझा और पकड़लिया। पर मेघ ने पीछे से पहिचान लिया। मेघ पिताजी के समय में हमारे यहां नौकरी कर चुका था इसलिये पहिचानने पर क्षमा मांगी और हमें छोड़ दिया। गुप्तचरों को श्रमण वेष देने से ऐसी ही भ्रमपूर्ण दुर्घटनाएँ होरही हैं।

१० धामा ९४३६ इ. सं.

यह सोचकर मैं लाट देश की तरफ गया कि देखूं तो श्रमण संस्था के विषय में इस तरफ लोगों के क्या विचार हैं। पर यहां मुझे निराश होना पड़ा। यहां सब के सब आदमी श्रमण-विरोधी हैं।

लाट देश में प्रवेश करते ही यहां के लोग मुंडा मुंडा भिखमंगा कहकर नाक सिकोड़ने लगे, कोई पत्थर मारने लगे, ऊपर कुत्ते छोड़ने लगे, कोई चिढ़ाने लगे, कोई विदूषक की

तरह नकल करने लगे, गाली देना तो बहुत साधारण बात थी। दो चार दिन में एकाध बार कहीं भिक्षा में रूखा सूखा मिलता था, नहीं तो कोई भिक्षा भी न देता था।

गोशाल इन बातों से बहुत घबराया। उसके अनुरोध से मुझे लाट देश से लौटना पड़ा। कहीं कहीं मेरे शांत व्यवहार से लोगों पर कुछ असर पड़ा होगा, फिर भी अभी यह भूमि श्रमणों के योग्य नहीं है। सम्भवतः लोकोत्तर महर्धिकता के बिना यहां कुछ कार्य नहीं हो सकता।

अस्तु; एक नई जनता का अनुभव हुआ यही सन्तोष है।

१६ धामा ९४३६ इ. सं.

आसमान में मेघ छाने लगे थे, बिजली चमकने लगी थी इसलिये लाट देश के बाहर ही कहीं चातुर्मास बिताने के लिये हम लोग लौट रहे थे। इधर से दो आदमी जो डकैत मालूम होते थे लाट देश में घुस रहे थे। इतने में अंतरीक्ष से दोनों पर बिजली गिरी और दोनों मर गये। उन दोनों के हाथ में खुली नंगी तलवारें थी. सम्भवतः उसी के कारण उनपर बिजली पड़ी। लोहे के ऊपर बिजली अधिकतर गिरती है।

गोशाल बोला—ये लोग भी श्रमण विरोधी थे और अपने को मारने आरहे थे इसलिये इन्द्र ने वज्र फेंककर दोनों को समाप्त कर दिया।

मैं मन ही मन मुसकराया। ऐसे ऐसे घोर संकटों में इन्द्र की नींद खुलती नहीं, आज ही अचानक खुलगई। पर मैंने कहा कुछ नहीं। अच्छा हुआ बेचारे गोशाल के मन को सान्त्वना होगई।

१७ धनी ९४३६ इ. सं.

भद्दिलपुर में पांचवाँ चौमासा पूरा किया। यहां भी

श्रमणों के विरुद्ध वातावरण था। प्रारम्भ के कुछ दिनों तक तो भिक्षा नहीं मिलती थी। बाद में मेरी निस्पृहता शान्ति आदि देखकर श्रमणों के बारे में लोगों के विचार बदलने लगे, भिक्षा मिलने लगी फिर भी अभी वातावरण को पूरी तरह अनुकूल होने में समय लगेगा।

२८ धनी ९४३६इ.सं.

आज कदलीग्राम आया। यहां भी श्रमण विरोधी वातावरण था। गोशाल भोजन करने गया तो लोगों ने उसे भोजन तो दिया पर खादाड़ आदि कहकर काफी गालियाँ भी दीं। भोजन के लिये गोशाल यह सब सहगया, पर मैं तो भिक्षा लेने गया ही नहीं। सम्भव है मेरे भिक्षा न लेने से यहां के लोग समझ जायँ कि श्रमण खादाड़ नहीं होते।

१० चन्नी ९४३६ इ.सं.

बीच के गांव में मैंने भोजन लिया था। पर आज जंबू गांव में आया तो यहां भोजन नहीं लिया। यहां के लोगों ने भिक्षुकों के लिये सदाव्रत खोल रक्खा है। किसी के यहां जाओ तो वे लोग भिक्षा न देकर उसे सदाव्रत में भेज देते हैं। यहां जो कर्मचारी रक्खे गये हैं वे अपमान तिरस्कार करते हुए भिक्षुकों को भोजन कराते हैं। गोशाल ने यह सब सहकर भोजन कर लिया। गोशाल से ही मालूम हुआ कि साधारण भिक्षुक से श्रमण को अधिक गालियां मिलती हैं, इसलिये भी मैं नहीं गया।

बिना भोजन किये विहार करते समय मैं सदाव्रत के सामने से ही निकला। मुझे आते देखकर पहिले तो कर्मचारियों ने नाक मुँह सिकोड़ा, पर जब मैंने भिक्षा नहीं ली तब उनने पुकारा। पर मैं अपनी गति से आगे बढ़ता ही गया। गोशाल ने कहा-तुम लोग श्रमणों का तिरस्कार करते हो, असभ्य हो,

तुम्हारे यहां प्रभु भिक्षा न लेंगे। तब वे लोग क्षमा मांगकर भोजन के लिये आग्रह करने लगे! पर मैंने भिक्षा नहीं ली।

मैं अपने तीर्थ में साधुओं के लिये नियम कर दूंगा कि कोई भी साधु सदाव्रत में भोजन न ले।

मेरे सदाव्रत में भोजन न लेने से श्रमणों के बारे में इस गांव का वातावरण अच्छा ही हुआ।

६-सत्येशा ९४३७ इ. सं.

तुम्बाक गांव में आया यहां एक मर्मभेदी समाचार सुना। पार्श्वनाथ की सम्प्रदाय के मुनिचन्द्राचार्य नामक श्रमण को रातमें आरक्षकों ने मार डाला। सुनते हैं ब्राह्मणों की इनपर बहुत दिनों से तीखी दृष्टि थी। आरक्षकों को उनने षड्यंत्र में शामिल किया और तब उनने रातमें चोर के बहाने उन्हें मार डाला। पर श्रमणों के बारेमें इसका परिणाम अच्छा ही हुआ। इस निरपराध हत्या से सारा गांव श्रमणभक्त बनगया। मुनि की अंत्येष्टि क्रिया में सारा गांव शामिल हुआ और वातावरण ब्राह्मणों के प्रतिकूल और श्रमणों के अनुकूल होगया। मैंने भी पार्श्वापत्यों के त्याग आदि के बारेमें लोगों से चर्चा की और श्रमणों की प्रशंसा की।

१९-सत्येशा ९४३७ इ. सं

कूपिका ग्राम में हम दोनों को आरक्षकों ने खूब सताया। इतने में दो परिव्राजिकाएँ वहां से निकलीं। उनने देखा कि दो श्रमण सताये जारहे हैं। मेरी निर्भयता निश्चलता देखकर उनपर बहुत असर पड़ा और उनने मेरी वन्दना की। आरक्षकों को डर लगा कि सम्भवतः लोकमत उनके विरुद्ध होजायगा इसलिये उनने हमें छोड़ दिया।

पर इन संकटों को देखकर गोशाल घबरा गया। इसलिये जब मैं विशालापुरी की तरफ़ जा रहा था तब एक त्रिक पर

पहुँचने पर गोशाल ने मेरे साथ आने से इनकार कर दिया। बोला-आपके साथ रहने से मुझे बहुत संकटों में पड़ना पड़ता है।

मैंने कहा-जैसी तुम्हारी इच्छा।

गोशाल अलग होगया। श्रमण ब्राह्मण संघर्ष के कष्ट उसे असह्य होगये थे। पर वह नहीं जानता कि यही तो सत्य-विजय का मार्ग है।

२९ — दुःख निमन्त्रण हेय

२४ सत्येशा ९४३७ इतिहास संवत्

मनुष्य में दुःख सहने की शक्ति होना चाहिये, जिसमें कष्ट सहिष्णुता नहीं है वह तपस्वी नहीं बन सकता, और न पूरी तरह लोकहित के कार्य में लगसकता है। पर जो लोग जानबूझ कर दुःख को निमन्त्रण देते हैं वे ठीक नहीं करते। वे समझते हैं कि दुःख सहन से ही तप होजायगा दुःख सहने की अपने जीवन के लिये या लोकहित के लिये क्या उपयोगिता है इसका विचार नहीं करते। कई लोग चारों तरफ अंगीठी जलाकर उष्णता सहने का प्रदर्शन करते हैं, कोई ठंडे से ठंडे जल में नहाकर ठंडी हवा में बैठते हैं। जो लोग प्रदर्शन के लिये यह सब करते हैं वे तो दम्भी वंचक हैं पर जो लोग दुःख को ही धर्म समझकर दुःख सहते हैं और दुःख को निमन्त्रण देकर धर्म होने का भ्रम करते हैं वे भी मिथ्यात्वी हैं। इन बाहरी तपों से न तो आत्मा का उद्धार होसकता है न लोकहित होसकता है। असली तप तो भीतरी तप हैं। अपने दोषों को देखना दूसरों की सेवा करना चिन्तन मनन करना आदि भीतरी तप हैं। बाहरी तपों की सार्थकता भीतरी तपों की प्राप्ति में है। कोरे बाहरी तप किसी काम के नहीं। बल्कि कभी कभी वे बड़ा अनर्थ कर जाते हैं।

गत रात्रि की बात है। मैं एक टेकरी के नीचे ध्यान लगा कर बैठा था। टेकरी के ऊपरी भाग में एक ऐसा वृक्ष था जो आडा होकर मेरे सिर पर फैला हुआ था। रात्रि के पिछले पहर एक तापसी वहां आई। उसके बड़े बड़े जटा थे, वल्कल उसने पहिन रक्खे थे। निकट के कुंड में उसने स्नान किया और टेकरी पर चढ़कर उस वृक्ष पर चढ़ी: और उसकी ऊपरी शाखाओं को पकड़कर नीची शाखाओं पर खड़ी होगई तीव्र वेग से ठंडी हवा चल रही थी, और वह ठंड के मारे कांप रही थी, दंतवीणा बजा रही थी। इस प्रकार के घोर कष्ट सहने से असीम धर्म होजायगा ऐसी उसकी समझ थी, पर उसके इस प्रयत्न का फल था दूसरों को घोर कष्ट, जिससे कि पाप होरहा था।

तापसी ठीक मेरे सिर पर थी। उसके वल्कलों में से जटाओं में से पानी की बूंदें गिर कर मेरे ऊपर पड़ती थीं। उधर ठंडी बूंदें और ठंडी हवा, इधर नग्नशरीर, इससे पर्याप्त शीत वेदना होरही थी।

यह बात दूसरी है कि उस वेदना ने मेरे मनको स्पर्श नहीं कर पाया। प्रारम्भ में कुछ क्षण तो मुझे वेदना हुई, पीछे मैं अपनी गुत्थी सुलझाने में लगगया। इसलिये सवेरे तक पता ही न लगा कि शरीर पर क्या बीतरही है।

इस ध्यान का परिणाम यह हुआ कि मेरी गुत्थी सुलझ गई। बहुत दिनों से मैं इस विचार में था कि जगत के आकार के विषय में निर्णय करूं। क्योंकि जगत् के आकार का निर्णय किये बिना आत्मवाद पर विश्वास कराना कठिन है, और आत्मवाद पर विश्वास कराये बिना ऐहिक-फल-निरपेक्ष धर्म कराना कठिन है। इसलिये लोक का ज्ञान आवश्यक है जिससे स्वर्ग नरक आदि की व्यवस्था बनाई जासके।

इस विषय में बहुत सी मान्यताएँ प्रचलित हैं। कोई कोई लोग लोक को ब्रह्मांड कहते हैं, ब्रह्मका अण्ड। इस तरह उनकी दृष्टि में जगत् अंडे के आकार का बना हुआ है। पर अण्डे में ऊर्ध्वलोक क्या, मध्य लोक क्या और अधोलोक क्या? यह सब बताना कठिन है। और भी लोगों की नाना कल्पनाएं हैं। पर उससे मन को सन्तोष नहीं मिलता। मैं विचारते विचारते इस निश्चय पर पहुँचा हूं कि लोक पुरुषाकार है। कटि के स्थान पर यह मध्यलोक है, ऊपर ऊर्ध्व लोक, नीचे पाताल लोक। अपने मनमें मैंने इस बात का भी चित्र तैयार कर लिया है कि स्वर्ग आदि कहां है नरक कहां है असुर आदि देव कहां रहते हैं। इस प्रकार एक बड़ी गुत्थी सुलझ गई है। इस विचार में मैं इतना लीन हुआ कि तापसी के शीत बिन्दु मेरे शरीर में कैसी वेदना पैदा कर रहे हैं इसका भी मुझे भान न हुआ। मैं तो लोकावधि ज्ञान पाने में लीन था और वह मैंने पालिया। लोक की अवधिका निश्चय होगया।

जब प्रातःकाल हुआ तब वह तापसी नीचे उतरी, झाड़ी से नीचे उतरते समय उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। वह चौंकी। झाड़ पर जहां वह खड़ी थी ठीक उसी के नीचे मुझे ध्यान लगाये देखकर उसे पश्चात्ताप होने लगा। उसने आकर मुझे प्रणाम किया, क्षमा मांगी।

मेरी इच्छा तो हुई कि उसे समझाऊँ कि इस प्रकार दुःख को निमन्त्रण देने से क्या लाभ? तुझे विवेकपूर्वक यत्न के साथ सार्थक कष्ट सहन करना चाहिये, या कभी आकस्मिक कष्ट आजाये तो उसे सहना चाहिये। इस तरह दुःखों को जानबूझकर निमन्त्रण क्यों देती है? पर मेरा यह उपदेश उपदेश न होता उलहना होता, क्योंकि उसके व्यवहार से मुझे कष्ट हुआ था। उपदेश में अपने स्वार्थ की जरा भी छाया न हो

तभी उनका असर होता है, इस विचार से मैंने कुछ नहीं कहा। वह तीन वार प्रणाम कर चलीगई।

अब मुझे तपस्याओं के बारेमें कुछ ठीक ठीक निर्णय करना है जनसेवक को कष्ट सहना तो आवश्यक है पर अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण देना मूढ़ता है, दुःख से धर्म होजायगा यह मिथ्यात्व है। तपों के भेद प्रभेद करके मैं इस विषय को पर्याप्त रूपमें स्पष्ट करदूंगा।

४० – स्वघातक विद्वेष

४ अंका ९४३७ इ. सं.

ग्रामानुग्राम भ्रमण करता हुआ मैं कल संध्या को विशाला नगरी में आपहुंचा। एक लुहार की शाला में बहुत से मनुष्य कार्य कर रहे थे उनकी अनुमति लेकर मैं उस विशाल शाला के एक कोने में ठहर गया। रात्रिभर वहीं रहा। आज उपवास होने से पोरसी का समय होने पर भी मैं भिक्षा लेने के लिये नहीं गया। वहीं बैठा रहा।

भृत्य लोग काम करने लगे और कल की अपेक्षा व्यवस्थित रूपमें काम करने लगे। ज्ञात हुआ कि आज छः महीने के बाद इस शाला का स्वामी शाला में आनेवाला है। अभी तक वह छः माह से बीमार था। बीमारी चली गई है, केवल निर्बलता है। परिजनों के कंधों पर हाथ रखकर वह शाला का निरीक्षण करेगा इसलिये सभी भृत्य सतर्कता से कार्य कर रहे हैं।

मैं सोचने लगा। मनुष्य और पशु में यही अन्तर है। पशु शक्ति से प्रेरित होकर भय से कार्य करता है, मनुष्य कर्तव्य से प्रेरित होकर निर्भयता से कार्य करता है। पर बहुत कम भृत्य या दास इस मनुष्यता को सुरक्षित रख पाते हैं। वे पशु के समान भय प्रेरित होकर काम करते हैं। मैं इन सब विचारों में

लीन बैठा था कि लुहार की आवाज मेरे कानोंमें पड़ी। वह चिल्ला रहा था--इस नंगे को यहां किसने बुलाया ? छः महीने में तो मैं यहां आया और आते ही अपशकुन की मूर्त्ति एक श्रमण दिख पड़ा। निकालो इसको यहां से !

मेरी विचारधारा टूटी। सब लोग चुप रहे। किसीको साहस न हुआ कि मुझे निकाले। लुहार इससे और भी उत्तेजित हुआ और उत्तेजित होकर वह स्वयं ही मुझे निकालने को आगे बढ़ा। 'सिर तोड़ दूंगा तेरा'—कहता हुआ क्रोध में घन उठाकर दौड़ा। पर बेचारा बहुत निर्बल था इसलिये उसका तन मन क्रोधावेग को न सह सका और घन लिये हुए ही लड़खड़ाकर गिर पड़ा और मूर्च्छित होगया। लड़खड़ाने में उसके हाथ का घन उसी के सिर पर पड़ा जिससे उसका सिर फट गया। थोड़ी देर में उसकी मूर्च्छा अनंत मूर्च्छा बनगई। उसके जीव ने शरीर छोड़ दिया। उसका श्रमण-विद्वेष उसका ही घातक सिद्ध हुआ। मुझे इस बात का खेद हुआ कि मेरे निमित्त से उसकी मौत हुई, यद्यपि इसमें मेरा तनिक भी अपराध न था।

मैंने देखा कि लुहार के मरने पर भृत्यों और दासों के मनमें कोई खेद नहीं था, बल्कि उसके लड़खड़ाकर गिरते ही कोई कोई तो मुसकराने लगे थे। इससे मुझे यह समझने में देर न लगी कि भृत्य और दास श्रमण-भक्त हैं। यों-तो जाति-व्यवस्था की दृष्टि से लुहार को भी श्रमण-भक्त होना चाहिये पर महर्द्धिक होने से इसे ब्राह्मणों का आशीर्वाद मिलता मालूम होता है। जीविका-लोभी ब्राह्मण-वर्ग अर्थ-लाभ की दृष्टि से शूद्र को भी सन्मान दे देते हैं। और पीढ़ियों से दबा हुआ शूद्र इतने में ही सन्तुष्ट होजाता है कि दूसरे शूद्रों से मैं अधिक सन्मानित हूँ। जाति-पांति का उच्च-नीचता का भूत शूद्रों के मन में भी उसी

तरह घुसा हुआ है जिस तरह अन्य वर्णों के मनमें। वे भी एक दूसरे को नीचा समझने की धुनमें रहते हैं। और किसी भी अवसर पर अपने ही लोगों से ऊंच कहलाने का अवसर नहीं चूकते। इसी कारण यह लुहार ब्राह्मणभक्त और उग्र श्रमण-विद्वेषी वनगया था जिसके कारण आज उसने अपना जीवन खोया।

४१—यक्षपुजारी की श्रमणभक्ति

१० धामा ९४३६ इ. सं.

गांव गांव घूमता हुआ आज म ग्रामक गांव आया यहां एक यक्षमन्दिर है। इस यक्ष का नाम है विभेलिक, इसलिये जहां यक्षमन्दिर है उस उद्यान का नाम है विभेलिकोद्यान। उद्यान अच्छा है, ग्रीष्म ऋतु में भी इसमें हरियाली दिखाई देती है। पर इस उद्यान से जो ठंडक मिली उससे सौगुनी ठंडक मिली इस उद्यान के यक्षमन्दिर के पुजारी से। है तो यह ब्राह्मण, पर बड़ा विचारक और श्रमण-भक्त मालूम हुआ।

जब मैं पहुंचा तब दिन का तीसरा प्रहर बीत चुका था। पर्याप्त उष्णता थी उष्णता और यात्रा के कारण मैं कुछ थक सा गया था। एक अशोक वृक्ष के नीचे एक शिलापटट् पर मैं विश्राम करने लगा। थोड़ी देर में यह आया और प्रणाम करके सामने बैठ गया। पहिले तो परिचय वार्ता हुई, फिर समाजके अन्धविश्वासों रूढ़ियों, मानव की सामाजिक घोर विषमताओं आदि पर चर्चा होने लगी।

अन्त में बोला—जीविका के लिये मैं पुजारी का धंधा करता हूं पर ऐसा ज्ञात होता है कि मैं मोघजीवी हूं। यक्षपूजा एक आतंक पूजा है आदर्शपूजा नहीं। ब्राह्मण लोग इस क्रियाकांड को जीविका के लिये सुरक्षित रक्खे हुए हैं।

मैंने कहा- सचमुच यक्षपूजा हेय है फिर भी यज्ञकांडों बराबर हेय और घृणित नहीं। श्रमणों का यह ध्येय है कि वे जनता को इस जंजाल से छुड़ायँगे, और उसके स्थान पर आदर्श व्यक्तियों की पूजा चलायँगे, जिससे जीवन में कुछ सीखने को मिले। जीवन में कुछ सुधारकता उत्पन्न हो।

पुजारी- मैं बहुत श्रमणभक्त हूँ भगवन्!

मैं- सो तो तुम्हारी बातों से स्पष्ट मालूम होता है।

पुजारी- मैं क्रिया से भी श्रमणभक्ति का परिचय देना चाहता हूँ भगवन्!

मैं मुसकराकर बोला- जिसमें तुम्हें आनन्द हो वही करो।

इसके बाद उसने मेरी खूब पगचम्पी की, शरीर पर लेप किया, अच्छे जल से शरीर साफ किया। और नाना तरह के सुगन्धित पुष्पों से द्रोण भरकर मेरे चारों तरफ रख दिये।

फूलों का तो मेरे लिये कोई उपयोग नहीं था क्योंकि वे केवल इन्द्रियों की खुराक थे पर पगचंपी आदि से थकावट दूर हुई और शरीर कुछ अधिक सक्षम बना।

पर शारीरिक सेवा से अधिक हुई मानसिक सेवा। इस पुजारी की भक्ति से ब्राह्मणों के विषय में मेरा दृष्टिकोण ही बदल गया। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण ही आज श्रमणों के उग्र विरोधी हैं। मुझे जो कष्ट सहना पड़े हैं उसमें ब्राह्मणों का प्रच्छन्न हाथ बहुत है। फिर भी ब्राह्मण एक महाशक्ति हैं। इनके पास मस्तिष्क है और पीढ़ियों से वह मस्तिष्क संस्कृत होरहा है। यह ठीक है कि रूढ़िभक्ति के कारण उसकी उर्वरता नष्ट होगई है फिर भी उस शक्ति का उपयोग करना आवश्यक है। अगर यह पुजारी ब्राह्मण होकर भी श्रमणभक्त बन सकता है तो

अच्छे अच्छे विद्वान् भी श्रमणभक्त क्यों नहीं बन सकते ? अगर उनका सहयोग मुझे मिल जाय तो मैं अपने ज्ञान का प्रकाश चारों ओर अच्छी तरह फैला सकता हूँ। चन्दन का वृक्ष अपने में सुगन्ध पैदा कर सकता है पर उसे फैलाने का काम तो वायु का ही है। ये ब्राह्मण वायु का कार्य कर सकते हैं। इनके बिना मेरा कार्य अधूरा ही रहेगा। अस्तु ! अभी तो मुझे और भी तपस्या करना है, अन्तिम ज्ञान प्राप्त करना है, श्रमण-विरोधी वातावरण को दूर हटाते हुए भ्रमण करना है, लोगों के हृदय पर अपनी तपस्या की छाप मारना है, इसके बाद जब मैं नये धर्म-तीर्थ की स्थापना करूंगा तब सब से पहिले ऐसे विद्वान् ब्राह्मणों की खोज करूंगा जो मेरी इस सुगंध को फैलाये।

आज की घटना का स्मरण मेरे हृदय में उल्लास भर रहा है। इतना ही नहीं, वह अशोक वृक्ष भी मेरे उल्लास का एक प्रतीक बन बैठा है।

४२– जीवसमास और अहिंसा

९ धनी ९४३७ इ. सं.

इस भद्रकापुरी में मैंने अपना छट्ठा चातुर्मास निरुपद्रव रीति से पूरा किया। श्रमणों के बारेमें इस पुरी के लोगों के परिणाम बड़े भद्र हैं और मेरे यहां रहने से, मेरी निस्पृहता देख-कर श्रमणों के विषय में इनके मनमें भक्ति पैदा होगई है।

यहीं मैंने अपनी ज्ञानसाधना का एक बड़ा भारी काम पूरा किया है, और वह है जीवसमासों का निर्माण। चातुर्मास में मैंने कीड़ों मकोड़ों पतंगों आदि का पर्याप्त निरीक्षण किया है। और इस बात का निश्चय किया कि किस जीव के कितनी इन्द्रियाँ हैं। यह मैंने देखा कि चलते फिरते इन प्राणियों में दो

इन्द्रियाँ तो प्रत्येक के है। एक तो स्पर्श का ज्ञान दूसरे स्वाद का ज्ञान। झाड़ों में मुझे स्वाद का ज्ञान नहीं मालूम हुआ फिर भी स्पर्श का ज्ञान अवश्य है। स्पर्शन इन्द्रिय एक मूल और व्यापक इन्द्रिय है जो हरएक प्राणी के पाई जाती है। पर लट वगैरह के गन्ध का ज्ञान नहीं दिखाई दिया, इसलिये इन्हें द्वीन्द्रिय ठहराया। चिन्टियाँ जिस तरह अन्धेरे में चलती हैं उससे मालूम होता है कि इन्हें अँधेरा उजेला एक सरीखा है पर गंधज्ञान इनका वहुत तीव्र है। इसलिये इन्हें तीन इन्द्रिय, पतंग आदि को चार इन्द्रिय कहना चाहिये।

एक तरह से यह अच्छा ही हुआ कि चौमासे के प्रारम्भ में ही गोशाल लौट आया था। छः महीना इधर उधर भटककर और लोगों के द्वारा काफी सताया जानेपर वह फिर आगया। मैं समझता हूँ कि वह टिकेगा नहीं, क्योंकि इसकी दृष्टि लोगों से विशेषतः अशिक्षित लोगों से पूजा वसूल करने की हैं। वह अवसर ढूंढ रहा है कि गमारों का परमगुरु वनजाऊं। अच्छे हों या वुरे, पक्के हों या कच्चे, जहां जहां मैं जाऊं वहां वहां गवारों की भीड़ जरूर पहुँचे। सम्भवतः वह यह भी सोचता है कि जब गमारों की भीड़ मेरे पीछे होजायगी तब गमारों की भीड़ से अपना स्वार्थ सिद्ध करने वाले कुछ शिक्षित लोग भी मेरा मुँह ताकने लगेंगे। वह समाज को सुधारना नहीं चाहता; केवल वातों से, संगीत से, नृत्य से लोगों को रिझाकर आकर्षण का पूजा का सुख लूटना चाहता है। इस चातुर्मास में अुसकी इस मनोवृत्ति का सूक्ष्म परिचय मिला है। पर कभी न कभी यह पल्लवित होगी।

पर हो! इसके लिये मैं क्या करूं? ऐसे लोग पूरी सफलता तो पा नहीं सकते, केवल क्षेत्र को वश में कर पाते हैं पर काल को नहीं। ये कुछ समय के लिये वरसाती नालों की तरह

सर्वत्र शब्दायमान होजाते हैं पर कुछ दिनों बाद वहां सूखे पत्थर ही दृष्टि पड़ते हैं, अस्तु गोशाल की मुझे चिन्ता नहीं है। जब तक उसे मेरे साथ रहना हो, रहे। जब जाना हो जाये। इस चातुर्मास में तो अुसका कुछ उपयोग भी होगया। जब मैं यह जानना चाहता था किसी प्राणी पर शब्द का प्रभाव पड़ता है या नहीं तब उसकी परीक्षा के लिये चिल्लाने का काम गोशाल ही करता था।

वह भिक्षा में कभी कभी भोजन ले आता था अुसे कीड़ियों में विखेरकर भी उनकी परीक्षा के काम में मुझे सहायता करता था। इस तरह इस चातुर्मास में पर्याप्त प्राणिपरीक्षा की है। और मैंने संसार के सब प्राणियों को एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इसप्रकार पांच भागों में विभक्त कर लिया है।

पर मेरा यह प्राणिविज्ञान प्राणिशास्त्र की दृष्टि से नहीं है किन्तु धर्मशास्त्र की दृष्टि से है। संसार को सुखी करना और यथासम्भव अधिक से अधिक अहिंसा का पालन करना मेरा ध्येय है। और यह ध्येय केवल ध्यान का ही विषय नहीं है किन्तु व्यवहार का भी विषय है। इसलिये यह देखना पड़ता है कि हिंसा में तरतमता किस प्रकार है। यों-तो जीवमय संसार में स्वास लेने में भी जीव मरते हैं, कृषिमें, शाकभाजी खाने में भी जीव मरते हैं पर इस हिंसा में और पशु पक्षियों को या कीड़ों मकोड़ों को मार कर खाने की हिंसा में अन्तर है। इस अन्तर को दिखलाये बिना अहिंसा को व्यावहारिक नहीं बनाया जासकता।

इसीलिये मैंने श्रेणीविभाग किया है। और जिस प्राणी में जितना अधिक चैतन्य है जितनी अधिक समझदारी है उसकी हत्या में उतना ही अधिक पाप है ऐसा निश्चय किया है। इस

प्रकार एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि में अधिक पाप है।

पर इस प्रकार का विचार करते समय मुझे पंचेन्द्रिय प्राणियों को दो भागों में विभक्त करना पड़ा है। कुछ प्राणी तो ऐसे हैं जो मनुष्य के भावों को समझ सकते हैं। मनुष्य उन्हें सिखा सकता है, अपनी भाषा के संकेत समझा सकता है, वे मनुष्य के चेहरे को पढ़ सकते हैं, मनुष्य की अच्छी बुरी चेष्टाओं को या स्वर को पहिचान सकते हैं उससे प्रेम या वैर कर सकते हैं, इस प्रकार मनुष्य के साथ किसी न किसी तरह के कौटुम्बिक सम्बन्ध रखने की योग्यता रखते हैं। उनकी हिंसा करने में बहुत पाप है, और उनकी हिंसा में कम पाप है जो ऐसी योग्यता नहीं रखते, भले ही उनके पांचों इन्द्रियाँ हों।

अनुभव से मैंने जाना है कि जिनके पांच से कम इन्द्रियाँ हैं अुनमें इस प्रकार समझदारी, जिससे वे मनुष्य से सामाजिकता स्थापित कर सकें, नहीं होती। इसलिये मनुष्य की दृष्टि से वे असंज्ञी ही कहलाये। इस प्रकार चतुरिन्द्रिय तक सबको असंज्ञी, पंचेन्द्रिय में कुछ को असंज्ञी ठहराया है। इससे हिंसा अहिंसा के निर्णय करने में, हिंसा की तरतमता जानने में सुभीता होगा।

कुछ दर्शन ऐसे हैं जो मानते हैं कि प्रत्येक जीव के साथ मन होता है, यह बात ठीक है। वैसा मन कीड़ी मकौड़ियों में भी होता है, वे अपने पक्ष की और दूसरे पक्ष की कीड़ियों को पहिचानती हैं, लड़ती हैं, सहयोग करती हैं, संग्रह करती हैं, घर बनाती हैं परस्पर में अुनमें पूरी सामाजिकता होती है, इसलिये उन्हें मन तो है, फिर भी मैं उन्हें समनस्क नहीं कहना चाहता क्योंकि प्राणिमात्र के जो भावमन या तुच्छ मन है उससे किसी को समनस्क कहना व्यर्थ है, उससे हिंसा अहिंसा की तरतमता

नहीं बताई जासकती। इससे कीड़ी की हत्या और पशुपक्षी की हत्या एक ही श्रेणी की बनजाती है इससे लोग अहिंसा को अव्यवहार्य मानकर टाल देते हैं।

हिंसा अहिंसा का विचार मनुष्य को करना है। किस जीव की हिंसा से उसके परिणामों पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता हैं इसका विचार करते समय मनुष्य की सामाजिकता विचारणीय है। इसलिये संज्ञी असंज्ञी या समनस्क असमनस्क का विचार करते समय मैंने मनुष्य की अपेक्षा से निर्णय किया है। कीड़ी कीड़ों के लिये समनस्क होसकती है पर मनुष्य के लिये वह अमनस्क ही है। इसलिये मनुष्य कीड़ों को बचाने के लिये जितना प्रयत्न करता है उतना ही प्रयत्न पशुपक्षियों को बचाने के लिये करे यह ठीक नहीं, इसलिये समनस्क अमनस्क भेद ठीक ही है। इस प्रकार आज मैंने एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय इसप्रकार छः भागों में जीवों का समास किया, इससे हिंसा अहिंसा की व्यवहार्यता में बड़ी सुविधा होगी। अब यह स्पष्ट विधान बनाया जासकता है कि एकेन्द्रिय की हिंसा तो अनिवार्य है पर दो इन्द्रिय आदि की हिंसा रोकना चाहिये और संज्ञी पंचेन्द्रिय की हिंसा का बचाव सब से अधिक करना चाहिये। गोशाल को भी मैंने यह बात समझा दी है।

१ चिंगा ९४३७ इ. सं.

गोशाल में चपलता बहुत है और लड़कपन सरीखा उन्माद भी। आज जब वह मेरे साथ आरहा था तब वन में उसने बहुत सी वनस्पति का नाश किया। चलते चलते किसी झाड़ की शाखा तोड़ देना, कोई पौधा उखाड़ देना, किसी को कुचल देना, इस प्रकार कुछ न कुछ उपद्रव करते चलना उसका स्वभाव सा बन गया था। यह सब देखकर मैंने कहा—गोशाल

बेचारे झाड़ों को व्यर्थ कष्ट क्यों दे रहे हो ?

गोशाल बोला-झाड़ तो एकेन्द्रिय है भगवन्, उनके विषय में हिंसा अहिंसा का क्या विचार ?

मैं- चलते फिरते त्रस जीवों के बराबर विचार भले ही न किया जाय पर विचार तो करना ही चाहिये।

गोशाल-तब तो स्वास लेने का भी विचार करना पड़ेगा।

मैं-स्वास लेने का विचार नहीं किया जासकता क्योंकि उसमें वे सूक्ष्म प्राणी मरते हैं जिन्हें हम देख नहीं सकते हैं। पर झाड़ तो स्थूल प्राणी हैं सूक्ष्म और स्थूलों की हिंसा में बहुत अंतर है। सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा के विषय में संयम पाला नहीं जासकता पर स्थूल प्राणियों की हिंसा के विषय में संयम पाला जासकता है।

इसके बाद गोशाल चुप होगया और फिर उसने निरर्थक उपद्रव नहीं किया।

इसके बाद जब मैं ध्यान लगाने बैठा तब मैंने तय किया कि जीवसमास छः के स्थान पर सात कर देना चाहिये। सूक्ष्म एकेन्द्रिय. स्थूल एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञीपंचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय। सूक्ष्म एकेन्द्रिय की हिंसा अनिवार्य है, स्थूल एकेन्द्रिय की हिंसा निरर्थक न करना चाहिये, बाकी त्रस जीवों की हिंसा उनके निरपराध होने पर जान बूझकर कदापि न करना चाहिये। छः की अपेक्षा सात जीवसमास मानने से अहिंसा के सूक्ष्म विचार और उनकी व्यवहार्यता का अच्छा समन्वय होता है।

२८-मम्मेशी ९४२८ इ. सं.

गत छः वर्षों के भ्रमण और तप का इतना प्रभाव तो

हुआ है कि श्रमण विरोधी वातावरण बहुत कुछ शांत होगया है। यही कारण है कि इधर दस ग्यारह माह से मेरे ऊपर कोई उपसर्ग नहीं हुआ। और अब लोग मेरा आदर एक राजपुत्र के नाते नहीं किन्तु एक श्रमण के नाते करने लगे हैं। यद्यपि अभी मैं तीर्थंकर नहीं बन पाया हूँ फिर भी लोग मेरी बातों का थोड़ा बहुत पालन करने लगे हैं। और पालन न करने पर पश्चात्ताप भी करने लगे हैं।

आज शालिशीर्ष गांव का भद्रक नामका युवक मेरे पास आया और हाथ जोड़कर बोला-भगवन् मैंने आपके सामने मांस न खाने का निश्चय प्रगट किया था पर विवशता के कारण मैं उस निश्चय पर दृढ़ न रह सका।

मैं-ऐसी क्या विवशता थी भद्रक! शालिशीर्ष ग्राम में शालि दुर्लभ होजाय और मांस सुलभ होजाय ऐसा तो हो नहीं सकता।

भद्रक- सो तो नहीं हो सकता, पर बीमारी में वैद्य ने कहा तुम अगर अंडा न खाओगे तो तुम्हारी रक्तहीनता दूर न होगी। इसलिये मैं अंडा खाने लगा और जब अंडा खाने लगा तब मुर्गी भी खाने लगा।

मैं-शाकाहार से भी रक्तवृद्धि होसकती थी भद्रक। यह एक कुसंस्कार है कि मांस के विना रक्तवृद्धि नहीं होसकती। गाय महिष अश्व, हरिण आदि जानवर पूर्ण शाकाहारी हैं पर इनमें रक्त की कमी नहीं होती तब मनुष्य को ही उस आपत्ति का सामना क्यों करना पड़ेगा? अस्तु, अंडा लेलिया सो लेलिया, यद्यपि उसका लेना भी हिंसा है, त्याज्य है, पर उसके लेने से तुम मुर्गी क्यों लेने लगे?

भद्रक – मुर्गी और मुर्गी का अंडा एक ही बात है भगवन्!

में- एक ही बात अवश्य है फिर भी हिंसा में बहुत अन्तर है। मुर्गी को मारने पर जितनी उसे वेदना होती है उतनी अंडे को नहीं। क्योंकि अंडे का चैतन्य उतना जाग्रत नहीं हुआ है। जब तक अंगोपांग नहीं बनते तब तक चैतन्य पूरा प्रगट नहीं होता इसलिये सुख दुःख संवेदन भी कम होता है। तदनुसार घातक के भावों पर भी प्रभाव पड़ता है। यद्यपि उचित तो यही है कि तुम न मुर्गी खाओ, न अंडा खाओ, मांस विरत को दोनों का त्याग उचित है पर अगर कभी अंडा खालिया तो इससे मुर्गी भी खालेना चाहिये, यह विचार मिथ्या है।

इसके बाद भद्रक ने दृढ़ प्रतिज्ञा ली कि न मैं कभी मुर्गी खाऊंगा न अंडा।

उसके जाने पर ध्यान लगाने पर मैं सोचने लगा कि जीवस-मास वर्णन में मुर्गी और अंडे के बीचमें कुछ भेद बताना जरूरी है। किसी प्राणी की एक वह अवस्था जिसमें अुसके अंगोपांगों का निर्माण नहीं हुआ है यहां तक कि उनके कोई चिन्ह भी प्रगट नहीं हुए हैं, दूसरी वह अवस्था जिसमें अंगोपांग बनजाने से वह प्राणी के आकार में आगया है, पर्याप्त अन्तर है। यद्यपि प्राणी दोनों हैं फिर भी जब तक अंगोपांग बनने नहीं लगते तब तक प्राणीपन पर्याप्त नहीं है इसलिये उन्हें अपर्याप्त करना चाहिये, बाद में पर्याप्त। इस प्रकार सात प्रकार के प्राणियों के दो दो भेद होगये। सात पर्याप्त, सात अपर्याप्त। अपर्याप्त की अपेक्षा पर्याप्त के घात में हिंसा बहुत अधिक है। इस प्रकार चौदह जीवस-मासों के बनने से हिंसा अहिंसा का विचार और भी अधिक व्यवस्थित और व्यवहार्य बनगया है।

———

४३– विरोध और सभ्यता

१८ चिंगा ६४३८

आलभिका नगरी में मेरा सातवां चातुर्मास बहुत अच्छी तरह व्यतीत हुआ यहां भी कोई अुपसर्ग नहीं हुआ। श्रमण विरोधी वातावरण अब काफी शान्त होगया है। नये तीर्थ की स्थापना की भीतरी भूमिका तो बन ही रही है पर बाहरी भूमिका भी बन रही है।

चातुर्मास समाप्त कर मैं कुंडक ग्राम आया। यहां एक कामदेव का मन्दिर है। जीवन में काम पुरुषार्थ को भी एक स्थान तो है पर इस तरह काम की मूर्त्ति बनाकर उसके आगे वीभत्स नृत्य करना ठीक नहीं। मेरे विचार से तो आदर्श गुणों के और आदर्श मनुष्यों के ही मन्दिर बनाना चाहिये। और उनकी उपासना का तरीका भी ऐसा योग्य होना चाहिये जिससे जीवन पर कुछ अच्छा प्रभाव पड़े। मन्दिरों की, उपासना का और उपासना के ध्येय का जो वर्तमान रूप है उसे मैं पसन्द नहीं करता।

गोशाल को मेरे इन विचारों का परिचय है। इसलिये जब मैं विशाल मन्दिर के एक एकान्त भाग में ठहर गया और ध्यान में लीन होगया तब गोशाल ने एक उपद्रव खड़ा कर दिया। ये काम मन्दिर मुझे पसन्द नहीं हैं इसलिये अुसने मूर्त्ति का भयंकर अपमान किया। मूर्त्ति के आगे खड़ा होकर उसे पुरुष चिन्ह बताने लगा। यह विरोध नहीं असभ्यता की सीमा थी। इसका परिणाम भी बहुत बुरा हुआ।

थोड़ी देर में मन्दिर का पुजारी आया और अुसने गोशाल की यह कुचेष्टा देखली। श्रमणों की निन्दा करने का यह बड़ा अच्छा अवसर था इसका उसने पूरा उपयोग किया। वह चुपचाप जाकर पड़ौस के लोगों को बुलालाया और चुपचाप

गोशाल की कुचेष्टा बतलादी। लोगों ने यह दृश्य देखा तो श्रमणों का धिक्कार करने लगे और बालकों ने तो गोशाल को खूब मारा भी। कुछ लोग श्रमणों से सहानुभूति रखते थे उनने गोशाल को छुड़ाया तो जरूर, पर उनकी मुखाकृति से मालूम होता था कि उनके मनमें भी श्रमणों से घृणा सी पैदा होरही है।

सभ्यता और शिष्टाचार भूलने का यह स्वाभाविक परिणाम था। इस घटना से उस गांव का वातावरण इतना श्रमण-विरोधी होगया कि हम फिर उस गांव में ठहर न सके। खैर! मेरा तो उपवास था पर भूखे गोशाल का चिहरा भूखसे जितना उतर गया उतना मार और अपमान से भी नहीं उतरा था। इस दुर्घटना से गोशाल को कुछ सभ्यता का पाठ तो पढ़ना चाहिये पर ऐसा नहीं मालूम होता कि वह सभ्यता का पाठ पढ़ेगा।

२७ चिंगा ९४३८

आज मर्दन ग्राम में आया और बलदेव के मन्दिर में ठहरा। कुंडक ग्राम की तरह गोशाल ने यहां भी बलदेव की मूर्त्ति का अपमान किया। और ग्रामवासियों ने मार-पीट की। कुंडक ग्राम की दुर्घटना से कुछ पाठ सीखने की अपेक्षा गोशाल में प्रतिक्रिया ही अधिक हुई। अब वह देवमूर्त्तियों के साथ साधारण ग्रामवासियों का उग्र विरोधी और अकारण द्वेषी होगया है। अब वह अकारण ही इनका अपमान करने को लालायित रहता है।

पर मुझे उसकी यह बात बिलकुल पसन्द नहीं। क्योंकि इस तरीके से लोग कुदेव पूजा तो छोड़ेंगे नहीं, उल्टे श्रमण विरोधी बनकर श्रमणों की बात सुनना अस्वीकार कर देंगे। धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति के पथ में यह एक बड़ी भारी बाधा होगी।

इस घटना से खिन्न होकर मैंने तुरंत मर्दन ग्राम भी छोड़ दिया। सोचा कि इसकी अपेक्षा तो वन में ठहरना अच्छा। इसलिये मैं शालवन की तरफ चला। वन में पहुँचकर मैंने गोशाल से कहा-गोशाल, ऐसा नहीं ज्ञात होता कि तुम्हें मेरे निकट रहने से कुछ लाभ होगा।

गोशाल सिर नीचा करके चुप रहा।

मैंने कहा-देखो गोशाल, किसी के ऊपर किसी भी तरह का उपदेश लादने का मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि मेरे निकट में रहने वाले मेरी प्रकृति तथा व्यवहार से ही कर्तव्य को समझकर स्वयं प्रेरित होकर कार्य करें। कुंडक ग्राम में जो दुर्घटना हुई, मैं समझता था उससे तुम सभ्यता का पाठ सीख जाओगे पर तुम्हारे प्रतिक्रियावादी स्वभाव ने तुम्हें ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी ही अधिक बनाया। जब तुम इतनी सी बात स्वयं नहीं सीख सकते तब मैं तुम्हें कुछ भी नहीं सिखा सकूंगा। तुम सोच नहीं पा रहे हो कि तुम्हारे इन असभ्यतापूर्ण कार्यों से मेरे मार्ग में कैसी बाधा उपस्थित होरही है, जिस क्रांति के लिये मैंने जीवन लगाया है उसके मार्ग में कैसे रोड़े अटक रहे हैं।

गोशाल ने कहा-तो भगवन् आपने मुझे पहिले ही क्यों न रोक दिया, मैं ऐसा कार्य फिर न करता।

मैंने कहा-क्या अब भी शब्दों से रोकने की जरूरत थी गोशाल, स्वयं प्रेरितता मनुष्यता का चिन्ह है और पर प्रेरितता पशुता का चिन्ह है। थोड़ी बहुत यह मनुष्यता और थोड़ी बहुत यह पशुता हर एक में रहती है, पर ऐसी दुर्घटना होने पर भी और इस प्रकार तुरंत ही गांव छोड़ देने पर भी अगर तुम कुछ न सीख सको तो यह पशुता का अतिरेक ही कहलायगा।

गोशाल-क्षमा करें भगवन्! मैं समझता था कि आप

कुदेव पूजा के विरोधी हैं इसलिये कुदेवों का जो मैं अपमान करता हूँ उससे आप सहमत होंगे।

मैं-पर ऐसे बीभत्स तरीके से कुदेव पूजा का विरोध करना विष्ठा से कपड़े का मैल धोना है। तुम्हारी यह बीभत्स असभ्यता तो कुदेव पूजा से भी बुरी है। विरोध में भी सभ्यता की मर्यादा न छोड़ना चाहिये।

गोशाल— तो अब मैं ऐसी असभ्यता का प्रदर्शन न करूंगा।

४४– मल्लि अर्हत

१२ बुधी ९४३९ इतिहास संवत

शालवन में रहनेवाली एक भिल्लनी ने खूब गालियां दीं। मालूम नहीं उसे आर्यों से ही चिढ़ थी, या श्रमणों से चिढ़ थी, या मेरे नग्न वेष से चिढ़ थी, पर बिना किसी स्पष्ट कारण के वह दिनभर गालियाँ देती रही। बीच बीच में दो चार बार तो उसने कंकड़ भी मारे जब वह थक गई तब मैं वहां से चला आया।

मार्ग में जितशत्रु राजा की सीमा में प्रवेश करने पर शत्रु का गुप्तचर समझकर जितशत्रु के मनुष्यों ने पकड़ लिया और राजा के सामने उपस्थित किया। वहां किसी ने मुझे पहिचान लिया। जितशत्रु को जब मेरा परिचय मिला तब उसने क्षमा मांगी।

वहां से विहार कर मैं कल ही इस पुरिमताल नगर में आया हूँ। और इस मल्लि देवी के मन्दिर में ठहरा हूँ। यक्षों के मन्दिर बहुत देखे, कामदेव आदि के मन्दिरों में भी ठहरा पर इस मन्दिर सरीखा शान्त वातावरण कहीं नहीं पाया।

यहां मल्लिदेवी की मूर्त्ति है। मल्लिदेवी की जो कथा सुनी उससे बहुत प्रसन्नता हुई। वह एक राजकुमारी थी। पर अपने ढंग की अलग। साधारणतः राजकुमारियों की चर्चा का विषय होता है शृंगार और विवाह। कली खिलते न खिलते उनपर भौंरे गुनगुनाने लगते हैं और उनका सारा ध्यान असी गुनगुनाहट में चला जाता है। पर मल्लिदेवी बिलकुल अद्भुत थी। उनका सारा समय तत्वचर्चा और ज्ञान में जाता था। संसार की सेवा करना और क्रान्ति मचाना पुरुषों का ही काम नहीं है स्त्रियों का भी काम है। मल्लिदेवी के हृदय में सेवा की यही महत्वांकांक्षा जागती थी। और इसी के अनुसार उनने काम किया।

चार राजकुमार उनके साथ शादी करना चाहते थे चारों ही मल्लिदेवी के लिये प्राण देने को तैयार थे किन्तु मल्लिदेवी ने उन्हें अपना शिष्य बनाकर छोड़ा। उनने एक अपनी ही सुन्दर मूर्त्ति बनवाई जो भीतर से पोली थी। और जिसके सिर पर ढक्कन था। उस मूर्त्ति के भीतर उनने सुगंधित पुष्प, रस आदि भर दिये जो कि कुछ दिन में भरे भरे वहीं सड़ गये और अुनसे दुर्गंध आने लगी। जब तक ढक्कन बंद रहता तब तक दुर्गन्ध दबी रहती और जब ढक्कन खोल दिया जाता तब दुर्गन्ध कमरे में फैल जाती।

इतनी तैयारी करने के बाद, उनने चारों राजकुमारों को विवाह के विषय में चर्चा करने के लिये बुलवाया। आते ही पहिले उनने उसे मूर्त्ति को देखा। मूर्त्ति के सौंदय से वे बहुत प्रभावित हुए पर ज्यों ही वह मूर्त्ति के पास आने लगे त्यों ही मल्लिदेवी ने उसका ढक्कन खोल दिया। ढक्कन खुलते ही मूर्त्ति से ऐसी दुर्गन्ध निकली कि राजकुमारों ने अपनी नाक दबा ली और कुछ हट गये। मल्लिदेवी ने जरा मुस्कराते हुए पूछा 'मूर्त्ति के इतने अच्छे सौंदर्य से आप लोग पीछे क्यों हट रहे हैं।

राजकुमारों ने कहा-' जिस सौंदर्य में ऐसी दुर्गन्ध भरी हो उस सौंदर्य के पास कैसे जाया जा सकता है।'

मल्लिदेवी बोली-तो क्या आप समझते हैं कि मल्लि की मूर्त्ति के भीतर ही दुर्गन्ध है मल्लि के शरीर के भीतर दुर्गन्ध नहीं है? मूर्त्ति तो पवित्र धातु की है जबकि यह शरीर हाड़, मांस, खून आदि अपवित्र धातुओं से बना है। शरीर के भीतर जैसी चीजें डाली जाती हैं उससे भी अधिक सुगन्धित चीजें इस मूर्त्ति के भीतर डाली गयी हैं। फिर भी जब आप लोग मूर्त्ति के सौंदर्य से दूर भागते हैं तब इस मल्लि के सौंदर्य से चिपटने की कोशिश क्यों करते हैं? यह तो मूर्त्ति से भी अधिक दुर्गंधित और अपवित्र है।

मल्लिदेवी की चतुराई काम कर गयी। राजकुमार अत्यन्त लज्जित हुए और उनने मल्लि के चरणों पर सिर झुका दिया। इसके बाद मल्लि ने गृहत्याग किया, धार्मिक और सामाजिक सुधार के लिये प्रयत्न किया और इन चारों राजकुमारों ने उनके सहयोगी या शिष्य बनकर उनका साथ दिया। और वह इतनी लोक पूज्य हुई कि आज मैं उनका यह मन्दिर बना हुआ देखता हूँ।

नारियों को तीर्थ-प्रचार के कार्य में लगाने के लिये मल्लिदेवीका उदाहरण एक अच्छा नमूना है। नारियों में उत्साह भरने के लिये मैं अपने तीर्थ में मल्लिदेवी की कथा को अच्छा स्थान दूंगा। नर और नारी दोनों ही आत्मोत्कर्ष के क्षेत्र में ऊंचे से ऊंचे जासकते हैं इसका यह सुन्दर उदाहरण होगा और यक्ष मन्दिरों की अपेक्षा इस प्रकार के आदर्श व्यक्तियों के मन्दिर जनता के लिये हजार गुणे कल्याणकारी होंगे। यक्ष मन्दिरों में जो आतंक पूजा का दोष है वह इनमें नहीं होगा।

मल्लिदेवी की कथा से मुझे एक विशेष बात और मिली कि शरीर की अशुचिता की भावना तुच्छ स्वार्थों को हटाने के लिये काफी उपयोगी होती है। वैराग्य को पैदा करने में और उसे टिकाये रखने में यह बहुत सहायक है। सोचता हूँ इस प्रकार की कुछ भावनाएँ और बनाऊंगा जो संसार के और विषय भोगों के मोह से मनुष्य को बचाकर रख सकें। यह ठीक है कि भावना किसी वस्तु के एक अंग को ही बतलाती है उसके आधार पर तत्व-ज्ञान या दर्शन सरीखी गम्भीर चर्चा नहीं की जासकती, वह बुद्धि को प्रभावित भी नहीं कर सकती, किन्तु मन को प्रभावित अवश्य कर सकती है और उनके आधार से जीवन की दिशा भी बदली जासकती है।

अस्तु ! यह अशुचि भावना तो है ही, पर एक दिन विचार कर और भी कुछ भावनाएँ निश्चित करूंगा और उसका एक व्यवस्थित पाठ बनाऊंगा।

अभी अभी मेरे मन में यह विचार भी उठा है कि मल्लि-देवी को मैं अपने तीर्थ में कोई खास स्थान दूँ। यद्यपि अभी निश्चय तो नहीं है फिर भी ऐसा ज्ञात होता है कि मैं जिस तीर्थ की स्थापना करूंगा उसे अनादि या बहुत प्राचीन तो सिद्ध करना ही होगा, क्योंकि इस के बिना यह भोला जगत उसकी सचाई पर विश्वास ही न करेगा। वह तो यही कहेगा कि तुम्हारे तीर्थ की हमें क्या जरूरत है ? उसके बिना अगर हमारे पुरखों का उद्धार हो गया तो हमारा भी हो जायगा और अगर यह कहूँ कि मेरे तीर्थ के बिना आज तक किसी का उद्धार नहीं हुआ है तब तो लोग मुझे पागल समझकर इतने जोर से हँसेंगे कि उस हँसी के प्रवाह में मेरा तीर्थ ही उड़ जायगा। इसलिये सोचता हूँ कि मुझे अपने तीर्थ का संस्थापक बनना ठीक नहीं, जीर्णोद्धारक बनना ठीक होगा और इस प्रकार अनादि से अनन्त काल तक

जीर्णोद्धारकों की श्रेणीका एक सिद्धान्त बनाना होगा और उससे मैं अपने को एक जीर्णोद्धारक मानूंगा और उन जीर्णोद्धारकों में मल्लिदेवी का भी एक नाम होगा। इससे एक पंथ कई काज होंगे। तीर्थ की प्राचीनता की छाप जनता पर जल्दी लग जायगी, तीर्थ के प्रचार में सुभीता होगा, क्योंकि मल्लिदेवी की ऐतिहासिकता और पूज्यता को लोग मानते हैं। इधर मल्लिदेवी को एक तीर्थंकर मान लेने से नारियों में भी आत्मविश्वास आत्मगौरव की भावना बढ़ेगी, और साथ ही तीर्थ प्रचार के कार्य में या धार्मिक और सामाजिक क्रांति में नारियों से सहयोग भी मिलेगा।

आज इस मल्लि-मन्दिर में ठहरने से मुझे बहुत ही ज्ञान-सामग्री मिली है। भविष्य में इस का बहुत उपयोग होगा।

४५–सत्य और तथ्य

२४ बुधी ९४३९ इ. सं.

गोशाल स्वभाव से बहुत उथला है इसीलिये उसका विनोद भी उथला होता है। आज जब मैं उण्णाक ग्राम की तरफ जारहा था, तब रास्ते में वर वधू का एक जोड़ा मिला। साथ में बाराती लोग भी थे। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों बहुत कुरूप थे। पर इसमें अब वर वधू का क्या वश था। लेकिन गोशाल ने उनकी हँसी उड़ानी शुरु की। 'क्या लंगूर कैसी शक्ल है!'।

इस प्रकार बार बार हँसी उड़ाई, तब बारातियों को क्रोध आगया और वे गोशाल को बांधकर एक बांस विड़े के पास डालने लगे।

मैं तटस्थ ही रहा। गोशाल का अपराध स्पष्ट था। फिर भी मैं यह सोचता खड़ा रहा कि इस घटना का अंत होजाय फिर गोशाल मेरे साथ चलने लगे।

मुझे खड़ा देखकर मेरे लिहाज से उनने गोशाल को छोड़ दिया। गोशाल मेरे साथ आगया। पर मन ही मन वह भनभनाता रहा। अपनी दुष्कृति का दुष्परिणाम देखकर उसे पश्चात्ताप होना चाहिये था पर गोशाल के चेहरे से ऐसा नहीं मालूम हुआ। सम्भवतः अुसमें प्रतिक्रिया होरही थी। थोड़ी देर बाद उस प्रतिक्रिया का परिचय भी मिला।

आगे चलने पर एक गोचर भूमि मिली। जहां बहुत से ग्वाले गायें चरा रहे थे। गोशाल भन्नाया हुआ तो था ही, ग्वालों को डपटता हुआ बोला-अरे, ओ बीभत्स म्लेच्छो, जानवरों के साथियो! बोलो यह मार्ग कहां जाता है?

ग्वालने कहा-किस तरह बोलता है रे साधुड़ा! गाली क्यों बकता है?

गोशाल ने कहा-अरे दासीपुत्रो, सच बोलने से बिगड़ते क्यों हो? क्या तुम बीभत्स नहीं हो, क्या जानवरों के साथ नहीं रहते? तब सच बोलने में गाली क्या हुई?

ग्वालों ने उसकी बात का अुत्तर न दिया। कुछ तरुण ग्वाल लट्ठ लेकर उसकी तरफ दौड़े, पर कुछ वयस्क ग्वालों ने बचालिया।

आगे बढ़ने पर मैंने गोशाल से कहा-भाई, तुम सत्य का रूप नहीं समझते।

गोशाल-तो क्या मैंने झूठ कहा था? क्या वे सब जानवर के साथी नहीं थे? बीभत्स नहीं थे?

मैं-थे, फिर भी तुम्हारा कहना सत्य नहीं था। सत्य उसे कहते हैं जिससे अपनी और दुनिया की भलाई हो। परन्तु तुम्हारे इस बोलने से न तो दुनिया की भलाई हुई न तुम्हारी भलाई हुई। तथ्य होने से ही सत्य नहीं होजाता, वह हितकर

भी होना चाहिये। हितकर होनेपर अतथ्य भी सत्य होजाता है। और अहितकर होनेपर तथ्य भी असत्य होजाता है।

गोशाल चुप रहा।

मैंने सोचा कि जब मैं आत्मविकास की श्रेणियाँ या गुणस्थान निश्चित करूंगा तब इस बात का ध्यान रक्खूंगा। अतथ्य तो जीवन के अन्त तक रहे पर असत्य का त्याग जल्दी होना चाहिये।

४६- पांचव्रत

२२ मुंका ६४३६ इतिहास संवत्

राजगृह नगर में मेरा आठवां चातुर्मास पूरा हुआ। राजगृह बहुत समृद्ध नगर है। नगर की ऊपरी चमक भी देखी और भीतरी कालिमा भी। एक तरफ अटूट सम्पत्ति है तो दूसरी तरफ दयनीय अभाव। ऐसा मालूम होता है कि सम्पत्ति एक तरफ सिमिटकर इकट्ठी होगई है और दूसरी तरफ सूखा सा पड़गया है। अगर यह सिमिटी हुई सम्पत्ति बटजाय तो अभाव-ग्रस्त लोगों को इसप्रकार दयनीय अवस्था का अनुभव न करना पड़े। इसलिये यह आवश्यक मालूम होता है कि अपरिग्रह पर पूरा जोर दिया जाय। आज तक साधुओं के लिये अपरिग्रह पर जोर दिया जाता रहा है। वास्तव में वह उचित है। पर केवल इतने से ही समाज की आर्थिक समस्या हल नहीं होसकती। जब तक गृहस्थ भी इस विषय का पालन न करेंगे तब तक केवल साधुओं के पालन से काम नहीं चल सकता। इससे मैंने तय किया है कि साधुओं के लिये जो व्रत बनाये जायँ उनका आंशिक पालन गृहस्थों के लिये भी आवश्यक ठहराया जाय। साधुओं का व्रत महाव्रत हो तो गृहस्थों का व्रत अणुव्रत, पर व्रत हो अवश्य। अपरिग्रह महाव्रत और अपरिग्रह अणुव्रत इस प्रकार व्रत की दो श्रेणियाँ होना चाहिये।

इस चातुर्मास में व्रतों के बारे में काफी विचार किया। और मुख्य व्रतों की संख्या भी नियत कर दी। तय किया कि पांच व्रत मानना चाहिये। अहिंसा तो मुख्य है ही। सत्यवचन और अचौर्य भी आवश्यक है। साथ ही एक ब्रह्मचर्य व्रत भी अवश्य मानना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मणों ने भी संन्यासी को ब्रह्मचर्य आवश्यक माना है पर उनका ब्रह्मचर्य साधना नहीं है, अत्यन्त वृद्धावस्था में होने के कारण उपयोगिताशून्य और यत्न-शून्य है।

मैं ब्रह्मचर्य को लोकसाधना का अंग बनाना चाहता हूं। ब्रह्मचर्य केवल ब्रह्मचर्य के लिये ही न हो, किन्तु वह धर्मप्रचार का विशेष साधक हो। इसलिये मैं सिर्फ वृद्धों को ब्रह्मचारी नहीं बनाना चाहता हूं किन्तु उन तरुणों को भी ब्रह्मचारी बनाना चाहता हूं जो साम्प्रदायिक क्रांति और धर्म संस्थापना में जीवन दे सकते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना यह कार्य कठिन है। क्योंकि सपत्नीक व्यक्ति धर्म प्रचार के लिये विहार नहीं कर सकता। साथ ही कुटुम्ब बढ़जाने से जीविका की समस्या भी विकट होजाती है।

निःसन्देह वानप्रस्थावस्था में सपत्नीक रहकर भी मनुष्य कुछ काम कर सकता है पर उसमें भी अड़चनें हैं। आज-कल सपत्नीक रहकर मनुष्य विहार नहीं कर सकता, दूसरे वान-प्रस्थ अवस्था में क्रांति के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को झेलना कठिन होता है।

आजकल कुछ श्रमण सम्प्रदाय भी ऐसे हैं जो ब्रह्मचर्य को महत्व नहीं देते, वे चातुर्मास को ही मानते हैं पर इसका परिणाम यह हुआ है कि वे कुछ भी नहीं कर पा रहे हैं। मुझे तो एक क्रांति करना है उसके लिये ऐसे साधु सेवक चाहिये जो युवक हों, कर्मठ हों, और ब्रह्मचारी हों। इन सब बातों का

विचार कर ब्रह्मचर्य को भी एक आवश्यक व्रत मानलिया है। इसका अणु रूप होगा यह कि गृही मनुष्य व्यभिचार से मुक्त रहे।

इसप्रकार अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच मूलव्रत मानना उचित है। साधुओं के लिये इन्हें महाव्रत कहना होगा और गृहस्थों के लिये अणुव्रत। अन्य सब उपव्रत इन्हीं पांच व्रतों के सहायक होंगे।

४७–बाईस परिषह

११ धनी ९४३८ इ. सं.

एक वार फिर म्लेच्छ देशों में भ्रमण करके वहां के अनुभव प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसलिये वज्रभूमि, शुद्ध भूमि और लाट देशों में घूमा। पर ऐसा मालूम हुआ कि अभी यह भूमि धर्म प्रचार के योग्य नहीं है। यहां के लोग घोर हिंसक, अकारण द्वेषी और निर्दय हैं। यह सोचकर मैंने यहां अपना नवमा चातुर्मास भी विताया कि सम्भव है मेरी तपस्या का इनपर कुछ प्रभाव पड़े। पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। यहां के लोग मेरे पीछे कुत्ते छोड़ देते थे, कभी पत्थर मारते थे। गालियाँ देना तो मामूली बात थी। गोशाल तो काफी उद्विग्न होगया। सम्भवतः वह चला जाता, पर इस लज्जा के कारण नहीं गया कि एक बार जाकर उसे लौटना पड़ा था।

मैंने इस चातुर्मास में इसी बात का हिसाब लगाया कि कितनी तरह की बाधाएँ साधुको जीतना चाहिये। अधिकांश बाधाएँ तो मेरे जीवन में ही भोगने में आगईं और मैंने उन्हें जीता, कुछ निकट सम्पर्क में आये हुए लोगों में देखने को मिलीं। मैं समझता हूं कि अगर मनुष्य इन्हें जीतने की शक्ति न रक्खे तो आजकल जनसेवा के मार्ग में आगे बढ़ना, और पूरी तरह

साधुता का पालन करना कठिन है। होसकता है कि इन कष्टों को जीतने का अवसर हरएक को न मिले, परन्तु अगर मिले तो इन्हें जीतने की शक्ति अवश्य होना चाहिये। वास्तव में इन्हें जीतने में शारीरिक शक्ति की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी मानसिक शक्ति की। मन अगर बलवान हो तो ये बाधाएँ या परिषहें सहज ही जीती जासकती हैं। मन अगर बलवान न हो, संयमी और तपस्वी न हो, तो शरीर में सहनशक्ति अधिक होने पर भी इन्हें जीता नहीं जासकता। परिषहों को जीतने में शारीरिक असमर्थता का इतना विचार नहीं करना है जितना मानसिक असमर्थता और असयंम का।

भूख प्यास और ठण्ड गर्मी ये चार परिषहें तो स्पष्ट हैं। मैंने इनपर पर्याप्त विजय पाली है। उपवासों का तो मुझे काफी अभ्यास है और इससे मेरे आत्मगौरव की और संयम की काफी रक्षा हुई है। ऐसे अवसर आये हैं जब अगर मैं भिक्षा लेता तो बड़ा अपमानित होना पड़ता और श्रमणों के विषय में लोगों की हीन भावना होजाती। पर उस अवसर पर मेरे उपवासों ने उस दीनता से मुझे बचाया, इससे श्रमणों का गौरव बढ़ा जो भविष्य में सत्यप्रचार में बहुत सहायक होगा।

भूख पर विजय पाने के लिये सिर्फ अुपवास ही काफी नहीं है, स्वाद विजय भी जरूरी है। जैसा भी भोजन मिल गया, या जितने परिमाण में मिलगया उतने से ही काम चला लेना और सन्तोष के साथ अपना काम करना भी आवश्यक है। इससे मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में स्वपर कल्याण के कार्य में लगा रह सकता है। अगर अधिक भूखा रहने से पित्त प्रकुप्त होने का भय हो तो कम खाकर, या स्वादहीन वस्तु लेकर मनुष्य भूखपर विजय पासकता है। साधु को इसका अभ्यास तथा मनोबल होना ही चाहिये।

यही बात ठण्ड गर्मी के बारे में है। अभ्यास से बहुत कुछ सहने की आदत पड़जाती है। हां! शरीर को स्वस्थ रखने का तो ध्यान रखना ही चाहिये पर अधिकांश अवसरों पर होता है यह कि शरीर तो सहने को तैयार रहता है पर मन सहने को तैयार नहीं रहता। यह कमजोरी जाना चाहिये।

डांस मच्छर का कष्ट भी एक परिषह है, जिसे जीतना चाहिये। साधु को प्रायः एकान्त स्थानों में ही ठहरना पड़ता है ऐसे स्थान में डांस मच्छर कीड़े मकोड़ों का राज्य रहता है। इन म्लेच्छ देशों में तो मुझे प्रतिदिन इन कष्टों का सामना करना पड़ा है। अगर इसका सामना न कर पाता तो यहां एक दिन भी न ठहर पाता। इसलिये स्वपर कल्याण की दृष्टि से दंशमशक परिषह जीतना भी आवश्यक है।

साधु को विहार तो करना ही पड़ता है इसके लिये उसमें पैदल भ्रमण करने की ताकत तो होना ही चाहिये। रथ तथा अन्य वाहनों का उपयोग करना आज कल उसके लिये उचित नहीं है। क्योंकि इससे परिग्रह बढ़ेगा और पराधीनता पैदा होगी। हां! नद नदी समुद्र आदि पार करने के लिये नौका का उपयोग करना पड़े तो बात दूसरी है। साधारणतः पैदल विहार ही व्यावहारिक मार्ग है इसलिये थकावट से घबराना न चाहिये। चर्या परिग्रह विजय करना चाहिये।

इसी प्रकार शय्या परिषह जीतना भी आवश्यक है। साधुको तूल तल्प की आशा न करना चाहिये। मिट्टी के शरीर को मिट्टीपर सुलाने की आदत डलवाना चाहिये। तभी साधु सब जगह जाकर आनन्द से गुजर कर सकेगा और जगत को भी आनन्द का सन्देश देसकेगा।

आसन भी एक परिषह है। चर्या में थकावट होती है तो आसन में भी एक तरह की थकावट या व्याकुलता होती है।

मनुष्य एक जगह बैठे बैठे ऊब जाता है, हाथ पैर हिलने डुलने को लालायित होजाते हैं, इस समय उनको वश में रखना आवश्यक है। सभा आदि में तो इसकी आवश्यकता है ही, पर अन्य भी अनेक स्थानों पर इसका उपयोग होता है। उसदिन यक्षमन्दिर में जब गोशाल उन युवकों के द्वारा पीटा गया तब मैं अपनी निश्चेष्टता या आसन परिषह विजय के कारण सुरक्षित रहा। बात यह है कि साधु को चाहे चलना पड़े, चाहे एक आसन से बैठना पड़े, चाहे जमीन पर सोना पड़े, प्रत्येक परिस्थिति पर विजय पाने की उसमें शक्ति होना चाहिये और उसे उस शक्ति का उपयोग भी करते रहना चाहिये।

वध अर्थात् मारपीट आदि को सहने की शक्ति भी साधु में होना चाहिये। साधु को जनता के आचार विचार में क्रांति करना है और जनता के मानस पर अपनी हितैषिता की छाप मारना है, ऐसी अवस्था में वह मारपीट को चुपचाप सहन कर जाय तभी वह जनता के हृदय पर अपनी हितैषिता की छाप मार सकता है। साधु के ऐसे कोई अपने स्वार्थ नहीं हैं जिनके लिये उसे किसी से संघर्ष करना पड़े, उसे जो कुछ करना है जनता के लिये करना है इसके लिये वध परिषह का जीतना जरूरी है।

रोग भी एक परिषह है। रोग का शरीर पर जो असर पड़ता है उसका तो उपाय क्या है? पर रोग में धीरज रखना अपने वश की बात है, यही रोग विजय है। जो आदमी शरीर को आत्मा से भिन्न समझता है उसे शरीर की विकृति से आत्मा को विकृत न करना चाहिये।

ये दस परिषहें ऐसी हैं जो शारीरिक कहीं जासकती हैं क्योंकि इनपर विजय पाने के लिये शरीर को अभ्यास कराना पड़ता है, या शरीर में सहिष्णुता की जरूरत होती है। हालां कि

शारीरिक परिषहों को जीतने में असली काम तो मन को ही करना पड़ता है।

मैं समझता था कि शारीरिक परिषहें ये दस ही पर्याप्त हैं पर आज गोशाल को जो कांटा लगा उससे गोशाल तड़प गया। मैंने जब धीरज रखने को कहा तो कहने लगा—मैं बीमारी से नहीं डरता, डांस मच्छरसे भी नहीं डरता, पर कांटा तो बस कांटा ही है। मैंने किसी तरह उसका कांटा निकाल दिया। पर बाद में यह सोचा कि कांटा कंकड़ घास तृण आदि की भी एक परिषह है जिसमें धीरज रखने की जरूरत है। इस प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखने वाली ग्यारह परिषहें मैंने निश्चित की हैं। इन्हें शरीर प्रधान परिषहें कहना चाहिये।

कुछ परिषहें मनप्रधान हैं। म्लेच्छ देशों में मुझे नग्न देखकर बच्चे चिढ़ाते थे हँसते थे। इससे मुझे शारीरिक क्लेश तो था नहीं, सिर्फ मन को कष्ट होता था, पर मैं उपेक्षाभाव से सब सहन करता था। नग्नता एक उपलक्षण है, लंगोटी लगाने पर भी लोग हँसी उड़ा सकते हैं. मैले कुचेले कपड़े पहिनने पर या चिन्दियाँ पहिनने पर भी लोग हँसी उड़ा सकते हैं यह भी एक तरह की नग्नता ही है, इससे डरना न चाहिये। अगर हम यह सोचलें कि आज गरीबी के कारण अधिकांश आदमी नंगे या नंगे के समान बनकर रहते हैं ऐसी अवस्था में उनका हिस्सा हम क्यों लें? तो हमें नग्नता न खटकेगी। आज अन्न इतना दुर्लभ नहीं है जितना वस्त्र दुर्लभ है। इसलिये उपवास करने की अपेक्षा नग्नता अधिक आवश्यक है। फिर नग्नता में कोई शारीरिक कष्ट की समस्या नहीं है सिर्फ मन को जीतने की समस्या है। हां! अगर कभी कोई ऐसा युग आये जिसमें अन्न कम और वस्त्र अधिक होजायँ तब इस बात पर उस परिस्थिति के अनुसार विचार करना पड़ेगा। पर अभी तो नग्न परिषह विजय की आवश्यकता है।

स्त्री परिषह भी एक मानसिक परिषह है। दीक्षा के बाद ही जब मैं भिक्षा लेने जाने लगा था तब कुछ नव यौवनाओं ने मुझे घेर लिया था। उस समय मुझे उनपर विजय पाने के लिये अपने बाल उखाड़कर फेंक देना पड़े थे। वास्तव में इस परिषह का जीतना कठिन है। यों इस परिषह को काम परिषह या मदन परिषह कहना चाहिये क्योंकि पुरुषों के समान स्त्रियों को भी इस परिषह का थोड़ा बहुत सामना करना पड़ सकता है, फिर भी मैं इसे स्त्री परिषह कहता हूँ। कारण यह है कि स्त्री पुरुष के शरीर के अन्तर की दृष्टि से स्त्री पुरुष की मनोवृत्ति में अन्तर है। किसी स्त्री के सामने अगर कोई पुरुष काम-याचना करे तो साधारणतः स्त्री इसमें अपमान समझेगी, किन्तु अगर कोई स्त्री किसी पुरुष से काम-याचना करे तो पुरुष इसे स्वीकार करे या न करे किन्तु इसमें वह अपना अपमान न समझेगा। ऐसी अवस्था में स्त्री परिषह जीतने में विशेष कठिनाई है। इसलिये मुख्यता की दृष्टि से इसे स्त्री परिषह नाम देना ही ठीक समझा है। यों इसे कोई मदनपरिषह कहे या काम परिषह कहे तो भी अनुचित न होगा। मैं अपनी दृष्टि से इसे स्त्री परिषह ही कहूँगा।

साधक जीवन में एक तरह का रूखापन मालूम होता है। बहुत से लोग पूजा प्रतिष्ठा की, स्वादिष्ट भोजन की तथा और भी अनेक तरह की आशा लगाये रहते हैं। गोशाल का स्वभाव कुछ ऐसा ही है, थोड़ा सा संकट आते ही वह भाग खड़ा होता है। ऐसे लोग कोई साधना नहीं कर पाते, स्वपर-कल्याण नहीं करपाते। इसके लिये साधना में अनुराग चाहिये रति चाहिये, अरतिभाव पर विजय चाहिये। इसलिये अरति परिषह विजय एक आवश्यक विजय है। इसका तात्पर्य यह है कि संयम साधना में, लोकसाधना में, आनन्दका अनुभव हो। एक

मां बच्चेकी सेवामें जिस प्रकार आनन्दका अनुभव करती है वैसा एक साधक को स्वपर साधना में मिलना चाहिये। साधुता आनन्दमय हो, अुल्लासमय हो, दुःख दीनता का भाव उसमें कदापि न आना चाहिये।

इन म्लेच्छ देशों में मुझे गालियाँ बहुत खाना पड़ी हैं। गालियों से शरीर को कोई पीड़ा नहीं होती, क्योंकि जिन स्वर व्यंजनों से प्रशंसा के शब्द बनते हैं उन्हीं से गालियों के भी बनते हैं। इसलिये कान में या शरीर के किसी अन्य भाग में उनसे पीड़ा होना सम्भव नहीं है। सिर्फ उनसे यही मालूम होता है कि गाली देने वाले ने मेरा अपमान किया है यह मानसिक पीड़ा है। पर साधु को यह पीड़ा क्यों होना चाहिये? अगर गाली देनेवाले ने हमारी कोई गलती बताई है तो हमें गलती सुधारना चाहिये, उसने तो चिकित्सक की तरह लाभ ही पहुँचाया है। अगर अुसने झूठा अपमान किया है तो उसकी नासमझी पर दया करना चाहिये और मुसकराकर टाल देना चाहिये। यही आक्रोश परिषह विजय है जोकि साधु के लिये आवश्यक है और उसके मनोबल का परिचायक है।

याचना और अलाभ ये दो परिषहें भी मानसिक परिषहें हैं। होसकता है कि साधु ने राज्य वैभव का त्याग किया हो पर आज तो उसे पेट के लिये याचना करना पड़ती है, रातभर ठहरने के लिये या चौमासा विताने के लिये याचना करना पड़ती है। इन सब बातों से साधु के मन में दीनता का भाव न आये, याचना में वह आत्मगौरव न छोड़े, यह याचना परिषह विजय है। जो सच्चा साधु है, जो समाज से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देता है उसमें याचना की दीनता नहीं होसकती। जो मोघजीवी है वह बाहर से कितनी भी निरपेक्षता दिखावे उसके मन में दीनता पैदा होगी, और लोग भी मन ही मन घृणा करेंगे

या उसे दीन हीन समझेंगे। याचना परिषह विजय का तरीका यही है कि मनुष्य सच्ची साधुता का परिचय दे।

पर यह भी होसकता है कि कभी कभी याचना व्यर्थ जाय। खाने-पीने को न मिले, ठहरने को जगह भी न मिले, जैसा कि इन म्लेच्छ देशों में अभी अभी हुआ। ऐसी अवस्था में भी घबराना न चाहिये, अलाभ पर विजय करना चाहिये, नहीं तो साधुता टिक न सकेगी।

१२ धनी ९४४० इ. सं.

कल मैंने सत्रह परिषहों का निर्णय किया था। पर गोशाल की एक बात से मुझे अठारहवीं परिषह की भी जरूरत मालूम हुई। गोशाल की यह आदत है कि जहां उसने कोई मल-मूत्र देखा, कोई बीमार देखा कि नाक सिकोड़ी और भागने की चेष्टा की। पर इस तरह भागने से सफाई कैसे होगी? अगर हम स्वच्छता पसन्द करते हैं तो हमें मल परिषह जीतना चाहिये तभी हम सफाई कर सकेंगे, बीमार की परिचर्या कर सकेंगे, उसे स्वच्छ रख सकेंगे। मल के देखते ही घबराने से हम घृणा और अपमान कर सकते है पर स्वच्छता नहीं कर सकते, न सेवा कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में साधुता कैसे टिकेगी? इसलिये मल परिषह का जीतना आवश्यक है।

१३ धनी ९४४० इ. सं.

आज एक विशेष परिषह की तरफ ध्यान गया। साधु सब परिषहों को सरलता से जीत सकता है पर सत्कार पुरस्कार को नहीं जीत सकता पर इसका जीतना आवश्यक है।

सत्कार पुरस्कार ऊँची श्रेणी का भोग है। अधिकांश लोग इसके लिये खाना-पीना छोड़ सकते हैं रूखा सूखा खास-कते हैं अनेक तरह के कष्ट भोग सकते हैं, केवल इसलिये कि

जहां जायँ वहां आदर सत्कार हो और चार जनों में उन्हें आगे बैठाया जाय या आगे किया जाय। योग्यता तथा सेवा के अनुसार ऐसा होता भी है और होना भी चाहिये। फिर भी सत्कार पुरस्कार की तीव्र लालसा होना साधुता के पतन का मार्ग खुलना है। जितने सत्कार पुरस्कार के योग्य हम नहीं हैं उतना सत्कार पुरस्कार ले लेना मोघजीवी बनना है और साधुता से भ्रष्ट होना है। यही कारण है कि श्वेताम्बी नगरी से मैं जल्दी चला आया था, क्योंकि वहां मेरा इतना अधिक सत्कार पुरस्कार होने लगा था जितने के मैं योग्य नहीं था, जिससे मेरी साधना में बाधा ही पड़नेवाली थी। सत्कार पुरस्कार पर विजय प्राप्त किये बिना साधना अक्षुण्ण नहीं रह सकती। बल्कि इससे धीरे धीरे सच्चा सत्कार पुरस्कार भी नष्ट होसकता है। इन सब कारणों से सत्कार पुरस्कार विजय करना आवश्यक है।

१४ धनी ६४४० इ. सं.

आज विचारते विचारते तीन परिषहें और ध्यान में आईं। उनके नाम रक्खे प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन।

विद्वत्ता का घमण्ड होना प्रज्ञा परिषह है इसका विजय करना आवश्यक है। क्योंकि विद्वत्ता के घमण्ड से मनुष्य का विकास रुक जाता है साथ ही उसके ज्ञान का लाभ जगत नहीं ले पाता। उसके ज्ञान का लाभ लेने से पहिले ही उसके मद का आघात मनुष्य को घायल कर देता है तब ज्ञान लाभ की पात्रता ही नष्ट होजाती है। इसलिये प्रज्ञा को नम्रता से पचालेना आवश्यक है। यही प्रज्ञा परिषह का जय है।

प्रज्ञा से उल्टी अज्ञान परिषह है। विद्या बुद्धि की कमी से मनुष्य में एक प्रकार की दीनता आजाती है, इससे भी मनुष्य का विकास रुक जाता है, अथवा गुरुजनों के शब्दों से पीड़ित होकर उनसे घृणा होजाती है। यह मानसिक निर्बलता भी दूर

होना चाहिये। श्रम और मनोयोग से अज्ञान पर भी विजय प्राप्त की जासकती है।

सब से महत्वपूर्ण अदर्शन परिषह है। संयम तप त्याग आदि का फल है आत्मशांति और विश्वशांति। पर इस फल का दर्शन हरएक को नहीं होता। अल्पज्ञानियों को सन्तोष देने के लिये ऐहिक या पारलौकिक भौतिक फलों का उल्लेख किया जाता है वे भी दिखाई नहीं देते, इस प्रकार के अदर्शन से लोग सन्मार्ग छोड़ देते हैं। अगर धर्म का मर्म समझ जायँ तो अदर्शन या अविश्वास के द्वारा होनेवाला पतन रुक जाय। अदर्शन परिषह पर विजय प्राप्त किये विना मनुष्य न तो मोक्षसुख पा सकता है, न जनसेवा के मार्ग में टिक सकता है, न प्रलोभनों के जाल से बच सकता है।

परिषहें और भी होसकती हैं पर इन बाईस परिषहों के निर्णय से इस विषय का आवश्यक ज्ञान होसकता है।

४८– मंत्रतंत्र

२ चिंगा ९४४० इ. सं.

एक दिन मैंने सोचा था कि ईश्वर का सिंहासन तो खाली किया जासकता है पर देवताओं का जगत नहीं मिटाया जासकता। मनुष्य इतना विकसित नहीं है कि पारलौकिक देवताओं के विना वह धर्म पर स्थिर रह सके और लौकिक देवत्व से ही सन्तुष्ट होसके। आज एक ऐसी घटना हुई कि मुझे यह भी मानना पड़ा कि मंत्रतंत्र के विना भी आज के जगत का काम नहीं चलसकता। मनुष्यमात्र के हृदय में जन्म से ही मंत्रतंत्र के ऐसे संस्कार डाल दिये जाते हैं कि अज्ञानरूप में भी मन इनसे प्रभावित होजाता है। मंत्रों के दुष्प्रभाव से बचाने के लिये मंत्रों का अस्वीकार काम न देगा किन्तु प्रतिस्वीकार काम देगा तब इसके साथ मंत्रों का स्वीकार हो ही जायगा।

आज कूर्मग्राम में जहां मैं ठहरा था वहां से थोड़ी दूर एक तापस तपस्या कर रहा था। मध्यान्ह के समय एक हाथ ऊंचा किये सूर्य मण्डल की तरफ दृष्टि रक्खे स्तंभ की तरह स्थिर खड़ा था। पीछे की तरफ उसकी जटाएँ कमर के नीचे तक लटक रहीं थीं। उसमें जूवें पड़गई थीं, वे कभी धरती पर गिर पड़तीं तो वह तापस अुन्हें उठाकर फिर सिर में डाल लेता इस तरह काफी कष्ट उठा रहा था।

कुछ तो धर्म के लिये वाह्य तपों की आवश्यकता है ही, क्योंकि कष्ट सहिष्णुता के विना साधुता तथा जनसेवा के मार्ग में आगे वढ़ा नहीं जासकता। फिर भी हाथ उठाने आदि के कृत्रिम तपों को या तपों के प्रदर्शनों को मैं ठीक नहीं समझता। प्रदर्शनों से वास्तविक तप तो क्षीण होजाता है सिर्फ जनता पर प्रभाव डालकर कुछ पूजा प्रतिष्ठा वसूल करना प्रधान बनजाता है। मेरे तीर्थ में वाह्य तपों को तो स्थान होगा, पर वाह्य तपों के प्रदर्शनों को नहीं। कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास करना, समाज के ऊपर अपने जीवन का कम से कम वोझ डालना, किये हुए पापों या अपराधों की क्षति पूर्त्ति करना ही तपों का ध्येय है। अस्तु।

मेरे ये विचार गोशाल अच्छी तरह समझता है और अपने स्वभाव से लाचार होकर वहुत वुरी तरह इनका समर्थन करता है। कूर्मग्राम में आने के थोड़े समय वाद ही वह उस तापस के पास गया, और उसकी तपस्या की हँसी उड़ाने लगा।

कुछ देर तक उस तापस ने उपेक्षा की, पर उसकी उपेक्षा गोशाल ने निर्वलता समझी, इसलिये उसकी उद्दंडता और वढ़ती गई। तव उस तापस को क्रोध आगया और अुसने गोशाल पर कुछ ऐसी मुद्रा से मांत्रिक प्रयोग किया कि गोशाल घवरागया, तव अुस तापस ने भयंकर मुद्रा से हाथ फटकारते

हुए कहा-जा, इस अमोघ तेजोलेश्या से तू भस्म होजायगा और तेरे शरीर में ऐसा दाह पैदा होगा कि सन्ध्या तक उस दाह के बढ़ने से तू मर जायगा।

यह सुनते ही गोशाल हतप्रभ होकर मेरे पास दौड़ा आया, और उसे ऐसा मालूम होने लगा कि उसका शरीर जल रहा है। आते ही उसने कहा-प्रभु, मुझे बचाइये मेरा शरीर जल रहा है। मैंने सब बात पूछी और गोशाल ने सारी बात ज्यों की त्यों बतादी। उस समय अगर मैं यह कहता कि तेजोलेश्या कुछ नहीं होती यह एक भ्रम है, तो गोशाल उसपर विश्वास न करता और सम्भवतः अपनी मानसिक दुर्बलता से सन्ध्या तक मर भी जाता। इसलिये मन्त्र की शक्ति को अस्वीकार करने की अपेक्षा प्रतिमंत्र का उपयोग करना ही ठीक समझा।

मैंने कहा-गोशाल, यह तेजोलेश्या का प्रयोग है इसके दाह से सचमुच मनुष्य मरजाता है पर मैं शीतलेश्या के प्रयोग से इस तेजोलेश्या को मारदेता हूं। तुम मर नहीं सकोगे। देखो, ज्यों ज्यों मेरे हाथ की छाया तुम्हारे सिर से नीचे की ओर जायगी त्यों त्यों तेजोलेश्या का प्रभाव घटता जायगा। और सातवीं बार बिलकुल घट जायगा।

मैंने जिस दृढ़ता के साथ ये शब्द कहे थे उसका प्रभाव गोशाल पर आशातीत पड़ा, मैंने हाथ को ऊपर से नीचे इसप्रकार किया कि उसकी छाया गोशाल के सिर से पैर की तरफ निकलने लगी। मुझ पर दृढ़ विश्वास के कारण गोशाल यह अनुभव करने लगा कि उसका दाह कम होरहा है। सातवीं बार में प्रसन्नता से उछल पड़ा और हर्षोन्मत्त होकर चिल्लाने लगा-मरगई, शीतलेश्या से तेजोलेश्या मरगई। मेरा सारा दाह दूर होगया।

गोशाल ने ये सब बातें इतने जोर से कहीं कि तापस ने भी सुनीं और वह चकित होकर नाचते हुए गोशाल को देखने लगा। तब वह मुझे अपने से बड़ा मन्त्रवादी समझकर मेरे पास आया। और बोला-प्रभु, मैंने आपका प्रभाव जाना नहीं था इसलिये मेरा अपराध क्षमा कीजिये।

मैंने कहा-प्राणिरक्षा की दृष्टि से मैंने शीतलेश्या का प्रयोग कर गोशाल के प्राण बचाये। मुझे तुमसे द्वेष नहीं है। मैं किसी से द्वेष नहीं करता।

उसने कहा-धन्य है प्रभु आपकी वीतरागता।

उसके चले जाने के बाद गोशाल ने मुझ से पूछा। वह तेजोलेश्या कैसे मिलती है प्रभु, और इस तापस को कैसे मिलगई ?

मैंने कहा-छः महीने तक बेला उपवास करने से तथा तीसरे तीसरे दिन पारणा में मुट्ठीभर सूखा अन्न और अञ्जलिभर पानी पानी से तेजोलेश्या सिद्ध होती है।

मैं जानता हूं कि एक बार बेला करना भी गोशाल की शक्ति के बाहर है फिर छः महीना तक क्या करेगा, और इतने से पारणे से इस खादाड़ का क्या होगा ?

४९-गणतंत्र और राजतंत्र

१६ जिन्नी ९४४१ इ. सं.

कूर्मग्राम से जब मैं सिद्धार्थपुर आरहा था तभी मार्ग में गोशाल ने मेरा साथ छोड़ दिया। सम्भवतः वह तेजोलेश्या सिद्ध करने की चिन्ता में गया है। आश्चर्य नहीं कि वह अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिये छः महीने तक तपस्या भी कर जाय। यदि वह ऐसा करगया तो पूरा प्रवंचक बन जायगा। अस्तु।

सिद्धार्थपुर से मैं वैशाली आया हूँ। वैशाली गणतंत्र का केन्द्र है। यहां एक राजा नहीं होता, किंतु सभी क्षत्रिय अपने को एक तरह के राजा समझते हैं। मिलजुलकर अपने में से एक अध्यक्ष चुन लेते हैं। सारा शासन-तंत्र क्षत्रिय परिषत के हाथमें रहता है। आज यहां का अध्यक्ष शंख सपरिवार मेरी वन्दना करने को आया था।

जन्मसे ही मैं गणतंत्र से परिचित हूं। फिर भी गणतंत्र की तरफ मेरी सहानुभूति कम है।

मैं तो सोचता हूं कि मानव समाज इतना विकसित हो कि उसे शासन की जरूरत ही न हो अथवा योग्य मन्त्रियों और परिषदों से नियन्त्रित राजतन्त्र हो। आज मुझे ये दोनों ही तंत्र दिखाई नहीं देते। अपनी इस इच्छा को चरितार्थ करने के लिये मैंने देवलोक को दो भागों में विभक्त किया है। ऊंची श्रेणी के देवों में कोई शासनतंत्र नहीं होता, हर एक देव स्वयं शासित होता है। वहां का हर एक देव इन्द्र है। उसको मैं अहमिन्द्र लोक कहना पसन्द करता हूं। मैं इसे आदर्श रचना समझता हूँ। मैं तो यह भी सोचता हूँ कि भूतकाल में यहां भी ऐसी रचना रही होगी। जब जीवन का संघर्ष बढ़ा तब यह शासन-तंत्र आया और ये राजतंत्र पैदा हुए। स्वर्ग में भी यह राजतंत्र मानता हूं। जो नीची श्रेणी के देव हैं उनमें राजा प्रजा की कल्पना होती है, अहमिन्द्र इस कल्पना से अतीत होते हैं इस-लिये उन्हें कल्पातीत कहना भी ठीक है।

खैर! देवलोक तो अपनी रचना है इसलिये उसे जैसा चाहे रच सकता हूँ। पर इस मानव-लोक की समस्या जटिल है। यहां राम की तरह राजतंत्र नहीं मिलता और लोकतंत्र जनतंत्र या अराजकतंत्र की कहानियाँ पुरानी होगईं, उसकी जगह गण-तंत्र है जो दोनों से बुरा है।

राजतंत्र में भी बुराइयाँ हैं। शासन निरंकुश होजाता है पर गणतंत्र की बुराइयाँ उससे भी अधिक हैं।

१- गणतंत्र में एक वर्ग शासक बनजाता है। क्षत्रिय वर्ग को छोड़कर प्रजा का प्रत्येक वर्ग उसका शिकार होता है। एक राजा को सन्तुष्ट रखने की अपेक्षा एक विशाल वर्ग को हर तरह सन्तुष्ट रखने में प्रजा का धन और मान काफी नष्ट होता है। राजा तो वर्ष में एकाध दिन भूला भटका मिलेगा, तब उसे प्रणाम करलिया जायगा, लेकिन ये गली गली फिरने वाले राजा न जाने दिनमें कितने वार मिलते हैं इनको प्रणाम करते करते जनता की कमर झुकजाती है। राजसेवकों को राजा का डर रहता है, पर गणतंत्र में ये सब अपने अपने को राजा समझते हैं इसलिये इन्हें किसका डर? अध्यक्ष तो इन्हीं का चुना हुआ होता है इसलिये वह इनके साथ किसी तरह की कड़ाई नहीं कर सकता। इस प्रकार गणतंत्र क्षत्रियों को छोड़कर बाकी समस्त जनता को अत्यन्त कष्टकर होता है।

२- राजतंत्र में राजा अपने खास खास स्वजन परिजनों के बारे में ही पक्षपाती होता है इसलिये अुन्हीं के साथ संघर्ष होनेपर जनता पर अन्याय होने की आशंका रहती है पर गणतन्त्र में एक विशाल वर्ग में से किसी एक के संघर्ष होने पर अन्याय होने की पूरी सम्भावना रहती है। गणतंत्र में तीन वर्गों पर एक वर्ग का शासन रहता है, राजतंत्र में चारों वर्गों पर एक व्यक्ति का शासन रहता है।

३- गणतन्त्र में शक्ति विकेन्द्रित होजाती है इसलिये राज्य बहुत समय तक बलवान नहीं रहपाता, आपसी प्रतिस्पर्द्धा आदि से शक्ति आपस में ही कट जाती है। इसलिये गृहयुद्ध और परचक्र युद्धों की संख्या बढ़जाती है इससे जनता के जन-धन का काफी नाश होता है।

४- अुपर्युक्त कारण से गणतन्त्र छोटे ही रहते हैं इसलिये योजन योजन दो दो योजन पर राज्य वदलने से यातायात की कठिनाईयाँ वढ़जाती हैं। व्यापारी लोग तो प्रवेशकर और निर्यातकर देते देते लुटजाते हैं और मुझ सरीखे अपरिग्रही, गुप्तचर समझकर सीमा सीमा पर पकड़ लिये जाते हैं और उन्हें व्यर्थ कष्ट दिया जाता है। कई वार मेरे साथ ऐसा हो चुका है। इसलिये एक विशाल साम्राज्य की परमावश्यकता है। पर गणतंत्र इस प्रकार साम्राज्य नहीं वना सकते राजतन्त्र में ऐसा वन सकता है।

५- गणतन्त्र में लोगों को अपना शीलस्वातंत्र्य वचाना कितना कठिन होता है इसकी कल्पना से ही मन कांप जाता है। वैशाली में कोई सर्वोच्च सुन्दरी अपना विवाह नहीं कर सकती। क्योंकि उसके साथ विवाह करने के लिये गणतंत्र के सभी राजा या सभी क्षत्रिय आपस में कट मरेंगे, अगर कोई अुसके साथ विवाह करलेगा तो उसे जीवित न छोड़ेंगे। इसलिये यह नियम वनादिया गया है कि जो सर्वोच्च सुन्दरी हो वह वेश्या वने, जिससे वह सभी के काम आ सके। वह सर्वोच्च सुन्दरी कितने भी ऊंचे घराने की हो, शील के लिये उसका कुल कितना भी प्रतिष्ठित हो पर उसे वेश्या वनना पड़ता है, कुटुम्बियों की प्रतिष्ठा, वैभव, स्नेह, और आंसू, अुसे वेश्या वनने से नहीं रोक सकते, अव गणतन्त्र की अनैतिकता का और क्या प्रमाण चाहिये ?

प्रत्येक शासन तंत्र में दोष होते हैं। भविष्य में द्रव्य क्षेत्र काल भाव वदलने पर कौनसा तंत्र आयगा कह नहीं सकता, अराजक तन्त्र या पूर्ण जनतन्त्र तो आज असम्भव है, गणतंत्र और राजतन्त्र व्यवहार में हैं, उनमें से मैं राजतंत्र में कम दोष समझता हूं। सम्भव है भविष्य में राजतन्त्र से भी अच्छा तंत्र निकले।

५०- अनुमति की आवश्यकता

२३ जिन्नी ९४४१ इ. सं.

वैशाली से मैं वाणिजक ग्राम की तरफ रवाना हुआ। थोड़ी दूर पर मंडकी नदी मिली। वहां नाव पड़ी थी, नाविक लोग यात्रियों को इस पार से उस पार पहुँचा देते थे। एक नाव पर बहुत से यात्री बैठे थे, नदी पार होने के लिये मैं भी उसपर बैठ गया। नाव नदीपार पहुँची, यात्री लोग साधनों के अनुसार उतराई के रूप में कुछ कुछ देते जाते थे और चले जाते थे। नाविकों ने मुझ से भी उतराई मांगी, पर मेरे पास था क्या जो मैं देता। इसलिये नाविकों ने मुझे रोक लिया। मैं पानी से निकलकर पुलिन में दो-चार कदम बढ़ चुका था और वहीं नाविकों ने मुझे रोक लिया, मैं गरम बालुका में खड़ा रह गया।

इधर कई बार नदियों को पार करने का अवसर मिला है पर आज सरीखी कभी किसी नाविक ने मुझसे उतराई नहीं मांगी। अपरिग्रही साधु समझकर इतनी सुविधा प्रत्येक नाविक ने दी है और कुछ सन्मान से दी है पर आज का अनुभव बिलकुल उल्टा था।

एक नाविक ने जरा दृढ़ता से कहा—महाराज, जब तक उतराई न दोगे तब तक हम जाने न देंगे।

मैं गरम बालू में खड़ा रहा और अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता रहा। अगर मैं नाव पर चढ़ते समय नाविकों से अनुमति ले लेता तो इस समय अपराधी की तरह विवश होकर खड़े होने का अवसर न आता। बेचारे नाविकों का इसमें क्या अपराध ?

मैं राज्य वैभव छोड़कर आत्मकल्याण या जगत्कल्याण के लिये साधु बना हूं इससे उन्हें क्या मतलब ? वे साधुसेवा के

लिये नाव नहीं चलाते, जीविका के लिये नाव चलाते हैं। उनकी अनुमति लिये बिना उनकी नौका का उपयोग करने का मुझे क्या अधिकार था ?

मैं इन्हीं विचारों में लीन खड़ा था कि नाविकों के भीतर हलचल मची। एक सेनापति नौसैनिकों को साथ लिये हुए घाट पर उतरा। उसके स्वागत के लिये नाविक लोग हाथ जोड़कर आगे बढ़े। पर सेनापति की दृष्टि अकस्मात् मुझ पर पड़ी। उसने तुरंत ही मुझे प्रणाम किया और कहा-प्रभु, आप किधर पधार रहे हैं ? आपने मुझे पहिचाना कि नहीं ?

मैं निषेध सूचक मुद्रा में उसे देखता रहा।

उसने कहा-प्रभु, मैं शंख गणराज का भानेज हूँ। उस दिन मामाजी के साथ मैं भी आपकी वन्दना को आया था। बहुत आदमी होने से आपने मुझे पहिचान नहीं पाया। मेरा नाम चित्र है।

मैं स्वीकारता के रूप में मुसकराया।

उसने कहा-पर आप इस तरह गरम वालुका में क्यों खड़े हैं ?

मैं कुछ कहूं इसके पहिले सबके सब नाविक मेरे पैरों पर गिर पड़े और दीनता से बोले-क्षमा कीजिये प्रभु, हम जानवरों ने आपको पहिचान नहीं पाया।

चित्र ने पूछा-क्या बात है ?

नाविकों के मुखिया ने हाथ जोड़कर कहा-हमें मालूम नहीं था इसलिये अन्य यात्रियों की तरह हमने प्रभु से भी उतराई मांगी।

चित्र ने भौंहे चढ़ाकर कहा-प्रभु को नग्न दिगम्बर देखकर भी तुमने उतराई मांगी ? और इसीलिये प्रभु को रोका ?

नाविक सिसक सिसक कर आंखें पोंछने लगे ?

चित्र ने क्रोध में कहा-तुम लोग हाथ पैर बांधकर इसी नदी में डुबा देने लायक हो।

मैंने कहा-इन्हें क्षमा करो चित्र, एक तो इनने मुझे पहिचाना नहीं, दूसरे ये लोग यहां साधुसेवा के नहीं, जीविका के लिये बैठे हैं।

चित्र-पर आपको उतार देने से इनकी जीविका में ऐसी क्या कमी आजाती ? वल्कि इन गधों की सात पीढ़ियाँ तर जातीं।

मैं-मृत पीढ़ियाँ तो अपने अपने पुण्य पाप से जहां जाने योग्य होंगीं चली गईं होंगीं। अब तुम इन्हें क्षमा कर दो जिससे कम से कम इनकी पीढ़ी तो तर जाय ?

चित्र-मैं आपकी आज्ञा से इन्हें क्षमा कर देता हूँ, नहीं तो इन्हें ठिकाने लगा देता।

इसके बाद चित्र मुझे बार बार नमस्कार करके और नाविकों को डांटता घुड़कता हुआ नाव में सवार होकर चला गया। जब तक चित्र रवाना न हुआ तब तक मैं घाट पर ही रहा। क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि मेरे चले जाने के बाद मेरे कारण चित्र उन नाविकों को सताये ?

नाविकों ने फिर बार बार क्षमा मांगी। मैंने कहा-इसमें तुम्हारा कोई अपराध ही नहीं है और मेरे मनमें तुम्हारे प्रति कोई रोष नहीं है तब मैं क्षमा करूं तो क्या करूं ? फिर भी मैं तुम्हारा बुरा नहीं चाहता। इसीलिये जब तक चित्र यहां से नहीं गया तब तक मैं रुका रहा। मैं नहीं चाहता था कि मेरे जाने पर वह तुम्हें सताये।

नाविकों ने गद्‌गद्‌स्वर में मेरी प्रशंसा करते हुए मुझे बार बार प्रणाम किया।

मैं वहां से रवाना होगया पर इस घटना पर नाना दृष्टिकोणों से विचार करता रहा । जगत शक्ति अधिकार वैभव आदि के द्वारा ही महत्ता को देखता है वास्तविक महत्ता को वह नहीं पहिचान पाता। मनुष्य में यह एक तरह की पशुता है। विवेक पैदा करके ही इस पशुता की चिकित्सा की जासकती है ।

पर इन सब बातों के पहिले मुझे अपनी ही चिकित्सा करना चाहिये। इसके लिये मैंने नियम बनाया कि मुझे योग्य अधिकारी की आज्ञा बिना न तो नाव का उपयोग करना चाहिये न गृहादिका। भविष्य में अपने तीर्थ की साधु संस्था के लिये भी मैं यह नियम बनाऊंगा।

५१-अवधिज्ञानी आनन्द

९ बुधी ९४४१ इ. सं.

वाणिजक ग्राम में आनन्द वास्तव में सद्गृहस्थ है। यह महर्द्धिक होने पर भी तपस्वी ज्ञानी और विनीत है। मुझे तीर्थ स्थापना के बाद ऐसे ऐसे उपासकों की आवश्यकता होगी। जब से मैं इस ग्राम में आया हूं तब से यह प्रतिदिन मेरे पास आया करता है, तत्वचर्चा करता है, मेरी तपस्या और विचारों की प्रशंसा करता है और अनुरोध करता है कि मैं तीर्थस्थापना करूं। पर मैं अपनी त्रुटियों को जानता हूं । बहुत कुछ दूर होगई हैं, एक दो वर्ष में और भी दूर हो जायँगी तब मैं जिन बनकर तीर्थ स्थापना करूंगा। आनन्द मेरे इन विचारों से सहमत है। आनंद स्वयं भी विचारक विद्वान है।

एक दिन आनन्द ने कहा-मुझे स्वर्ग और नरक का प्रत्यक्ष होता है भगवन !

मैंने पूछा-क्या तुम्हें सारे लोक का प्रत्यक्ष होता है ?

आनन्द-नहीं।

मैं-स्वर्ग नरक में तुम क्या देखते हो?

आनन्द-वहां का हरएक नारकी अपनी लम्बी आयु पूरे हुए बिना किसी भी तरह नहीं मरता और जीवनभर ताड़न छेदन ज्वलन पीड़न आदि की भयंकर वेदना सहता है। ये सब दृश्य आंख बन्द करने पर मुझे ऐसे दिखाई देते हैं मानों मैं अपनी आंखों से देख रहा हूं। इसी तरह स्वर्ग भी दिखाई देता है। वहां विषय भोगों का असीम विलास भरा हुआ है।

मैं-तुम्हें कितने स्वर्ग और कितने नरक दिखाई देते हैं?

आनन्द-मुझे तो एक ही स्वर्ग और एक ही नरक दिखाई देता है।

मैं-एक गृहस्थ को स्वर्ग और नरक का इतना ही प्रत्यक्ष पर्याप्त है आनन्द! यों नरक एक नहीं सात हैं। जो एक के नीचे एक है और उनमें एक से एक बढ़कर कष्ट हैं। स्वर्ग भी एक नहीं बारह हैं और उनके ऊपर भी ऐसे देवलोक हैं जिनकी तुम कल्पना नहीं कर सकते, वहां छोटे बड़े की कल्पना नहीं है।

आनन्द-पर इन सब का मुझे कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है भगवन!

मैं—आज तुम्हें उनका प्रत्यक्ष नहीं होसकता आनन्द, सुना हुआ ज्ञान अर्थात श्रुतज्ञान ही हो सकता है। प्रत्यक्ष तो तुम्हें एक देश का ही होसकता है, इस देशावधि प्रत्यक्ष की प्राप्ति भी कम दुर्लभ नहीं है आनन्द!

आनन्द-आपको यह प्रत्यक्ष कबसे है भगवन!

मैं-लोकावधि प्रत्यक्ष तो एक रात्रि में कठोर शीतोपसर्ग सहते सहते ध्यानमग्न होने पर मिला था। पर देशावधि प्रत्यक्ष तो मुझे प्रारम्भ से ही है।

आनन्द– आखिर आप तीर्थंकर हैं भगवन्, तीर्थंकर को कम से कम देशावधि ज्ञान जन्म से ही होना चाहिये।

मैं– हां अँ! जब से होश सम्हाला है, कुछ विचार करना सीखा है, तब से जो ज्ञान है उसे जन्म से ही कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

आनन्द– क्या जन्म से और किसी को भी देशावधिज्ञान होसकता है भगवन्?

मैं– यहां तो और किसी को नहीं होसकता, हां! स्वर्ग नरक के प्राणियों को होसकता है। क्योंकि देशावधि ज्ञान से हम स्वर्ग नरक का प्रत्यक्ष करते हैं, पर जो प्राणी स्वर्ग या नरक में ही पैदा हुए हैं उन्हें तो स्वर्ग या नरक का प्रत्यक्ष जन्म से ही होगा। उन्हें स्वर्ग नरक देखने के लिये तपस्या की क्या आवश्यकता होगी?

आनन्द– इसका तो मतलब यह हुआ भगवन, कि देवों और नारकियों को मनुष्य की अपेक्षा अधिक ज्ञान होता है। देवों को तो ठीक है, पर नारकियों को भी?

मैं—पर मनुष्य की अपेक्षा उनका दुर्भाग्य यह है कि जीवनभर उनका विकास रुका रहता है। पशु भी जन्म के बाद ज्ञान में शक्ति में कुछ विकास करता है पर देव नारकी कुछ विकास नहीं कर पाते। जीवन का सच्चा आनन्द विकास में है, जन्म की पूंजी में नहीं। जन्म से मनुष्य की अपेक्षा पशु का बच्चा अधिक समर्थ होता है पर विकास में वह शीघ्र ही पिछड़ जाता है इसलिये मनुष्य की अपेक्षा पशु विकास की दृष्टि से अभागी है, और देव नारकी जन्म के समय पशु से भी अधिक समर्थ होते हैं पर विकास में बिलकुल प्रगति-हीन होते हैं इसलिये और भी अभागी हैं।

आनन्द-यह आपने बहुत ही ठीक कहा भगवन ! विकास की दृष्टि से मनुष्य, पशु और नारकियों से श्रेष्ठ तो है ही, पर देवों से भी श्रेष्ठ है। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि जो देशावधि देव नारकियों को जन्म से मिल जाता है वह मनुष्य को जीवन के अन्त तक नहीं मिल पाता, इक्के दुक्के तपस्वियों को मिला भी तो इससे क्या ?

मैं-पर इससे देव नारकियों का ज्ञान मनुष्य से अधिक नहीं होसता।

आनन्द-जिन मनुष्यों को अवधिज्ञान नहीं मिला है उनसे तो अधिक होता ही है भगवन।

मैं- तुम यहां बैठे बैठे वैशाली नगरी का चौराहा देख सकते हो आनन्द ?

आनन्द- सो तो नहीं देख सकता प्रभु !

मैं-पर उस चोराहे पर बैठा हुआ बैल वह चौराहा देख सकता है। तब क्या तुम समझते हो कि बैल का ज्ञान तुम से अधिक है ?

आनन्द-यह कैसे कह सकता हूँ ?

मैं- इसी तरह देव नारकियों का अवधिज्ञान इन्हें मनुष्य से अधिक ज्ञानी नहीं बनाता। स्वर्ग में रहनेवाले यदि स्वर्ग का प्रत्यक्ष दर्शन करें और नरक में रहने वाले अगर नरक का प्रत्यक्ष दर्शन करें और स्वर्ग नरक से दूर रहनेवाला मनुष्य उनका दर्शन न कर पाये तो इससे मनुष्य का ज्ञान कम नहीं होजाता। देवों नारकियों का अवधिज्ञान जन्म से होता है इसलिये वह औपपादिक है। ज्ञान के विकास को रोकनेवाला जो अन्तर्मल है अर्थात् ज्ञानावरण है उसका क्षय उपशम उसमें नहीं होता जिससे उनका विकास कहा जासके। पर मनुष्य के

अवधिज्ञान में ज्ञान का विकास है अर्थात् ज्ञानावरण का क्षयोपशम है इसलिये उसे क्षायोपशम निमित्तक कहते हैं। इसलिये आनन्द, तुम अपने देशावधिज्ञान के द्वारा देवों से अधिक ज्ञानी हो।

आनन्द के चेहरे पर प्रसन्नता नाचने लगी।

५ - सर्वज्ञता

२८ तुपी ६४४। इ. सं.

इस वाणिजक ग्राम में ही मेरा दसवां चातुर्मास बीत रहा है। श्रमणोपासक आनन्द प्रायः आता रहता है और कुछ न कुछ प्रश्न पूछता रहता है। उसके प्रश्नों से मुझे बहुतसी बातों पर गहराई से विचार करना पड़ा, और तीर्थ प्रवर्तन के समय किस नीति से काम लेना चाहिये इस विषय की पर्याप्त सामग्री मिली।

मुझे मानव जीवन को पवित्र और प्राणियों को अधिक से अधिक सुखी बनाना है। पर अगर एक मनुष्य अपने सुख के लिये दूसरे के सुख की पर्वाह न करे तो परस्पर छीनाझपटी और संहार के कारण यह जग नरक बनजाय। इसलिये एक दूसरे की सुविधा का ध्यान रखना संयम से रहना आदि का सन्देश मुझे देना है। इतने पर पूरी तरह परस्पर न्याय होने लगेगा, और संसार में किसी तरह का कष्ट न रहेगा यह तो कह नहीं सकते, इसलिये मनुष्य के मन को ही इतना स्वसन्तुष्ट बनाना पड़ेगा कि वह इस जगत को खेल समझकर निर्लिप्त भाव से रह सके, उसका आत्मा बाहरी परिस्थितियों के बन्धन में न रहे।

इस प्रकार मुझे संयम का और परिस्थितियों के प्रभाव से मुक्ति का सन्देश जगत को देना है। पर इनेगिने

मनुष्यों को ही इतना ऊंचा कार्यक्रम दिया जासकता है क्योंकि जनसाधारण तो बाहरी फलाफल का विचार करके ही किसी मार्ग को अपनाता है। इसलिये वह संयम का पालन भी बाहरी फलाफल के विचार से करेगा, पर जगत की आज ऐसी व्यवस्था नहीं है कि जो संयमी हो वे बाहरी दृष्टि से भी सफल हों और जो असंयमी हों वे असफल। संयम और सफलता का बहुत कुछ सम्बन्ध है, और इसी जीवन में भी संयमी आदमी बहुत सुखी या सफल पाया जाता है फिर भी इस सम्बन्ध-नियम के अपवाद भी बहुत से दिखाई देते हैं। उन अपवादों को देखदेख कर अधिकांश आदमी संयम का पथ छोड़कर किसी भी तरह बाहरी सफलता का मार्ग पकड़ते हैं। इस प्रकार असंयम की भरमार से सारा संसार दुखी होता है। दीर्घ दृष्टि से विचार किया जाय तो सत्य और संयम से ही सुख का सम्बन्ध मालूम होगा, पर ऐसी दीर्घ दृष्टि सब में है कहां ?

इस उलझन को सुलझाने के लिये स्वर्ग नरक आदि का विवेचन करना आवश्यक है। लोकावधि ज्ञान से मैंने इनकी रूपरेखा बना ही ली है। इन सब बातों के बारे में मुझे लोगों के प्रत्येक प्रश्न का समाधान करना पड़ेगा, और मुझे सर्वज्ञ कहलाना पड़ेगा। इसके बिना लोगों का समाधान न होगा, वे विश्वास न करेंगे उनके जीवन में संयम त्याग उदारता आदि आ न सकेंगे या आकरके टिक न सकेंगे।

सर्वज्ञ को यह जरूरत है कि वह वर्तमान के साथ भूत भविष्य का स्पष्ट और पर्याप्त ज्ञान रखता हो। आज की बुराई भलाई किन कारणों का फल है और आज की बुराई भलाई का आगे क्या परिणाम होगा, इस प्रकार भूत भविष्य और वर्तमान का इतना ज्ञानी हो कि लोगों की जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट कर सके इस प्रकार वह त्रिकालदर्शी हो। पुण्यपाप का फल बताने के

लिये यह स्वर्ग नरक की बात भी जानता हो, ऊर्ध्व लोक और पाताल लोक का भी उसे पता हो इस प्रकार वह त्रिलोकदर्शी भी हो। मुझे विश्वास है कि मैं त्रिलोकदर्शिता और त्रिकाल-दर्शिता का परिचय दे सकूंगा।

पर यह त्रिलोक-त्रिकाल-दर्शिता तत्वविषयक ही है, अर्थात् कल्याण की दृष्टि से उपयोगी पदार्थों के जानने के विषय में ही है, निरुपयोगी अनन्त पदार्थों को जानने से कोई प्रयोजन नहीं जो आध्यात्मिक और व्यावहारिक आचार का विषय है उसके लिये उपयोगी है, वही तत्व है, उसी का पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञता है। मैं उसके निकट पहुँच रहा हूं।

५२ – त्रिभंगी

१५ टुंगी ९४३१ इतिहास संवत्—

आज मुझसे आनन्द ने पूछा–यह विश्व कब से है ?

मैंने कहा–यह अनादि है।

आनन्द– और कब तक रहेगा ?

मैं– सदा रहेगा, इसका अन्त नहीं है।

आनन्द – क्या इसका आदि और अन्त कोई नहीं कहसकता ?

मैं—जब आदि अन्त है ही नहीं, तब कौन कह सकेगा ? जो कहेगा वह झूठ कहेगा।

आनन्द—क्या विश्वकी प्रत्येक वस्तु अनादि अनन्त है ?

मैं – प्रत्येक वस्तु अनादि अनन्त है।

आनन्द—तब हम पदार्थों की उत्पत्ति और नाश क्यों देखते हैं ? जन्म क्यों होता है ? मरण क्यों होता है ?

मैं-द्रव्य की न अुत्पत्ति होती है न नाश होता है अुसकी पर्याय ही बदलती है। जैसे पानी से भाफ बनती है, भाफ से बादल बनते है, बादलों से फिर पानी बनता है। इसमें द्रव्य का नाश नहीं है पर्यायों का ही नाश है और पर्यायों की ही उत्पत्ति है, द्रव्य तो ध्रुव है।

आनन्द-क्या पर्याय वस्तु से भिन्न है ?

मैं- भिन्न नहीं है । वस्तु के अनित्य अंश को पर्याय कहते हैं और नित्य अंश को द्रव्य, इसप्रकार वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक या नित्यानित्यात्मक है। वस्तु की एक पर्याय नष्ट होती है और उसी समय दूसरी पर्याय पैदा होती है और वस्तु द्रव्य रूप से ध्रुव बनी रहती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीन भंग प्रतिसमय रहते हैं । इस त्रिभंगी के द्वारा ही तुम पदार्थ का ठीक ज्ञान कर सकते हो।

आनन्द- पर्यायों की इस परम्परा का प्रारम्भ कब से हुआ और अन्त कब होगा ?

मैं- पहिली पर्याय नष्ट हुए विना नई पर्याय पैदा नहीं होती, नई पर्याय पैदा हुए विना पहिली पर्याय नष्ट नहीं होती, तब न तो पर्याय-परम्परा का प्रारम्भ बताया जासकता है न उसका अन्त ।

आनन्द कुछ क्षण सोचता रहा, फिर बोला-वस्तु का आदि अन्त जाने विना किसी वस्तु को पूरी तरह कैसे जाना जासकता है ?

मैंने कहा-अंश से ही अंशी का पूरा ज्ञान होता है आनन्द! पहाड़ की एक बाजू देखकर ही पूरे पहाड़ का ज्ञान माना जाता है। तुम मेरी आकृति और मैं तुम्हारी आकृति एक ही ओर से देख रहे हैं पर पूरे आनन्द के साथ पूरे वर्धमान की बातचीत हो रही है।

आनन्द-बहुत ठीक कहा भगवन् आपने। सर्वदर्शी भी वस्तु का इसी तरह दर्शन करते हैं। एक अंश से सब अंश, एक काल से सब काल। सर्वज्ञ अनंतज्ञ नहीं होता।

मैं-सर्वज्ञ सर्वज्ञ होता है, अनंतज्ञ नहीं। वह आत्म-कल्याण के लिये जितने ज्ञान की जरूरत है उतना सब जानता है, चाहे भूत भविष्य की हो, चाहे ऊर्ध्व लोक या पाताल लोक की, इस दृष्टि से वह त्रिकालदर्शी होता है, पर अनन्त को नहीं जानता। इसप्रकार सर्वज्ञ के विषयमें 'हाँ' और 'ना' अर्थात् अस्ति और नास्ति दोनों भंगों का उपयोग किया जासकता है।

आनन्द-फिर भी बाह्य वस्तुओं के जानने के बारे में ज्ञान की कुछ मर्यादा तो होगी।

मैं-हां! मर्यादा होगी, पर वह बताई नहीं जा सकती। वह अवक्तव्य है। यह भी एक त्रिभंगी होगई आनन्द, अस्ति नास्ति और अवक्तव्य।

आनन्द-पर यह तो एक तरह का अज्ञेयवाद हुआ?

मैं-हां! ज्ञेयवाद अज्ञेयवाद, नित्यवाद अनित्यवाद आदि सभी वादों का समन्वय करने से सत्य के दर्शन होते हैं आनन्द।

आनन्द-बहुत ही अपूर्व है प्रभु यह सिद्धांत, बहुत ही अद्भुत है प्रभु यह सिद्धांत, इससे दर्शन-शास्त्रों के सब झगड़े मिटाये जासकेंगे प्रभु, मैं आपके इस सिद्धान्त से बहुत ही सन्तुष्ट हुआ भगवन्। अब आप तीर्थप्रवर्तन करें भगवन्!

मैं-तीर्थ प्रवर्तन का समय भी शीघ्र ही आनेवाला है आनन्द।

आनन्द प्रणाम करके चला गया। मैं सोचता हूं कि यही त्रिभंगी मेरे दर्शन का सार होगी। अर्थ की दृष्टि से उत्पाद व्यय ध्रौव्य, और ज्ञान की दृष्टि से अस्ति नास्ति अवक्तव्य। जो इस त्रिभंगी को समझ लेगा वह मेरे दर्शन को समझ लेगा।

५४- सप्तभंगी

१७ टुंगी ९४४१ इ. सं.

इन दो दिनों में त्रिभंगी के विकास पर बहुत विचार हुआ। किसी भी पदार्थ को जानने कहने के लिये या किसी प्रश्न का उत्तर देने के लिये अस्ति नास्ति अवक्तव्य ये तीन भंग हैं। वस्तु धर्म के अनुसार तीन में से किसी एक भंग के द्वारा प्रश्न का उत्तर देना होगा। पर इन दो दिनों में जो गहराई से चिंतन किया उससे त्रिभंगी विकसित होकर सप्तभंगी होगई। क्योंकि कुछ प्रश्न ऐसे भी होसकते हैं जिनके उत्तर में दो दो भंगों का या तीनों भंगों का मिश्रण करना पड़े। सात तरह के प्रश्न और सात तरह के उत्तरों से सप्तभंगी होती है। जैसे ज्ञान के विषय में।

१- प्रश्न-तत्व की दृष्टि से योगी कितना जानता है ?

उत्तर-तत्वज्ञान की दृष्टि से योगी सर्वज्ञ है (अस्ति)

२- प्रश्न अतत्वभूत पदार्थों की दृष्टि से योगी सर्वज्ञ है कि नहीं ?

उत्तर-नहीं है। (नास्ति)

३- प्रश्न- तत्व और अतत्व दोनों दृष्टियों का एक साथ विचार किया जाय तो ज्ञान की सीमा क्या है ?

उत्तर-ऐसी अवस्था में ज्ञान की सीमा कह नहीं सकते। (अवक्तव्य)

४- प्रश्न- योगी या अर्हत् को हम सर्वज्ञ कहें या असर्वज्ञ ?

उत्तर-तत्वज्ञान की दृष्टि से सर्वज्ञ कहें और अतत्वज्ञान की दृष्टि से असर्वज्ञ। (अस्ति नास्ति)

५- प्रश्न- मुझे कुछ तत्वज्ञान सम्बन्धी शंकाएँ हैं कुछ अन्य शंकाएँ भी हैं। क्या, योगी उनका समाधान करेंगे ? योगी आखिर जानते कितना हैं ?

उत्तर-तत्वज्ञान सम्बन्धी शंकाओं का तो जरूर समाधान करेंगे क्योंकि इस दृष्टि से वे सर्वज्ञ हैं। बाकी सब शंकाओं का वे समाधान करेंगे कि नहीं, कह नहीं सकते। क्योंकि इस दृष्टि से उनके ज्ञान की सीमा कही नहीं जासकती। (अस्ति अवक्तव्य)

६ प्रश्न- क्या योगी संसार के सब विषयों के सब प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं ? योगी कितना जानते होंगे ?

उत्तर- सब विषयों के सब प्रश्नों का समाधान वे नहीं कर सकते, यद्यपि वे काफी जानते हैं पर कितना जानते हैं कह नहीं सकते। (नास्ति अवक्तव्य)

७ प्रश्न- कुछ तो मेरी तत्वज्ञान सम्बन्धी शंकाएँ हैं और कुछ ऐसी हैं जिनका आत्मकल्याण के या तत्व के ज्ञान से कोई मतलब नहीं, क्या उन सब का समाधान योगी करेंगे ? योगी का सारा ज्ञान आखिर है कितना ?

उत्तर- तत्वज्ञान सम्बन्धी सब शंकाओंका समाधान वे करेंगे क्योंकि इस दृष्टि से वे सर्वज्ञ हैं, पर अतत्वज्ञान सम्बन्धी सब शंकाओं का समाधान नहीं कर सकते। क्योंकि इस दृष्टि से सर्वज्ञ नहीं हैं। सब मिलाकर कितनी शंकाओं का समाधान करेंगे-कह नहीं सकते क्योंकि साधारणतः उनके ज्ञान की सीमा बताना अशक्य है। (अस्ति नास्ति अवक्तव्य)

मूलभंग तो तीन ही हैं पर तीन के सात भंग बनाने से प्रश्नों का उत्तर हर तरह से दिया जासकता है और उसमें काफी स्पष्टता है। त्रिभंगी या सप्तभंगी के द्वारा ही प्रत्येक विषय का खुलासा किया जासकता है। हिंसा अहिंसा आदि संयम के

अंगों में भी सप्तभंगी के बिना काम नहीं चल सकता। जैसे हिंसा पाप है। पर थोड़ी बहुत हिंसा तो होती ही रहती है वह अनिवार्य है उसे पाप नहीं कह सकते, इस प्रकार हिंसा के बारे में भी सप्तभंगी बनेगी।

१- हिंसा पाप है। (अस्ति)

२- अनिवार्य आरम्भी हिंसा पाप नहीं है। [नास्ति]

३- बाहरी हिंसा (द्रव्य हिंसा) देखकर ही किसी को पापी या अपापी नहीं कह सकते। [अवक्तव्य]

४- संकल्पी हिंसा पाप है, आरम्भी हिंसा पाप नहीं। (अस्ति नास्ति)

५- भावहिंसा पाप है पर द्रव्यहिंसा के विषय में निश्चित बात नहीं कह सकते। (अस्ति अवक्तव्य)

६- यद्यपि द्रव्यहिंसा के बारे में निश्चित कुछ नहीं कह सकते फिर भी इतना निश्चित है कि अनिवार्य आरम्भी हिंसा पाप नहीं है। [नास्ति अवक्तव्य]

७- त्रसप्राणियों की संकल्पी हिंसा पाप है और स्थावरों की अनिवार्य हिंसा पाप नहीं है इतना निश्चित होने पर भी द्रव्य हिंसा होने से ही यह नहीं कह सकते कि यह हिंसा पाप है या अपाप। (अस्ति नास्ति अवक्तव्य)

कौनसी हिंसा किसके लिये, किस जगह किस समय किस भाव से अनुकूल है और किसके लिये किस जगह किस समय किस भाव से प्रतिकूल, इसका विचार करके ही सात भंगों में से उचित भंग के द्वारा प्रश्न का ठीक उत्तर देना चाहिये। ज्ञान और चारित्र में ही नहीं किन्तु व्यवहार की हर बात में ये सात भंग लगाये जासकते हैं। प्रत्येक वस्तु के विचार में द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा विचार करना चाहिये। इसप्रकार मेरे दर्शन का असाधारण दृष्टिकोण आज निश्चित होगया।

५५ - दासता की कुप्रथा

१ मुंका ९४३१ इ. सं

आज की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं में दासता की समस्या भी एक समस्या है। मनुष्य को पशु के समान दास बनाकर रखना, यहां तक कि उसे पशु-समान बेचना खरीदना, मनुष्यता का बड़ा से बड़ा कलंक है। पशु में इतना ज्ञान नहीं होता, न उसे पूरी तरह उसका उत्तरदायित्व समझाया जासकता है कि जिससे हांक बिना अपना कर्तव्य पूरा कर सके, इसलिये पशु को दास बनाकर रखना एक तरह का अपराध होने पर भी क्षन्तव्य है। पर मनुष्य तो अपना उत्तरदायित्व समझता है, भाषा समझता है, तब उसे दास बनाना क्षन्तव्य नहीं कहा जासकता।

पर इस दासप्रथा की जड़ गहरी है। आज इसे इकदम निर्मूल नहीं किया जासकता। हां! एक न एक दिन यह जायगी अवश्य, क्योंकि दासों की पशुता दासों को ही दुःखद नहीं है दास-स्वामियों को भी दुःखद है। दासों को कार्य में कोई आकर्षण या रुचि न होने से वे अधिक हानि और कम से कम काम करते हैं और इसके लिये प्रेरित करने में और ध्यान रखने में इतना कष्ट होता है कि दास रखना पर्याप्त महार्घ्य मालूम होने लगता है। इसकी अपेक्षा भृतिजीवी व्यक्ति अधिक व्यवस्थित काम करते हैं। इसलिये एक न एक दिन दासों का स्थान भृतिजीवी लोग ही लेलेंगे। परन्तु जब तक वह समय नहीं आया है तब तक मैं दासों को बन्धनमुक्त करने की, और जिन लोगों के पास दास हैं उन्हें दासों की संख्या कम करने की प्रेरणा तो करूंगा ही। आज मेरे निमित्त से एक दासी दासता से मुक्त होगई इससे मुझे पर्याप्त सन्तोष हुआ।

आज मैं भिक्षा के लिये अचानक ही आनन्द के यहां जा पहुँचा। आनन्द अपने भवन के दूसरे भाग में था। मैं जिस द्वार पर पहुचा उससे एक दासी निकली। वह कल का वासा भात फेंकने आई थी। मुझे देखते ही वह रुकी। बोली-साधुजी, मैं दासी हूं, मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे मैं अपनी कह सकूं और आपको दे सकूं। यह वासा भात स्वामिनी ने फेंकने के लिये दिया है इसे मैं अपने स्वामित्व का कह सकती हूं। क्या यह वासा भात आपको चलेगा ?

बोलते बोलते उसका गला भर आया और आंखें भी गीली होगई।

मैंने हाथ पसार दिये और उसने बड़ी भक्ति से करतल पर भात परोसा और मैंने आहार लिया। आहार लेकर मैं निबटा ही था कि भीतर से आवाज आई, क्यों री बहुला! भात फेंकने में इतनी देर क्यों लगा रही है ?

आवाज के पीछे बहुला की स्वामिनी वहां आपहुँची। वह मुझे देखकर ठिठकी। फिर क्षणभर रुककर कड़कती हुई आवाज में बोली-क्यों री! तूने भगवान को वासा भात क्यों परोसा ?

स्वामिनी की आवाज भवन में गूँज गई। अन्य दासी-दास भी इकट्ठे होगये, आनन्द भी आगया। उसने कहा-भगवन, यह मेरा कितना दुर्भाग्य है कि मेरे घर पर भी आपको वासा भात मिला।

मैंने कहा- मैंने तुम्हारे यहां आहार नहीं लिया है आनन्द, बहुला के यहां लिया है। बहुला दासी है, फेकने के लिये दिये गये भात पर ही उसका अधिकार कहा जासकता था इसलिये बहुला के यहां मुझे वही मिल सकता था।

आनन्द ने कुछ अर्ध स्वगत के समान कहा—इतनी समृद्धि रहते हुए भी जो पुण्य मैं न खरीद सका वह पुण्य दासी होने पर भी वहुला ने खरीद लिया।

मैंने कहा—अब तुम वह पुण्य वहुला से खरीद सकते हो।

आनन्द-कैसे खरीद सकता हूं ?

मैं-वहुला को दासता से मुक्त करके।

आनन्द-मैं प्रसन्नता से वहुला को दासता से मुक्त करता हूं। यह चाहे तो अभी जहां चाहे जासकती है, चाहे तो भृतिजीविनी बनकर मेरे ही यहां रहसकती है। मैं राज्य में भी यह विज्ञप्ति भेज देता हूँ कि वहुला आज से स्वतन्त्र है।

आनन्द की इस उदारता से मुझे पर्याप्त सन्तोष हुआ।

५६-स्वप्न जगत्

२ चिंगा ९४३१ इ. सं.

एकबार फिर इच्छा हुई कि अकेला ही म्लेच्छ खण्डों में घूमूँ, इसलिये दृढ़भूमि की तरफ विहार किया, पेढाला गांव के पास एक उद्यान में पोलास नाम का चैत्य था उसी चैत्य में मैं ठहरा। रास्ते में स्वर्ग लोक के विषय में काफी विचार आते रहे इसलिये रात में जब सोया तब स्वप्न जगत् में उन्हीं विचारों की छाया पड़ी और बड़ा ही अद्भुत स्वप्न आया।

मैंने देखा कि स्वर्गलोक में इंद्र बड़े ठाठ से अपनी सभा में बैठा है और इधर उधर की गपशप होते होते मेरा प्रकरण छिड़ पड़ा। इन्द्र ने मेरी तपस्या की बड़ी प्रशंसा की इतनी अधिक कि संगमक नाम के देव को उसपर विश्वास ही नहीं हुआ, तब वह मेरी परीक्षा लेने के लिये मेरे पास आया

और आकर के उसने अपनी शक्ति से मेरे पर खूब धूलवर्षा की पर मैं विचलित न हुआ। तब उसने बड़े बड़े चींटे पैदा किये। उनने शरीर के भीतर घुस-घुसकर मेरा सारा शरीर खा डाला, हड्डियों का पिंजरा ही रह गया, फिर भी मैं विचलित नहीं हुआ। तब उसने बड़े बड़े डाँस पैदा किये, उनने मेरा खून चूस डाला फिर भी मैं विचलित न हुआ। तब उसने बिच्छू पैदा किये, उनके डंकों से भी मैं विचलित न हुआ। तब उसने साँप पैदा किये जो मेरे शरीर से लिपट गये, फिर भी मैं विचलित न हुआ। तब उसने बड़े बड़े दांतवाला हाथी पैदा किया, उसने मुझे उठाकर आसमान में फेंक दिया, फिर भी मैं विचलित नहीं हुआ। तब उसने पिशाच पैदा किया पर उसका भयंकर रूप देखकर भी मैं विचलित नहीं हुआ। तब उसने वाघ पैदा किया, पर उससे भी विचलित नहीं हुआ। तब उसने एक रसोइया बुलाया जिसने मेरे दोनों पैरों का चूल्हा बनाकर आग जलाई, पर उससे भी मैं विचलित नहीं हुआ। तब उसने एक बड़ा तूफान पैदा किया, फिर भी मैं विचलित नहीं हुआ। तब उसने हजार मन वजन का एक कालचक्र पैदा किया जो उसने मुझपर फेंका, उसके वजन से मेरा शरीर घुटने तक जमीन में घुस गया।

यद्यपि यह सब स्वप्न था, पर स्वप्न का असर भी शरीर पर पड़ता है। कालचक्र के स्वप्न से मुझे कुछ नींद में ही ऐसी घबराहट हुई कि ठंड होने पर भी मुझे पसीना आगया और मानसिक आघात से नींद खुलगई। देखा तो वहां कुछ नहीं था, मैं चैत्य में अकेला था।

स्वप्न की भी अद्भुत दुनिया होती है! बिलकुल असंभव और परस्पर विरोधी घटनाएँ भी आँखों के सामने प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगती हैं, फिर भी निराधार नहीं होतीं। मन में छिपीहुई वासनाएँ ही इनका आधार बनजाती हैं और कभी कभी

वासनाअें इतनी प्रच्छन्न होती हैं कि वासनावाले मनुष्य को भी उनका पता नहीं लगता। यही कारण है कि कभी कभी ऐसे स्वप्न आते हैं कि जिनका कोई भी बीज हमें मनके भीतर दिखाई नहीं देता।

मैं इसी स्वप्न को लेता हूं। मेरे शरीर को चालनी की तरह छेद डाला, इसकी मुझे क्या कल्पना आ सकती है? फिर भी स्वप्न में यह और ऐसी अनेक वातें प्रत्यक्षसी दिखाई दीं, क्यों कि इनका बीज मनमें था। पिछले दिनों में जो मैंने अनेक कष्ट सहे हैं और अविचलित होकर सहे हैं उसके कारण मनमें एक ऐसा आत्मविश्वास पैदा हो गया है कि जो प्रच्छन्न अभिमान बनगया है। स्वर्ग में इन्द्रद्वारा मेरी प्रशंसा के स्वप्न से पता लगता है कि मनके भीतर एक तरह की महत्वाकांक्षा छिपी हुई है। असंयम के ये अंश इतने सूक्ष्म और प्रच्छन्न हैं कि उनको साधारण ज्ञानी जान नहीं सकता। मनकी इन सूक्ष्म पर्यायों का ज्ञान बहुत उंचे दरजे का ज्ञान है कि जो संयम की पर्याप्त विशुद्धि होनेपर ही हो सकता है। अवधिज्ञान की अपेक्षा इसका मिलना बहुत दुर्लभ है। अवधिज्ञान तो असंयमी को भी हो सकता है पर मनःपर्याय तो अुसी संयमी को हो सकता है जो अपने या पराये मन के भीतर छिपे हुअे पाप और असंयम को अपनी दिव्य दृष्टि से देख सकता है। साधारण मनोवैज्ञानिकता एक बात है अुसका संबंध विशेष विद्या बुद्धि से है जब कि मनःपर्याय ज्ञान विद्या बुद्धि के सिवाय बहुत उच्च श्रेणी की संयम-विशुद्धि के साथ दिव्य दृष्टि की अपेक्षा रखता है।

आज अपने स्वप्न पर विचार करते करते मुझे मालूम होता है कि मुझे मनःपर्याय ज्ञान होगया है, इस ज्ञान से रहा सहा असंयम भी दूर हो जायगा। तब मैं अपने को इतना पवित्र बना

सकूंगा जिससे अपने को जिन अर्हत् या बुद्ध कह सकूं। उस समय जो ज्ञान होगा वह विशुद्ध ज्ञान होगा, निर्लिप्त-ज्ञान होगा, केवलज्ञान होगा।

आज इस दुःस्वप्नने संयम और ज्ञान का सच्चा स्वरूप दिखा दिया है जो निकट भविष्य में पूर्ण होगा।

५७ क्या लूटें ?

४ चिंगा ९४४१ इ. सं.

चैत्य से निकलकर मैं वालुकग्रामकी तरफ चला। वालुकग्राम यथानाम तथागुण है। उसके चारों तरफ बहुत दूर तक वालु ही वालु है। यहां चाहे दिन हो चाहे रात, छिपने को कोई जगह नहीं है इसलिये चोर यहां नहीं रहते, डांकू ही रहते हैं जो यात्रियों के समान समूह बनाकर चलते हैं और इक्के दुक्के राहगीर को मारपीटकर लूट लेते हैं।

मैं जब वालु के मार्ग में से जा रहा था तब दूर से इन डाकुओं ने मुझे देखा और दौड़ते हुए मेरे पास आये। पर मुझे देखकर बहुत निराश हुए। मेरे पास लूटने योग्य तो कुछ था ही नहीं, पर शरीर पर कोई चीर भी नहीं था जिसके भीतर किसी वस्तु के छिपाने का कोई सन्देह होसके और सन्देह के नाम पर मुझे तंग किया जासके। एक डांकू बोला—अब इस नंगे का क्या लूटें ?

दूसरे को मजाक सूझा। बोला—मामाजी, अपने इन भानेजों को कुछ न दोगे ?

तीसरा बोला—अच्छा तो अपने बच्चों को गोद में ले लीजिये।

यह कहकर वह मेरे कंधे से लटक गया। इसके बाद दूसरा भी लटक गया। बाद में और डांकू भी चारों तरफ लटक

गये। चलना तो अशक्य हो ही गया पर मेरे पैर बालु में धँस-कर रहगये। घड़ीभर उन लोगों ने अत्यन्त अपमान जनक उल्लं-घन किया।

फिर यह कहते हुए लौट गये कि मामाजी, अगर तुम्हारे पास लँगोटी भी होती तो वही लूटते, पर अब नंगे मामा का क्या लूटें ?

५८- तत्व

१७ टुंगी ९४४२ इ. सं.

दृढ़भूमि में छः महीने तक विहार किया। वहां के लोग अभी काफी म्लेच्छ हैं फिर भी कुछ न कुछ असर हुआ ही। अनुभव भी मिले। यहां भिक्षा की काफी कठिनाई रही क्योंकि जिस घर में जाता था उसमें ऐसा भोजन मिलना कठिन होता था जिसमें मांस न मिला हो। अगर कोई ऐसा भोजन मिला भी तो अस्वच्छता के कारण उसे लेना ठीक नहीं मालूम हुआ। इस प्रकार कहना चाहिये कि छः महीने तक एक प्रकार से अन-शन ही हुआ। वहां से निकलकर जब एक गोकुल में पहुँचा तब एक गोपी के यहां शुद्ध आहार मिला। इसके बाद मैंने द्रुतगति से पर्याप्त विहार किया। श्वेताम्बी श्रावस्ती कौशाम्बी वाराणसी मिथिला आदि दूर दूर की नगरियों में भ्रमण करके इस विशाला नगरी में ग्यारहवां चातुर्मास किया है। इस भ्रमण में लोगों से जो चर्चाएँ हुईं उनसे धर्मतत्वों के निर्णय करने में प्रेरणा मिली। आजकल वही कर रहा हूँ।

कल्याण की दृष्टि से मैंने सात बातों के विचार को मुख्यता दी है। और उनके नाम रक्खे हैं जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।

जीव-जो अनुभव करता है कि मैं हूं। चैतन्यमय, सुख

दुःख का भोक्ता जीव है।

अजीव-जो जीव से भिन्न है वह अजीव है। यह शरीर अजीव है जो जीवके साथ बँधा हुआ या जीव जिस के साथ बँधा हुआ है।

आश्रव-जो दुःख के श्रोत हैं वे आश्रव हैं। मिथ्यात्व असंयम आदि के कारण प्राणी दुःखी होता है, ये ही आश्रव हैं।

बन्ध-आश्रवों के कारण प्राणी दुःखदायक परिस्थितियों से बँध जाता है, जिनका अुसे फल भोगना पड़ता है वह बंध है।

संवर-आश्रवों को रोक देना, अज्ञान असंयम आदि दूर कर देना संवर है। संवर होजाने से नये बन्ध नहीं हो पाते।

निर्जरा जो कर्म बँध चुके हैं वे फल देकर झड़जाँय या तपस्या से पहिले ही झड़ा दिये जाँय, यह निर्जरा है।

मोक्ष-बँधी हुई चीज झड़ती तो जरूर है, कर्म भी झड़ते हैं पर झड़ते झड़ते फल दे जाते हैं। अगर अुसको सहन कर लिया जाय तब तो ठीक, नहीं तो फल भोगने में जो अशांति आदि होती है उससे फिर बन्ध होता है, इसप्रकार अनन्त परम्परा चलती रहती है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि कर्म का फल सहन कर लिया जाय और फिर इसप्रकार निर्लिप्त रहा जाय कि आगे बन्ध न हो। इसप्रकार धीरे धीरे ऐसी अवस्था पैदा होसकती है जब मनुष्य दुःखों से मुक्त होसकता है, वही मोक्ष है।

इन सात तत्वों का पक्का विश्वास ही सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व है, इन सात तत्वों का ठीक ज्ञान ही वास्तव में सम्यग्ज्ञान है। इन तत्वों से बाहर का ज्ञान ठीक रहे या न रहे उससे सम्यग्ज्ञान में कोई बाधा नहीं आती। इन तत्वों का जिन्हें पूरा अनुभव होजाता है, जो मुक्तावस्था तक का अनुभव करने लगते

हैं वे ही पूर्ण सम्यग्ज्ञानी, केवली या बुद्ध हैं। इन तत्वों के अनुरूप आचरण करने लगना मन को पवित्र बनाना ही सम्यक् चारित्र है। जो इस चरित्र को पूर्ण कर जाते हैं जो अपनी दुर्वासनाओं को जीत लेते हैं और अपना जीवन स्वपरकल्याणकारी बनालेते हैं वे ही जिन हैं अर्हन् हैं। इन तत्वों को मैं खोज चुका हूं। बहुत कुछ अनुभव में भी ले आया हूं फिर भी थोड़ी कमी मालूम होती है। कुछ दिनों में वह कमी भी दूर होजायगी।

किसी चीज के मूल को या सार को तत्व कहते हैं। आत्मकल्याण या स्वपर कल्याण के लिये मूलभूत ये सात बातें हैं इसलिये मैं इन्हें तत्व कहता हूं। ये सात तत्व ही मेरी धर्मसंस्थाकी आधारशिला हैं।

५९. पुण्यपाप

१६ टुंगी ९४४२ इ सं.

परसों तत्वों के बारे में जो निर्णय किया था, उसके विषय में कुछ और गहराई से विचार हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्ण सुखशांति के लिये सभी तरह के आश्रवों का त्याग करना चाहिये। पर इस प्रकार की विशुद्ध परिणति हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता, वह अशुद्ध परिणतियों में चुनाव ही कर सकता है। इसलिये आश्रवों में शुभ अशुभ का भेद करना पड़ेगा। यद्यपि शुभ भी अशुद्ध है और हानिकर भी है, फिर भी अशुभ की अपेक्षा शुभ बहुत अच्छा है और शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिये भी अनुकूल है। अशुभ से शुद्ध को पाना जितना कठिन है शुभ से शुद्ध का पाना उतना कठिन नहीं है।

अशुभ परिणति में मनुष्य स्वार्थ के लिये बुराई करता है। शुभ परिणति में स्वार्थ को गौणकर भलाई करता है। शुद्ध परिणति में भी शुभ की ही तरह स्वार्थ को गौणकर भलाई

करता है. इसलिये शुभ और शुद्ध स्थूल दृष्टि से एक सरीखे मालूम होते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से शुभ और शुद्ध में बहुत अन्तर है। शुभ में राग या मोह परिणति है, शुद्ध में वीतराग परिणति है। भावों के इस भेद का परिणाम भी भिन्न भिन्न ही होता है। रागी के शुभ कार्य कुछ पक्षपात-पूर्ण होते हैं, या कुछ आशा रखते हैं, इसलिये अन्त में मानसिक दुख देते हैं। हमने इतना भला किया है इसलिये इतना नाम होना चाहिये, उपकृतको मेरा उपकार मानना चाहिये या मरने पर मुझे उसका फल मिलना चाहिये इसप्रकार की रागपरिणति अन्त में दुःख देती है, फलाशा से कभी कभी अविवेक भी आजाता है. उपकृत में प्रतिक्रिया भी होने की सम्भावना रहती है. इसलिये शुभ परिणति मोक्ष सुख नहीं दे सकती। वह अशुभ से अच्छी है, बहुत अच्छी है, पर शुद्ध के समान चिरन्तन स्वपर कल्याणकारी नहीं।

यह ठीक है कि अशुभ परिणति में फंसा हुआ जीव पहिले शुभ परिणति में आयगा, और वहां से शुद्ध परिणति में। शुभ और शुद्ध के बाहरी कार्य एक सरीखे होते हैं केवल परिणामों में अन्तर रहता है, जो धीरे धीरे दूर किया जासकता है।

मुझे तो मनुष्य को पूर्ण सुखी बनाना है चिरन्तन सुखका आनन्द देना है, इसलिये मैं जगत को शुद्ध परिणति की ओर लेजाना चाहता हूं। इसलिये अशुभ परिणतिरूप पाप और शुभ परिणतिरूप पुण्य दोनों को आश्रव मानता हूं। परन्तु शुभ और अशुभ में अन्तर है, इसबात को समझाने के लिये पुण्य पाप के रूप में इनका अलग विवेचन भी करना पड़ेगा इसलिये सात तत्व नव तत्व बन जायंगे।

कल्याण के मार्ग पर चलने के लिये इन नव पदों का अर्थ अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये इसलिये इन्हें नव पदार्थ भी कहसकते हैं।

६० - शुभत्व के दो किनारे

२२ मुंका ९४४२ इ. सं.

सब से नीची श्रेणी का शुभ, जो अशुभ के बिलकुल पास है. और सब से ऊंची श्रेणी का शुभ, जो शुद्ध के बिलकुल पास है. दोनों के उदाहरण कल अकस्मात् ही देखने को मिलगये। इसप्रकार शुभत्व के दोनों किनारों से, या सीमा की रेखाओं से जीव के अशुभ शुभ और शुद्ध परिणामों का (पाप पुण्य मोक्ष का) ठीक ठीक विभाजन होगया।

इस चातुर्मास में जिनदत्त श्रेष्ठी मेरे पास प्रायः आता रहा है। एक दिन यह बहुत श्रीमन्त व्यक्ति था पर आजकल बहुत गरीब है, यहां तक कि लोगोंने इसका नाम ही जीर्ण श्रेष्ठी रख लिया है। पर इसकी गरीबी ने इसकी धार्मिकता तथा अुदारता में कोई अन्तर नहीं किया है, यथाशक्ति अधिक से अधिक अुदारता का परिचय यह आज भी दिया करता है। भले ही अुस उदारता से इसका आर्थिक संकट बढ़ जाये।

अत्यन्त धार्मिक गृहस्थ होने पर भी इसके यहां मैं भोजन करने नहीं गया। क्योंकि मैं जानता हूं कि यह मेरे लिये अपनी आर्थिक शक्ति से अधिक खर्च कर जायगा। मेरा उद्दिष्ट-त्याग इसीलिये ऐसे भोजन से मुझे दूर रखता है। फिर भी जाते जाते कल यह मुझे भोजन का निमन्त्रण दे ही गया। इसे मालूम नहीं कि मैं भोजन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता।

मैं दूसरे सेठ के यहां भोजन करने गया। वह धन के मद में मत्त था। मुझे देखते ही उसने दासी को आज्ञा दी कि इस भिक्षुक को भिक्षा देकर जल्दी विदा करदे। दासी एक लकड़ी के पात्र में दाल के छिलके और भुसी का भोजन लेकर आई। मैंने अपने करतल पर अुसी का भोजन लिया। मैं भोजन

करके निकला ही था कि जनता की एक भीड़ वहां कुतूहल से पहुंच गई। क्योंकि मेरे अनशन की तपस्याओं ने जनता में एक कुतूहल पैदा कर दिया है। मैं कहां आहार लेता हूं इस विषय में भी जनता के मन में एक प्रकार का कुतूहल रहने लगा है।

मैं तो भोजन लेकर चला आया, पर जनता उस नये सेठ की बड़ी प्रशंसा करने लगी. और करने लगी मेरा गुणगान भी। अब सेठ को ज्ञान हुआ कि मैंने किसी बड़े तपस्वी को भिक्षा दी है। सम्भवतः ऐसी रद्दी भिक्षा देनेके कारण वह मन ही मन पछताने भी लगा। इतने में एक मनुष्य ने कहा—सेठ जी, धन्य है आपको, जो ऐसे महान तपस्वी का आहार आपके यहां हुआ। तपस्वीराज को क्या भोजन दिया था आपने ?

सेठ झूठ बोलने में काफी चतुर था। उसने बिना संकोच के कहा-बढ़िया खीर खिलाई थी।

धन्य है ! धन्य है ! की ध्वनि चारों ओर गूंजगई। धीरे धीरे यह चर्चा सारे नगर में फैलगई। जीर्ण श्रेष्ठी ने भी सुनी। उसे बहुत खेद हुआ।

तीसरे पहर वह मेरे पास आया। नवीन श्रेष्ठी के यहां आहार लेने आदि की सब बातें सुनाते हुए उसने कहा-प्रभु, मैं बड़ा अभागी हूं। आपके चरणों से मेरी झोपड़ी पवित्र न होपाई।

मैंने मुसकराते हुए कहा-पर मन तो पवित्र होगया।

सेठ ने कुछ उत्तर न दिया। खेद के चिन्ह उसके चेहरे पर दिखाई दे रहे थे।

मैंने कहा—नवीन श्रेष्ठी को मिलनेवाली प्रशंसा तुम्हें न मिलपाई, क्या इस बात का खेद होरहा है ?

सेठ ने कहा-जब आपको निमन्त्रण दिया था उस समय

मुझे इस प्रशंसा की तनिक भी कल्पना नहीं थी। उस समय तो मैं यही सोच रहा था कि जीवन की पवित्रता का चरमरूप बनाने के लिये, और जगत् में सुख शांति का साम्राज्य स्थापित करने के लिये जो आप महान तपस्या कर रहे हैं उसपर श्रद्धांजलि चढ़ाना मेरा कर्तव्य है। इसी कर्तव्यभावना से मैं अपने को कृतकृत्य बनाना चाहता था। पर जब लोगों के मुँह से नवीन श्रेष्ठी की प्रशंसा सुनी तब मेरा ध्यान इस तरफ गया और मन चल विचल होगया।

मैंने कहा- अगर इस बात से मन विचल न होता तो तुम अर्हत् होगये होते। पर अब तुम सिर्फ इन्द्रासन के ही अधिकारी रहगये।

सेठ मुसकराकर रह गया।

मैंने कहा- सेठ ! तुम अर्हत् नहीं होपाये पर नवीन श्रेष्ठी की अपेक्षा तुमने असंख्यगुणा पुण्य कमाया है।

सेठ बहुत सन्तुष्ट हुआ। और प्रणाम करके चला गया।

नवीन श्रेष्ठी पापी है, वह झूठ बोलकर भी प्रशंसा लूटना चाहता है, भिक्षा भी अपमान से देता है और वह भी रद्दी से रद्दी, फिर भी देता है यह पुण्य का प्रारम्भ है। पाप से लगा हुआ बिलकुल नीची श्रेणी का पुण्य है यह। जीर्ण श्रेष्ठी जो पुण्य करता है वह कर्तव्य की प्रेरणा से। किसी ऐहिक स्वार्थ की लालसा से नहीं। यह पुण्य की पराकाष्ठा है। अगर पीछे पीछे इसका मन प्रशंसा की बात से चल विचल न होता तो यह शुभोपयोग न रहकर शुद्धोपयोग बनजाता। थोड़ी सी अशुद्धि मिलजाने से यह आश्रवरूप होगया, नहीं तो मोक्ष रूप होता। इसप्रकार इस घटना से अशुभ शुभ और शुद्ध की सीमा रेखाएँ बड़ी अच्छी तरह से बनगईं। शुभत्वके दोनों किनारों का स्पष्टीकरण होगया।

६१-तप त्याग का प्रभाव

१७ चिंगा ६४४२ इतिहास संवत्।

अनेक गावों में भ्रमण करता हुआ इस सुंसुमारपुर में आया हूं। यद्यपि यह अनुभव मैं जन्मसे ही कर रहा हूं कि मनुष्य कुलजाति का, वैभव का और शासन के अधिकार का जितना सन्मान करता है उतना तपत्याग का नहीं। कुलजातिसे जगत की कोई भलाई नहीं होती, केवल दूसरों का अपमान होता है, मद से आत्मा का पतन भी होता है। वैभव से जीवन शुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि एक के पास अधिक सम्पत्ति पहुँच जाने से दूसरों के पास सम्पत्ति की कमी पड़ती है, विलास से धनी का भी पतन होता है। अधिकार का मद तो सबसे बड़ा मद है, इससे मनुष्य अत्यन्त विलासी घमंडी अविवेकी और अत्याचारी होजाता है। मैं कुलजाति की महत्ता तोड़ना चाहता हूं। अपरिग्रह की ओर जगत को लेजाना चाहता हूं और चाहता हूं कि अधिकार न्याय की व्यवस्था के लिये ही हो। अधिकारी सेवक के रूप में जनता के सामने आये, जनता का देवता बनकर नहीं। पर यह बात तभी होसकती है जब जनता गुणपूजक, त्यागपूजक हो। अभी तक जनता कुल की, धन की, अधिकार की पूजा करती रही है; इसलिये सच्चा त्याग तप दुर्लभ होरहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जगत में जन्म मरण आदि का जितना प्राकृतिक दुःख है उससे असंख्यगुणा दुःख मनुष्य के पल्ले पड़गया है। वैभव और अधिकार की महत्ता ने मनुष्य के मनपर ऐसी छाप मारी है कि जो लोग तप-त्याग भी करते हैं वह तप-त्याग का आनन्द लेने के लिये नहीं, जगत की सेवा के लिये भी नहीं, किन्तु वैभव-विलास के रूप में उसका फल पाने के लिये।

मैं ऐसे तप को कुतप मानता हूं जिसमें आत्मशुद्धि नहीं, सिर्फ उसी विलास को हजारों गुणे रूप में पाने की लालसा है,

जिसका त्यागकर वह त्यागी-तपस्वी बना है। इससे वैभव विलास मिलसकता है, पर यह दैवी वृत्ति नहीं आसुरी वृत्ति है। ऐसे लोग देवराज का पद नहीं पासकते, मोक्ष नहीं पासकते, कदाचित् असुरराज ही बन सकते हैं।

मैं अपने त्याग-तप को आत्मशुद्धि का, मोक्ष का और जगत के उद्धार का अंग बनाना चाहता हूं। मुझे तो देवराज का पद भी इसके आगे तुच्छ मालूम होता है। मैं ऐसा जगत बनाना चाहता हूं जिसमें देवराज और असुरराज सब सच्चे त्यागी तपस्वियों के आगे नतमस्तक रहें, भक्तिभय से ओतप्रोत रहें, और त्यागी के आगे शक्ति वैभव अधिकार के प्रदर्शन करने का साहस न कर सकें, बल्कि स्थायीरूप में शान्ति की ओर झुकें।

१८ चिंगा ९४४२, इ. सं.

आज मैं शौच के लिये ईशान कोण की ओर गया था। लौटते समय मैंने देखा कि एक वट वृक्ष के नीचे एक तापस लेटा हुआ है और चार पांच ग्रामीण उसके आसपास बैठे हुए हैं। मेरे कानों में आवाज आई कि—अब महाराज एक दो दिन से अधिक जीवित नहीं रह सकते। कोई असाधारण घटना समझकर मैं उस ओर मुड़ा। मुझे आया हुआ देखकर ग्रामीण एक ओर हट गये। तापस का शरीर अस्थि पंजरसा रहगया था। कुछ सोच समझकर मैं उसके पास बैठगया। और पूछा— क्या आपने आजीवन अनशन लिया है ?

तपस्वी बहुत निर्बल होगया था। ध्वनि उसकी बहुत धीमी होगई थी। इसलिये सिर हिलाकर उसने तुरंत स्वीकृति दी, फिर कुछ देर में शक्तिसंचय करके उसने मुँह से भी 'हां' कहा।

उसकी निर्बलता देकर मेरी इच्छा बात करने की नहीं

थी। पर थोड़ी देर में उसीने धीरे धीरे कहना शुरु किया—जीवन में काफी वैभव और सन्मान पाया, अन्त में सोचा कि पहिले जन्म की पूंजी समाप्त होजाय इसके पहिले ही अगले जन्म के लिये कुछ जोड़ लेना चाहिये। इसलिये मैं तापस होगया। मैं विनय और दान को सब से मुख्य धर्म समझता हूं। इसलिये मैं सभी को प्रणाम करता रहा हूं और जो भिक्षा में मिला है उसका एक हिस्सा खाता रहा हूं बाकी तीन हिस्से पथिकों जलचरों और पक्षियों को समर्पित करता रहा हूं। मेरे भिक्षापात्र में चार खंड हैं—एक मेरे लिये, और बाकी तीन इन तीन वर्गों के लिये। इस-प्रकार तपस्या करके मैंने आजीवन अनशन लेलिया है, अब जीवन का अंतिम समय आनेवाला है।

इतना बोलने से ही उसे ऐसी थकावट होगई कि वह हांपनेसा लगा। मेरी इच्छा नहीं थी कि मैं कुछ बातचीत करके उसे और थकाऊं। पर उसकी मुखमुद्रा से ऐसा मालूम हुआ कि वह और चर्चा करना चाहता है और मुझ से कुछ सुनना चाहता है। कम से कम अपनी प्रशंसा तो अवश्य।

मैंने कहा—इसमें सन्देह नहीं कि नम्रता और उदारता बहुत प्रशंसनीय धर्म है। यह ठीक है कि उसमें यथाशक्य अधिक से अधिक विवेक का उपयोग करना चाहिये पर विवेक का उप-योग तो तभी किया जाय जब मूल में वे गुण हों। आप में वे गुण हैं यह पर्याप्त असाधारण बात है।

यद्यपि मैंने सम्यक्त्व का ध्यान रखते हुए काफी नपे तुले शब्दोंमें उसकी प्रशंसा की थी फिर भी उसे पर्याप्त सन्तोष हुआ। वह बोला—मुझे विश्वास है कि इस जीवन में जितना वैभव और अधिकार पाया था उससे असंख्यगुणा अगले जन्म में पाऊंगा। इस जीवन में मुझे यह बात खटकती रही कि मुझसे भी बड़े वैभववाले हैं, मुझसे बड़े अधि-कारी लोग हैं, जिनके आगे मुझे निष्प्रभ होना पड़ता है। इस

प्रकार अधिकार और वैभव से सम्पन्न होने पर भी जैसी शान्ति मुझे मिलना चाहिये थी वैसी न मिली। मेरा नाम पूरण है पर जैसा चाहिये वैसा पूरण मैं बन नहीं पाया।

मैंने कहा-पर क्या आप समझते हैं कि इस राह से कभी किसी को स्थायी शांति मिल सकती है? अधिक वैभव का अर्थ है दूसरों का अधिक गरीब होना, अधिक अधिकार का अर्थ है दूसरों में अधिक दासता होना, इससे मोह और मद ही बढ़ता है। इस प्रकार न हम आत्मा को शुद्ध कर सकते हैं न दूसरों को शुद्ध और सुखी बना सकते हैं बल्कि दूसरों में ईर्ष्या द्वेष पैदा करने के कारण विरोधियों की संख्या ही बढ़ाते हैं। उनमें से कोई विरोधी शक्ति संचय करके हमें पराजित भी कर सकता है, उसकी चिन्ता से भी हमें शान्ति नहीं मिलती। इसलिये अच्छा यही है कि हम विश्वप्रेम अर्थात् परम वीतरागता के ध्येय से तप करें। वैभव के ध्येय से नहीं।

तापस थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला-आप कोई महान ज्ञानी मालूम होते हैं. मैं आपको प्रणाम करता हूं। यों तो प्रणाम सम्प्रदाय का तापस होने के कारण मैं सभी को प्रणाम किया करता हूं पर आपका उत्कृष्ट ज्ञान और परम वीतरागता देखकर आपको विशेष प्रणाम करता हूं।

यह कहकर उसने मेरी तरफ तीन बार अंजलि जोड़कर प्रणाम किया। फिर बोला-पर मैं क्या करूं! आपकी बातों में अनुराग होनेपर भी उन्हें जीवन में नहीं उतार सकता। जीवनभर के संस्कार सहसा नष्ट नहीं होपाते हैं। मैं मृत्यु शय्यापर पड़ा हूं पर महत्वाकांक्षा भीतर ही भीतर तांडव कर रही है। फिर भी मैं चाहता हूं कि मरने के बाद परलोक में मेरी महत्वाकांक्षा पूरी हो या न हो, या कितनी भी हो, फिर भी मैं आपको न भूलूं।

इसके बाद उसने मुझे फिर प्रणाम किया। थोड़ी देर बैठकर मैं चला आया। नाना तरह के विचार मेरे मन में आते रहे। और तब तक आते रहे जब तक मुझे नींद न आगई।

१६ चिंगा ६४४२ इ. सं:

कल दिनभर जो विचार आते रहे उनने विकृत होकर रात में बड़े विचित्र स्वप्न का रूप लिया। मैंने देखा कि पूरण तापस मरगया है और मरकर असुरों का इन्द्र हुआ है। पैदा होते ही उसने चारों ओर देखा कि यहां मुझसे बड़ा कोई है तो नहीं। आसपास जो असुरियाँ और असुर खड़े थे वे प्रणाम कर रहे थे, पर ऊपर जब उसने स्वर्ग देखा तब वहां देवेन्द्र का वैभव देखकर उसे क्रोध आगया। बोला यह कौन है जो मेरे सिर पर बैठकर राज्य कर रहा है? साथी असुरों ने कहा-यह देवराज शक्र है। इसने कहा-तो मेरे रहते इसे स्वर्ग पर राज्य करने का क्या अधिकार है? मैं उसे नीचे गिराऊंगा।

असुरों ने रोका पर यह न माना। एक मुद्गर लेकर यह देवेन्द्र विजय के लिये चल निकला। पर रास्ते में उसे मेरा खयाल आया। इसलिये मेरी वन्दना को मेरे पास आया और बोला-आशीर्वाद दीजिये कि मैं देवेन्द्र को जीत लूं।

मैं चुप रहा।

फिर बोला-अगर मैं देवेन्द्र को न जीत पाऊं तो मैं आपकी ही शरण आऊंगा। आशा है आप मेरी रक्षा करेंगे।

मैं कुछ मुसकराया पर बोला कुछ नहीं। वह प्रणाम करके चला गया।

आसमान में पहुंचकर उसने विशाल रूप बनाया, उसके हस्तचालन से और मुद्गर घुमाने से तारे टकरा गये और टूटने लगे। सौधर्म स्वर्ग में उसका विकराल रूप देखकर साधारण देव

तो डर के मारे छिपगये और यह गर्जन करता हुआ इन्द्र के सामने पहुँचा और बोला—रे देवेन्द्र मेरे रहते तुझे इस इन्द्रासन पर बैठने का क्या अधिकार है ? तू आसन छोड़दे अन्यथा मैं तुझे नीचे गिरा दूंगा।

इन्द्र कुछ तो चकित हुआ, कुछ क्रुद्ध हुआ, उसने तुरंत असुरेन्द्र के ऊपर अपना वज्र छोड़ा। हजारों बिजलियों से भी अधिक तेजस्वी उस वज्र को देखकर असुरेन्द्र घबराया और उसे देखते ही भागा। सब देव उसकी हँसी उड़ाने लगे। पर जब इन्द्र को मालूम हुआ कि असुरराज मेरी तरफ भाग रहा है तब वह घबराया। और वज्र को पकड़ने के लिये वह भी पीछे पीछे दौड़ा। अन्त में असुरराज अपना छोटा रूप बनाकर मेरे पैरों के बीच में आबैठा, वज्र थोड़ी दूर पर आपाया था कि इन्द्र ने उसे पकड़ लिया। इन्द्र ने मुझे नमस्कार किया और कहा-प्रभु, धृष्टता क्षमा करें। मुझे पता नहीं था कि वह आपका भक्त है। अब मैं इसे क्षमा करता हूं। यह कहकर इन्द्र चला गया। जाते जाते उसने मुझे बार बार प्रणाम किया।

इसके बाद मेरी नींद खुलगई।

स्वप्न पर मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। दो दिन से जैसे विचार मेरे मनमें चक्कर लगा रहे हैं उसके अनुसार ऐसे स्वप्न आना स्वाभाविक है। लोक प्रचलित सुरासुर विरोध की कथाओं के संस्कार भी इसमें कारण है।

मुझे इस सुरासुर विरोध से कोई मतलब नहीं, पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि संसार में शक्ति वैभव और अधिकार से अधिक तप त्याग सेवा और ज्ञान का प्रभाव हो। वे देवेन्द्र हों या असुरेन्द्र, दोनों ही सच्चे तपस्वीयों के वश में रहें। अर्थात् तामसी और राजसी शक्तियाँ सात्विकी शक्तियों के आगे झुकी रहें।

जगत् इस दिशा में जितना आगे बढ़ेगा जगत् को सच्चे सेवकों का, ज्ञानियों तपस्वियों और त्यागियों का उतना ही अधिक लाभ होगा। साथ ही धन वैभव अधिकार की महत्ता कम होने से इनकी तरफ जनता का झुकाव भी कम होगा। इस प्रकार पाप का बीज भी निर्मूल होने लगेगा।

जगत् में धन वैभव कम हो यह दुःख की बात नहीं है पर वीतरागता विवेक त्याग तप आदि कम हों यही दुख की बात है। मैं ऐसे तीर्थ की रचना करना चाहता हूँ जिसमें पद पद पर तप त्याग की और ज्ञान की महिमा दिखाई दे।

६२-निमित्त और उपादान

८ चन्नी ६४४२ इ. सं.

सुसुमार पुर से भ्रमण करता हुआ मैं भोगपुर आया। वहां एक माहेन्द्र नामका क्षत्रिय मुझे देखते ही भड़क उठा। और बकझक करता हुआ खजूर की टहनी लेकर मुझे मारने दौड़ा, परन्तु सनत्कुमार नाम के एक दूसरे क्षत्रियने, जो उस गांव का अधिपति था, उसे रोका।

वहां से भ्रमण करता हुआ मैं नंदीग्राम आया, यहां के अधिपति ने मेरा खूब आदर सत्कार किया।

यहां से मैं मेढक गांव आया। यहां एक ग्वाला मुझे रस्सी लेकर मारने दौड़ा, यहां भी गांव के एक मुखिया ने देख-लिया और उसे रोका।

इन घटनाओं से पता लगता है कि श्रमण विरोधी वातावरण अभी भी काफी है। फिर भी उसमें इतना सुधार होगया है कि अब श्रमणों का पक्ष लेनेवाले भी काफी लोग होगये हैं।

इन घटनाओं से मेरे मनमें एक विचार बार बार आता

था कि मैं इतना वीतराग होने पर भी लोग आक्रमण क्यों करने लगते हैं। मेरी अहिंसा का कोई भी प्रभाव उनपर क्यों नहीं पड़ता ? क्या मेरी अहिंसा मिथ्या है ? या अहिंसा का सिद्धान्त अकिञ्चित्कर है।

क्षण भर को ही मेरे मनमें यह विचार आया और दूसरे ही क्षण समाधान होगया कि-निमित्त कितना भी बलवान हो किन्तु जब तक उपादान में योग्यता न हो तब तक निमित्त कुछ नहीं कर सकता। यही कारण है कि परम अहिंसक के भी शत्रु निकल आते हैं, और स्वार्थवश भ्रमवश वे उन्हें सताते हैं। निमित्त व्यर्थ नहीं है पर वही सब कुछ नहीं है। निमित्त का एकान्त या उपादान का एकान्त, दोनों मिथ्या हैं।

६३ — दासता विरोधी अभिग्रह

१ सत्येशा ९४४३ इ. सं.

जब मैं कौशाम्बी नगरी की ओर आरहा था तब मेरे आगे आगे जो पथिक समूह था उसकी बातें मैंने बड़े ध्यान से सुनी। उससे पता लगा कि यहां के शतानिक राजा ने विजया-दशमी के दिन सीमोल्लंघन का उत्सव चम्पा नगरी पर आक्रमण करके मनाया। चम्पा नगरी का दधिवाहन राजा डर के कारण भाग गया। शतानिक ने सेना को आज्ञा दे दी कि जिससे जो लूटते बने वह लूटलो! इस प्रकार सारा नगर लुट गया। दधि-वाहन राजा की रानी और पुत्री भी लुट गई। लुटेरे ने रानी को पत्नी बनाना चाहा, पर यह बात सुनते ही रानी को इतना दुःख हुआ कि वह मानसिक आघात से मर गई। उसकी लड़की वसुमती को लुटेरों ने कौशाम्बी में बेंच दिया है। और भी सैकड़ों सुन्दरियाँ बेंचकर दासी बना दी गई हैं।

इस समाचार से मुझे बहुत दुःख हुआ। एक विशाल राज्य की कल्पना मुझे प्रिय होने पर भी मैं यह पसन्द नहीं करता कि राजा लोग तनिक सी ताकत हाथमें आते ही इसप्रकार मनुष्यों का शिकार करने के लिये निकल पड़ें, डकैतों की तरह लूट खसोट करने लगें, न्यायका, अहिंसा का, मानवता का अपमान कर निरपराधों की हत्या करें, दासता की कुप्रथाको पनपायें। मैं अवश्य ही यथाशक्य इस अन्याय के विरोध में कुछ प्रयत्न करूंगा।

इस दिग्विजय यात्रा से मेरे मनमें एक विचार यह भी आया कि साधुओं को तो कहीं भी जाने में बाधा नहीं है पर गृहस्थों को दिशाओं में भ्रमण करने की भी मर्यादा लेलेना चाहिये। भ्रमण की मर्यादा से उनकी तृष्णा शान्त रहेगी। इस प्रकार दिग्व्रत या देशव्रत भी गृहस्थों के व्रतों में शामिल होना चाहिये।

अस्तु, इस भयंकर दासता के विरोधमें मैंने एक अभिग्रह लिया कि मैं किसी ऐसी दासी के हाथ से ही भिक्षा लूंगा जो कुलीन होने पर भी दासता के चक्र में पड़गई है और किसी कारण कारागृह क कष्ट भोग रही है। आंसुओं से आंखें भिगोये हुए है।

इस अभिग्रह के साथ मैं प्रतिदिन भिक्षा लेने जाने लगा; पर भिक्षा न मिली। पहिले तो किसीको चिन्ता न हुई। पर जब शुद्ध प्रासुक भोजन भी मैंने नहीं लिया तब लोगों का कुतूहल बढ़ा। वे मेरी तरफ अधिक ध्यान देने लगे। मैंने देखा कि राजमार्ग या बड़े बड़े मार्गों में मेरा अभिग्रह पूरा न होगा। संकटग्रस्त दासियां तो घरों के पिछवाड़े भाग में रक्खी जाती हैं। इसलिये मैं घरों के पिछवाड़े भाग की गलियोंमें भिक्षा लेने के

लिये निकलने लगा । और इसी तरह आज अभिग्रह पूरा होगया ।

आज जब मैं धनावह सेठ की हवेली के पिछवाड़े भाग से जा रहा था तब मेरे कान में आवाज आई—प्रभु ! यहां दया करो प्रभु !

मैंने देखा एक अत्यन्त रूपवती युवति मेरी तरफ देख-रही है। उसका सिर मुड़ा है, वस्त्र मलिन हैं. पैरों में बेड़ी पड़ी है इसलिये चल फिर नहीं सकती. हाथ में टूटा सा सूपा है और उसमें है कुलमाप (दाल के छिलकों का भोजन)। मैं रुका। मेरे रुकते ही उसने बड़ी आर्द्र वाणी से कहा— प्रभु, मैं दुर्भाग्य से सताई हुई एक राजकुमारी हूं। आज दासी से भी बुरी अवस्था में हूं। खाने को यह कुलमाप मुझे मिला है, जो आप के योग्य तो नहीं है पर आप अगर इस अभागिनी पर दया कर सकें तो इसे ग्रहण करें।

कहते कहते उसकी आंखों में आंसु आगये। मेरा अभि-ग्रह पूरा हुआ, मैं करतल पर वह भोजन लेने लगा।

मेरी ओर लोगों की दृष्टि थी ही। थोड़ी देर में वहां भीड़ इकट्ठी होगई। इतने में धनावह सेठ लुहार को लेकर आया।

मुझे देखते ही वह मेरे पैरों लगा। उसने कहा—मैं चन्दना को अपनी बेटी के समान मानता था। पर मेरी पत्नी को भ्रम हुआ कि मैं इसे पत्नी बनाना चाहता हूँ। एक दिन किसी दास दासी के निकट में न रहने से इसने पिता समझकर मेरे पैर धोदिये। पैर धोते समय इसके केश लटककर जमीन छूने लगे इसलिये मैंने हाथ से इसकी पीठ पर कर दिये। मेरी मूढ़ पत्नी ने देखा और इसी बात पर सन्देह किया और मुझसे छिपाकर बेटी चन्दना का सिर मुड़ा दिया, बेड़ी डाल दी, और पिछवाड़े

के इस कमरे में बन्द कर दिया। आज तीन दिन में मुझे पता लगा और तुरन्त ही मैं बेड़ी कटवाने के लिये लुहार को लाने चला गया। मैं अपनी पत्नी की करतूत पर बहुत लज्जित हूं भगवन्।

इतने में भीड़में से एक मनुष्य निकला और चन्दना को पकड़कर जोर जोर से रोने लगा। चन्दना भी उसे देखकर रोने लगी। पीछे मालूम हुआ यह दधिवाहन राजा के रणवास का कंचुकी है, चन्दना को इसने गोद खिलाया है। चन्दना का मूल नाम वसुमती है। कंचुकी भी लूट किया गया था पर आज ही छोड़दिया गया है।

यह समाचार शतानिक राजा को मिला। उसकी पत्नी मृगावती को भी पता लगा। मृगावती को मेरे विषय में बड़ी भक्ति होगई थी इसलिये मेरे अभिग्रह को पूर्ण सफल करने के लिये उसने चम्पापुरी में लूटी गई सब स्त्रियों को दासीपन से मुक्त करादिया।

इस प्रकार मेरा अभिग्रह अन्याय के एक बड़े भारी अंश का परिमार्जन करासका।

६४–जीवसिद्धि

१८ इंगा ९४४२ इतिहास संवत्

श्रमण विरोधी वातावरण यद्यपि पूरी तरह शांत नहीं हुआ है फिर भी उसमें अन्तर बहुत आगया है। इतना ही नहीं अब श्रमण भक्त ब्राह्मण भी मिलने लगे हैं। साथ ही मैं यह भी समझ गया हूं कि श्रमण विरोध का ठेका सिर्फ ब्राह्मणों ने ही नहीं लिया है। मेरे ऊपर उपसर्ग करनेवालों में ब्राह्मणेत्तर ही बहुत हैं।

उस दिन पालक ग्राम में भायल नाम का वैश्य मेरे ऊपर तलवार लेकर मारने दौड़ा था जब कि इसके पहिले सुमंगल और सत्क्षेत्र नाम के ग्रामों में वहां के ब्राह्मण क्षत्रियों ने मेरी वन्दना की थी। इसलिये अब श्रमण ब्राह्मण का भेद करना व्यर्थ है। मुझे जो क्रांति करना है उसमें मुझे ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का कोई भेद नहीं करता है। बल्कि अचरज नहीं कि इस कार्य में मुझे ब्राह्मणों से ही अधिक सहायता मिले।

कुछ भी हो। अब की बार का यह चौमासा मैंने चम्पा नगरी के स्वातिदत्त ब्राह्मण की अग्निहोत्रशाला में किया है। एक श्रमण को अपनी यज्ञशाला में चातुर्मास की अनुमति देकर जहां ब्राह्मण ने उदारता का परिचय दिया है वहां मैंने भी ब्राह्मणों से सहयोग का विचार किया है।

ब्राह्मण ने जगह तो दे दी, पर कोई विशेष आदर व्यक्त नहीं किया। हां! पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो व्यक्ति अवश्य मेरे पास आते हैं और कुछ प्रश्न पूछते हैं। इससे स्वातिदत्त को भी कुछ जिज्ञासा हुई और उसने आत्मा के विषय में पूछा।

मैंने कहा-जड़ तत्व के समान चेतन तत्व भी एक स्वतन्त्र तत्व है उसे आत्मा जीव चेतन आदि किसी भी नाम से कह सकते हैं। वह एक नित्य द्रव्य है।

ब्राह्मण ने पूछा-पर वह है कैसा?

मैंने कहा-ब्राह्मण, क्या तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें जीव के लिये कोई ऐसी उपमा दूं जिसे तुम इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हो?

ब्राह्मण ने कहा—हां।

मैंने कहा—पर यह कैसे सम्भव है ? जिन चीजों का हम इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं वे सब जड़ है, रूप रस गंध स्पर्श आदि गुणवाली हैं, जब कि जीव उन सब से भिन्न हैं उसमें रूप रस गन्ध स्पर्श नहीं है, वह अमूर्तिक है। अमूर्तिक को मूर्तिक के दृष्टांत से कैसे समझ सकते हैं ?

ब्राह्मण—तब जीव को कैसे समझा जाय ?

मैंने—उसके गुण से। जीव में एक ऐसा असाधारण गुण है जो संसार के अन्य किसी पदार्थ में नहीं पाया जाता, वह है उसके अनुभव करने की शक्ति, 'मैं हूं' इसका भान। यह भान किसी अन्य पदार्थ में नहीं पाया जाता।

ब्राह्मण—पर ऐसा देखा जाता है कि अलग अलग पदार्थों में जो गुण दिखाई नहीं देते वे मिलने पर दिखाई देने लगते हैं। मद्यके घटकोंमें जो मादकता दिखाई नहीं देती वह मद्यमें देती है।

मैं—ऐसा नहीं होता ब्राह्मण, जो जो चीज हम खाते हैं उसका कुछ न कुछ नशा हमारे शरीर पर पड़ता ही है। निद्रा आदि उसी के परिणाम हैं। मद्य का प्रभाव उसी का विकृत और परिवर्द्धित रूप है। ब्राह्मण, प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक गुण की असंख्य तरह की पर्यायें होती है पर नया गुण पैदा नहीं होसकता। अचेतन में चेतना गुण नहीं आसकता। क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि जड़ पदार्थों का कोई ऐसा यन्त्र या कोई ऐसा मिश्रण तैयार होसकता है जो अपने बारे में यह अनुभव करने लगे कि 'मैं हूं'।

ऐसा तो असम्भव है महाश्रमण।

तब जो यह अनुभव करता है वही जीव है और यह संसार के सब जड़ पदार्थों से भिन्न है, यह न किसी के मिलने से बन सकता है न किसीके बिछुड़ने से मिट सकता है। वह

नित्य है, अज है, अमर है। उसे हम देख नहीं सकते, छू नहीं सकते पर अनुभव से समझ सकते हैं, अनुभव से जान सकते हैं।

ब्राह्मण-आप महान ज्ञानी है महाश्रमण। यह मेरा परम सौभाग्य है कि आप सरीखे परम ज्ञानी ने मेरे यहां चातुर्मास किया।

इसके बाद जितने दिन मैं वहां रहा वह ब्राह्मण प्रतिदिन मेरी पूजा भक्ति करता रहा।

६५—संघ की आवश्यकता

? चन्नी ९४४३ इ. संवत्

ग्यारह वर्ष से ऊपर मुझे अकेले विहार करते होगये, इस समय में मैंने उग्र तपस्याएँ कीं, सत्य की अधिक से अधिक खोज की, अहिंसा की उग्र से उग्र साधना की, जिस क्रान्ति के ध्येय से मैंने गृह त्याग किया था उसकी भी पर्याप्त तैयारी की, उसके अनुकूल वातावरण निर्माण किया, पर अगर मैं संघ की रचना न करूं और संघ के साथ विहार करने की व्यवस्था न करूं तो लोकसाधना की दृष्टि से इतने वर्षों की यह सब साधना व्यर्थ जायगी। मैं अकेला विहार करता हुआ सुख दुख समभावी बनकर अपने को जीवन्मुक्त बना सकता हूं परन्तु इतने से समाज में वह परिवर्तन नहीं कर सकता जो परिवर्तन मेरे इस साधनामय या जीवन्मुक्त जीवन से होना चाहिये। और संसार के प्राणियों को जिसकी परम आवश्यकता है।

बात यह है कि ऐसे लोग बहुत कम हैं जो निष्पक्ष बनकर मेरे ज्ञान से लाभ उठा सकें, मेरी अहिंसकता को समझ सकें। साधारण जनता तो मुझे एक भिखारी या कंगाल समझ बैठती है। उसके पास बिना बाहरी प्रदर्शन के संयम और ज्ञान को

देखने की आंखें ही नहीं हैं। इसलिये कभी कभी बड़ी भयंकर दुर्घटनाएँ होजाती हैं। पहिले भी ऐसी दुर्घटनाएँ कम नहीं हुईं। कहीं मुझे चोर समझकर सताया गया, कहीं गुप्तचर समझकर प्रताड़ित किया गया, कहीं भिखारी समझकर अपमानित किया गया। इसमें उन लोगों का विशेष दोष नहीं है। जो आंखें उनके पास नहीं हैं उसके लिये वे क्या करें? चमड़े की आंखों से वे जितना देख सकते हैं उतना वे देखते हैं, उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं। इसलिये मुझे प्रारम्भ में ऐसी व्यवस्था करना ही पड़ेगी जिससे चमड़े की ही आंखोंवाले, भीतर की महत्ता का अन्दाज बांध सकें। बाद में जब मेरी धर्म-संस्था व्यापक होजायगी, और मेरे अनुयायी साधुओं की साधुता से जगत परिचित होजायगा, तब अकेले साधु को देखकर भी लोग उसकी साधुता को समझने लगेंगे, उसकी महत्ता को स्वीकार करने लगेंगे आज तो अधिकांश लोग, मेरी महत्ता तो दूर, मेरी ईमानदारी को भी नहीं समझ पाते, और भ्रमवश ऐसा दुर्व्यवहार कर जाते हैं जिससे वे अन्तिम नरक में जाने लायक पाप बांध जाते हैं। इसमें मैं निरपराध होने पर भी निमित्त बन जाता हूं। अब मैं सोचता हूं कि अहिंसा के साधक का इतना ही काम नहीं है कि वह केवल अहिंसा की आत्मसाधना करता रहे किन्तु उसे प्रभावना आदि के द्वारा लोक-साधना भी करना चाहिये जिससे विश्व के प्राणियों का पतन रुके, सत्यपथ के दर्शकों का तथा चलनेवालों का मार्ग निष्कंटक हो। पिछले दिनों जो एक महान दुर्घटना होगई उससे इस विषय पर गम्भीर विचार करने की आवश्यकता हुई।

चम्पा नगरी का चातुर्मास पूरा करके मैं जृम्भक मेंढक आदि ग्रामों में विहार करता हुआ षण्मानिग्राम के निकट आया और ध्यान लगाकर मैं गांव के बाहर ठहर गया। वहां एक

ग्वाला आया और मेरे निकट अपने बैलों को छोड़कर गायें दुहने चला गया। इधर बैल चरते चरते अटवी के भीतर घुसगये। जब ग्वाला लौटा तब उसने वहां बैल न देखे तब मुझसे पूछा- अरे, ओ रे श्रमण, बता मेरे बैल कहां गये?

मैं अहिंसा की उपेक्षणी साधना के अनुसार मौन ही रहा। उसने दो चार बार कुछ बकझक की। अन्त में बोला कि क्या तुझे कुछ सुन नहीं पड़ता? कान के जो बड़े बड़े छेद हैं, तो क्या व्यर्थ हैं? तब इनके दिखाने से क्या फायदा?—ऐसा कहकर उसने दो लकड़ियाँ लेकर दोनों कानों में ठाक दीं। उससे मेरे कानों में असह्य वेदना हुई; फिर भी मैं चुप रहा। ग्वाल तो चला गया और मैं विहार करता हुआ अपापा नगरी पहुँचा, और भोजन के लिये सिद्धार्थ वणिक के यहां गया। उसने मुझे भक्ति से भोजन कराया; परन्तु मेरे कानों में खुसी हुई लकड़ियाँ देखकर बहुत चकित और दुःखी हुआ। उस समय उसका एक मित्र, जिसका नाम खरक था और जो प्रसिद्ध वैद्य था, वहां आया हुआ था। उसने भी कानों में खुसी हुई लकड़ियाँ देखी, और दोनों उस बारे में विचार करने लगे। इतने में मैं वहां से निकलकर उद्यान में चला आया। पीछे सिद्धार्थ वणिक और खरक वैद्य औषध वगैरह लाकर उद्यान में आए। उनने मुझे एक तेल की कुण्डी में बिठलाया और बलिष्ठ पुरुषों के हाथों से मेरे सारे शरीर में इतने जोर जोर से मालिश करवाया कि हड्डियाँ ढीली ढीली होगईं। पीछे दो मजबूत संडासियाँ लेकर कानों में खुसी हुई लकड़ियाँ जोर से एक साथ खींची। लकड़ियाँ खून में सन गई थीं। इसलिये जब वे खींची गईं तब इतनी भयंकर वेदना हुई कि मेरे मुँह से भयंकर चीत्कार निकल पड़ा। पीछे उन लोगों ने घावों में संरोहिणी औषधि भरी और धीरे धीरे कुछ दिनों में घाव अच्छे हो गये।

मैं समझता हूँ, मैंने जीवन में जितने कठोर उपसर्ग सहे उनमें सबसे कठोर यह उपसर्ग था, और आश्चर्य की बात यह है कि करीब बारह वर्ष तक अहिंसा की कठोर साधना करने के बाद भी इस प्रकार का उपसर्ग हुआ था ! पर अब इस प्रकार के उपसर्गों की परम्परा बन्द करने लायक परिस्थिति निर्माण करना आवश्यक है। और इसका ठीक उपाय यही है कि विशाल संघ की रचना की जाय, जिससे इस ग्वाला सरीखे अबोध से अबोध प्राणियों से लगाकर विद्वान् और बुद्धिमान् कहलाने वाले उच्च से उच्च मनुष्यों को वास्तविक ज्ञान का और सच्ची अहिंसा का दर्शन हो सके। मैं कुछ महीनों के भीतर ही इस विषय की योजना की तरफ अधिक से अधिक ध्यान दूंगा। मेरी अहिंसा की आत्म साधना अब पूरी हो चुकी है, और ज्ञान-साधना में भी नाममात्र की कमी है, जो कि इने-गिने दिनों में पूरी हो जायगी। इसके बाद संघ-रचना का कार्य शुरु किया जायगा।

६६ – गुणस्थान

१८ बुधी ९४४४ इतिहास संवत्—

आज तक मैंने जीवन विकास की जितनी श्रेणियों का अनुभव किया है चिन्तन मनन किया है उन सब का श्रेणी विभाग आज कर डाला, एक तरह से मेरी आत्म साधना पूरी होगई है, अब उसका मार्ग दूसरों के लिये तैयार करना है।

१– संसार के साधारण प्राणी अविवेक और असंयम के शिकार हैं। वे स्वपर कल्याण का मार्ग नहीं देख पाते और न कषाय वासना से पिंड छुडा पाते हैं। ये मिथ्यात्वी प्राणी पहिली कक्षा में हैं। विद्वत्ता प्राप्त कर लेने पर भी, त्यागी मुनि का वेष ले लेने पर भी, बाहर से शान्त दिखने पर भी भीतरी

मलिनता इतनी अधिक हो सकती है कि वे मिथ्यात्वी कहे जास: कते हैं। जिनकी कषाय वासना वर्षों तक स्थायी हो, और जिन्हें कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक न हो, वे मिथ्यात्वी हैं।

२-यह गुणस्थान मुझे कुछ पीछे सूझा। एक प्राणी सचाई पाकर उससे भ्रष्ट भी हो सकता है, और इसके इस पतन का कारण हो सकता है कषाय वासना की तीव्रता। निःसन्देह कषाय की तीव्रता होने पर प्राणी का विवेक या सम्यक्त्व तुरन्त नष्ट होजायगा पर जितने क्षणों तक मिथ्यात्व नहीं आपाया है उतने क्षण की अवस्था यह गुणस्थान है। यह सम्यक्त्व से पतन की अवस्था है, पहिली श्रेणी से उत्क्रांति की अवस्था नहीं। इसलिये इसका नाम मैंने सासादन रक्खा है। आसादान का अर्थ है विराधना, एक तरह का विनाश।

३-यह सम्यक्त्व की ओर झुकी हुई सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच की अवस्था है। यहां कषाय वासना बहुत लम्बी नहीं है पर पूरा विवेक भी नहीं है मिश्रित अवस्था है। इसलिये यह मिश्र गुणस्थान कहलाया।

४—जिसने सम्यक्त्व पालिया, और उसके अनुरूप वह कषाय वासना, जो अनन्त दुर्गति देती है, इसलिये जिसे मैं अनन्तानुबन्धी कषाय कहता हूं, न रही वह सम्यक्त्वी है। जीवन का वास्तविक विकास यहीं से शुरु होता है। पर व्यवहारोपयोगी संयम इसमें नहीं आपाया, आखिर यह विकास का प्रारम्भ ही है इसलिये इसे असंयत सम्यग्दृष्टि कहता हूं।

बाल्यावस्था में मैं इसी गुणस्थान में था। इसके पहिले के तीनों गुणस्थान तो मैं दूसरे प्राणियों की अवस्था के ज्ञान से कहता हूं, मनोवैज्ञानिकता के आधार से कहता हूं। सम्भव है मैं इन अवस्थाओं में से गुजर चुका होऊं पर मुझे उन अवस्थाओं का

स्मरण नहीं होरहा है। अपनी कषायों की मन्दता तो मुझे जन्म-जात मालूम होती है, और शैशव में भी मैं हर बात का जिस ढंग से विचार करता था, उससे मालूम होता है कि मुझमें बीज रूप में विवेक भी जन्मजात है। इसप्रकार कहा जासकता है कि मैं अविरत सम्यक्त्वी तो जन्म से ही हूं। पर इससे क्या? बड़ा से बड़ा महापुरुष जन्म से मिथ्यात्वी होसकता है और पीछे ऊँचे से ऊंचा विकास करके जिन बुद्ध अर्हत बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

५—जब चौथे गुणस्थान की अपेक्षा भी कषाय वासना और मन्द होजाय, व्यवहारोपयोगी संयम भी जीवन में दिखाई देने लगे, पापों से पूर्ण विरति तो नहीं, पर देशविरति होजाय तब देशविरति नाम का पांचवां गुणस्थान होगा। इस गुणस्थान में परिग्रह का परिमाण तो है, वेईमानी नहीं है, पर कौटुम्बिकता जन्म-सम्बन्ध आदि में सीमित है। वह विश्वकुटुम्बी या गुण-कुटुम्बी नहीं है या पर्याप्त मात्रा में नहीं है। एक ईमानदार गृहस्थ जैसा होता है वैसा है।

६—छट्ठी श्रेणी में साधुता है, विश्वकुटुम्बिता या गुण-कुटुम्बिता का भाव है, पर साथ में कुछ प्रमाद है। यद्यपि साधारण लोगों की अपेक्षा यह प्रमाद अल्प है और वह स्थायी भी नहीं है पर है अवश्य।

७—सातवीं श्रेणी में प्रमाद नहीं रहता। इसे अप्रमत्त संयमी या अप्रमत्त विरत कहना चाहिये।

मैं दीक्षा लेने के पहिले भी छट्ठे सातवें गुणस्थान में आचुका था। उसके बाद भी अभी प्रातःकाल तक मैं इन गुण-स्थानों में रहा हूं।

८-९-१०—इसके बाद आज मुझे विकास की कुछ ऐसी अवस्थाओं का अनुभव हुआ है जो बार बार अनुभव में नहीं आती। उनमें कषाय मन्द से मन्दतर होती जाती है। मैं समझता हूं कि अगर मुहूर्तभर भी कोई मनुष्य इन अवस्थाओं में से गुजर जाय तो वह अर्हत होजायगा। हां! मैं यह भी सोचता हूं कि उसके अन्तर्मल अगर सिर्फ शान्त हुए हों नष्ट न हुए हों, तो अन्तर्मल के उभड़ने पर उसका पतन अर्हत होने के पहिले ही होजायगा। इस प्रकार की अपूर्व अवस्थाएँ शांतमल से भी होसकती है, क्षीणमल से भी होसकती है, पहिली में पतन निश्चित है दूसरी में अर्हन्त होना निश्चित है, फिर भी परिणामों की निर्मलता समान है।

यद्यपि वे अवस्थाएँ कषायों के कम होने या छूटने से होती हैं फिर भी प्रारम्भ की अवस्थाओं का नामकरण मैं कषायों की मन्दता के कारण नहीं, किन्तु आनन्दानुभव के कारण करना चाहता हूं। पहिले मुझे इस बात का बड़ा आनन्द हुआ कि यह अवस्था अपूर्व है अनोखी है इसलिये इसका नाम अपूर्वकरण रखता हूं। फिर मैं यह अनुभव करने लगा कि इस अवस्था से नहीं लौटना है इसलिये इसका नाम अनिवृत्तिकरण रखता हूं। इसके बाद मुझे मालूम हुआ कि हलके से लोभ को छोड़कर मेरी सब कषायें नष्ट होगईं इसलिये इसका नाम सूक्ष्ममोह रखता हूं। इसप्रकार ये ८, ९, १०, वें गुणस्थान हैं जो हरएक को नहीं मिल सकते। साधु होने पर भी साधारणतः मनुष्य छट्ठे सातवें गुणस्थान में ही चक्कर लगाते रहते हैं। इसके ऊपर उत्तमध्यानी ही पहुँचते हैं।

११-१२—दसवें गुणस्थान के बाद मैंने अनुभव किया कि मैं पूर्ण वीतराग होगया हूं। पर यह पूर्ण वीतरागता शान्त-मल भी होसकती है और क्षीणमल भी। मेरी वीतरागता क्षीण-

मल है, पर किसी की शांतमल भी होसकती है, पर वह आगे नहीं बढ़ सकता, अुसके विकार उभड़ेंगे और वह असंयम की ओर गिरेगा। इसलिये वर्तमान वीतरागता समान होने पर भी शान्तमलवाले का शांतमोह गुणस्थान, और क्षीणमलवाले का क्षीणमोह गुणस्थान अलग बनाना उचित मालूम होता है। क्योंकि एक से मनुष्य गिरता है दूसरे से चढ़ता है। इस अन्तर के कारण अलग अलग गुणस्थान हैं।

१३-क्षीणमोह होजाने पर मनुष्य को पूर्ण ज्ञान होजाता है। सम्यग्ज्ञान में सब से बड़ी बाधा मोह की है, मोह निकल जाने पर मनुष्य शुद्ध ज्ञानी या केवलज्ञानी होजाता है। सिर्फ थोड़े से ही उपयोग लगाने की जरूरत है। बारहवें गुणस्थान के बाद एकाध घड़ी में ही तेरहवां गुणस्थान होजाता है। यहां पूर्ण निर्मोहता भी है पूर्ण ज्ञान भी है। इस गुणस्थानवाला जन-हित के काम में लगा रहता है। इसलिये मनवचन काय की प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है, पर होती है निर्मल। मनवचन काय की इस प्रवृत्ति का नाम मैं योग रखना चाहता हूं इस-प्रकार तेरहवां गुणस्थान सयोग केवली कहलाया।

१४--तेरहवें गुणस्थान में अर्हत-जीवन भर रहता है, वह जनहित के काम में लगा रहता है। जनहित के लिये जन-हित के विरोधियों से संघर्ष करना पड़ता है, यद्यपि इस संघर्ष की कोई कषाय वासना उसके आत्मा में नहीं रहती किन्तु वासना-हीन क्षणिक तरंगें तो उठती ही हैं, अुसके आत्मा पर राग द्वेष का रंग नहीं चढ़ता पर अुसकी छाया तो पड़ती ही है, इसे मैं कषाय नहीं कहूंगा योग कहूंगा, या शुभ लेश्या कहूंगा पर यह अर्हत में भी अनिवार्य है, क्योंकि उसे जनसेवा करना है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि आत्मा की एक ऐसी अवस्था भी होसकती है जब उसमें यह लेश्या भी न हो, छाया भी न हो

यह अवस्था और भी शुद्ध अवस्था होगी। पर सोचता हूं कि यह अवस्था मरने के समय कुछ पलों को ही होसकती है उसके पहिले जीवन में नहीं। होना भी न चाहिये, क्योंकि अर्हत् की यदि मनवचन कार्य की प्रवृत्ति बन्द होजाय तो वह बेकार होजाय, उसका जीवन दस पांच पल से अधिक टिकना भी कठिन होजाय। इसलिये मैं आदर्श की दृष्टि से कुछ पलों के लिये मनवचन कार्य की प्रवृत्तियों से रहित अवस्था तो मान लेता हूं, पर मान लेता हूं केवल मरते समय के लिये, कुछ पलों के लिये, बाकी जीवन भर तो अर्हत को काम करना है, जगत् का उद्धार करना है। वह अंतिम अवस्था चौदहवीं अवस्था-चौदहवां गुणस्थान होगा। उसे अयोग केवली कहना चाहिये।

मैं समझता हूं कि इन चौदह गुणस्थानों की रचना करके मैंने जीवन विकास का एक अच्छा क्रम निश्चित कर लिया है। इसी क्रम विकास के आधार पर मुझे दुनिया का उद्धार करना है

६७—केवलज्ञान

१६ बुधी ९४४९ इ. सं.

सामाजिक और धार्मिक क्रांतिकार को तेरहवें गुणस्थान में अवश्य होना चाहिये जब कि उसमें पूर्ण संयम के साथ पूर्ण ज्ञान, जिसे मैं केवलज्ञान कहता हूं, होजाय। मैं अनुभव करता हूं कि मुझे वह केवलज्ञान होगया है। मुझे कर्तव्याकर्तव्य का हित अहित का प्रत्यक्ष दर्शन होरहा है। इसके लिये अब मुझे किसी शास्त्र की या आप्त की जरूरत नहीं है।

यदि मैं दुनिया को एक नये सत्पथ पर चलाना चाहता हूं तो मुझे घोषित करना चाहिये कि मैं सर्वज्ञ हूं; अर्थात्-स्वपर कल्याण के मार्ग का मैं पूर्ण ज्ञाता हूं; मैं आगे पीछे का, भूत भविष्य का कार्य कारण भाव का प्रत्यक्षदर्शी अर्थात्-स्पष्ट

ज्ञाता हूं।

क्षणभर को मेरे मन में यह विचार आया कि यह तो आत्मश्लाघा है, इसे तो पाप समझता हूं। पर दूसरे ही क्षण मुझे भान हुआ कि यह आत्मश्लाघा नहीं है किन्तु विश्व के कल्याण के लिये आवश्यक सत्य का प्रकटीकरण है।

अगर कोई सद्वैद्य रोगी से यह कहे कि मैं तो कुछ नहीं जानता समझता, तो इससे वैद्य के विनय गुण का परिचय तो मिलेगा पर क्या इससे रोगी का भला होगा? वैद्य के विषय में रोगी को श्रद्धा न हो तो एक तो वह चिकित्सा ही न कराये और अगर कराये भी, तो उसे लाभ न हो। ऐसी अवस्था में वैद्य अगर इतनी आत्म प्रशंसा कर जाय जिससे रोगी की हानि न हो किन्तु लाभ ही हो, तो वह आत्म प्रशंसा क्षन्तव्य ही नहीं है बल्कि आवश्यक भी है। हां! लोभवश रोगी को ठगने के लिये आत्म-प्रशंसा न करना चाहिये।

जन समाज के जीवन का जो मैं सुधार और विकास करना चाहता हूं, उसमें सहारे के तौर पर जो मैं दर्शन लोक परलोक आदि की बातें सुनाना चाहता हूं उसके पूर्ण ज्ञाता होने का विश्वास अगर मैं न दिला सकूं तो लोग उस पथ पर कैसे चलेंगे? तब यह जगत् नरक सा बना रहेगा इसलिये तीर्थंकर सर्वज्ञ जिन अर्हत के रूप में मेरी प्रसिद्धि हो तो इसमें मैं बाधा न डालूंगा।

एक प्रकार से यह सब झूठ नहीं है। मैं जब तीर्थ की स्थापना कर रहा हूं तब तीर्थंकर हूं ही। कल्याण मार्ग का मुझे अनुभव मूलक, स्पष्ट और पूर्ण ज्ञान है इसलिये सर्वज्ञ भी हूं। मन और इन्द्रियों को जीतने के कारण जिन भी हूं ही, और मेरी राह पर जब लोग चलते हैं और निस्वार्थभाव से जब मुझे पूज्य मानते हैं तब अर्हत भी हूं। इसलिये इस रूप में मेरी प्रसिद्धि होना हर

तरह सत्य है। जो कल्याण की दृष्टि से सत्य है और वस्तुस्थिति की दृष्टि से भी सत्य है।

एक बात और है। मेरे तीर्थ में सचाई का ज्ञान से इतना सम्बन्ध नहीं है जितना निर्मोहता से। छट्ठे गुणस्थान में मनुष्य सत्य महाव्रती होजाता है, हालां कि वस्तुस्थिति की दृष्टि से उसका थोड़ा बहुत ज्ञान असत्य भी होसकता है। निर्मोह या वीतराग होने से मनुष्य सम्यग्ज्ञानी माना जाना चाहिये। यों पूर्ण सत्य को कौन पासकता है, वस्तु तो अमुक अंश में अज्ञेय है, अवक्तव्य है।

यद्यपि बाहरी दृष्टि से बहुतसी बातों का ठीक ठीक पता केवलज्ञानी को भी नहीं होता, क्योंकि वह तो मोक्षमार्ग का या तत्वों का सर्वज्ञ है तत्वग्राह्य विषयों का सर्वज्ञ नहीं। इसीलिये मैं मानता हूं कि छट्ठे गुणस्थान में मनुष्य असत्य का पूर्ण त्यागी होजाता है पर असत्य मनोयोग और असत्य वचन योग तो तेरहवें गुणस्थान में भी होसकता है। गुणस्थान की इस चर्चा में मैं इस रहस्य को प्रगट कर दूंगा। पर इसमें एक बाधा है। जब लोग यह मानेंगे कि तेरहवें गुणस्थान में भी असत्य मनोयोग और असत्य वचन योग होता है, और मैं तेरहवें गुणस्थान में हूं तब लोगों को मेरे वचनों में सन्देह होगा, और इससे बेचारे आत्मकल्याण से वञ्चित हो जायँगे। यह ठीक नहीं। ऐसी बात जगत् के सामने रखने का कोई अर्थ नहीं जिससे कल्याण के मार्ग में बाधा पड़ती हो। इसलिये असत्य मनोयोग और असत्यवचन योग अर्हन्त को होते हैं इस बात को छिपाना ही उचित है। यही विधान ठीक है कि असत्य मनोयोग और असत्य वचनयोग बारहवें गुणस्थान तक ही होते हैं।

इस विधान से इस बात का पता तो लगजायगा कि असत्य मन वचन के उपयोग से सत्यमहाव्रत भंग नहीं होता है,

वह भंग होता है स्वार्थपरता से, कषाय से, पक्षपात से। क्षीण-कषाय व्यक्ति भी असत्य मनोयोगी और असत्य वचनयोगी होसकता है पर इससे वह अज्ञानी अर्थात् मिथ्याज्ञानी नहीं कहा जासकता। चरित्र के विषय का मिथ्याज्ञान ही मिथ्याज्ञान है। और चरित्र के विषय का मिथ्या विश्वास ही मिथ्या दर्शन है। तत्व-बाह्य पदार्थों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। इतना सत्य देकर भी तेरहवें गुणस्थान में असत्य वचनयोग असत्य मनोयोग की बात पर पर्दा डालने से लोग धर्म पर अविश्वास करने से बचे रहेंगे।

यह रहस्य भी साधारण जनता को बताने का नहीं है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा में कुछ रहस्य रखना उचित ही है। अन्यथा चिकित्सा व्यर्थ जायगी।

अस्तु! एक तरह से आज मेरी आत्मसाधना पूरी होगई। आज से मैं अपने को केवलज्ञानी तीर्थंकर जिन अर्हन्त बुद्ध घोषित कर दूंगा या करने दूंगा। इस विषय में मैंने अपनी मनोवृत्तियों को खूब टटोला है। उनमें यश लूटने का या अकल्याणकर महत्वाकांक्षा का पाप कहीं नहीं है। महत्व स्वीकार करने की जो भावना है वह सिर्फ जगत्कल्याण की दृष्टि से, जगत् को सत्य के मार्ग पर चलाने की दृष्टि से। उसपर भी आवश्यक उपेक्षा है, शिष्टता की मर्यादा भी है।

६८-लोकसंग्रह के लिये

१४ तुपी ९४४४ इतिहास संवत्

जो सत्य मैं ढूंढ पाया हूँ, जिसे पाकर मैं केवलज्ञानी होगया हूं, उस सत्य का यथाशक्य लाभ जगत् को मिले इसका प्रयत्न करना है। पर यह सरल नहीं है, यह बात प्रथम प्रवचन से सिद्ध होगई थी।

उस दिन जब मैं प्रवचन करने बैठा तो सुनने के लिये बहुत से मनुष्य इकट्ठे होगये। मैंने अपने धर्मतीर्थ का निचोड़ अनेकांत सिद्धांत का विवेचन किया पर सबके सब मूर्ति की तरह बैठ रहे। उन्हें मेरी बात समझमें न आई इसलिये उनने मुझे महान ज्ञानी तो मान लिया पर इससे उनका कुछ लाभ न हुआ।

इसके बाद अनेक स्थानों पर मैंने और प्रवचन किये पर उनका कोई अर्थ न हुआ। वाणी जैसी खिरी वैसी न खिरी, क्योंकि झेली किसी ने नहीं।

हां! यह बात अवश्य है कि लोग मेरे पास आते हैं, समझमें आये चाहे न आये पर सुनते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि पिछले बारह वर्ष मैं इस प्रदेश में खूब घूमा हूं पर एक तरह से मौन ही रक्खा है। उपदेश का काम नहीं किया। अब मेरा मौन टूटा देखकर, मुझे उपदेश देता हुआ देखकर, बहुत से लोग कुतूहल से आते हैं। आने का दूसरा कारण है मेरी भाषा। ब्राह्मण तो वेद सुनाते हैं पर उसकी भाषा लोग समझते नहीं है। मैं ऐसी भाषा बोलता हूं जिसे सब समझें। सरल से सरल ग्रामीण मागधी में ही उपदेश करता हूं। उसमें आसपास के प्रदेशों के जो शब्द मिलगये हैं उनका भी प्रयोग करता हूं इससे दूसरे प्रदेशों के लोगों को समझने के लिये भी सुभीता होता है। इसप्रकार मैंने अपने उपदेश देने की भाषा शुद्ध मागधी नहीं, अर्धमागधी बनाली है।

फिर भी मैं जो काम करना चाहता हूं वह इस तरह न होगा। लोगों का केवल कुतूहल शान्त होगा, जीवन में क्रांति नहीं। मुझे लोगों के अन्धविश्वास हटाना है, हिंसा बंद करना है धर्मों में और दर्शनों में समन्वय करना है, और सब से बड़ी बात यह कि लोगों को यह बताना है कि तुम्हारा सुख तुम्हारी

मुट्ठी में है। धन वैभव में, परिग्रह में, असली सुख देखने की चेष्टा करोगे तो असफल रहोगे। असली सुख अपने भीतर है।

पर यह सत्य जो मैं जगत् को देना चाहता हूं वह केवल प्रवचनों से न होगा। उसके लिये अनेक तरह की ऐसी योजनाएँ करना पड़ेंगी जिससे लोग कल्याण मार्ग पर विश्वास कर सकें अच्छी तरह समझसकें, आचरण कर सकें। इसके लिये एक नया तीर्थ बनाना, और उसकी तरफ लोगों का आकर्षण करना जरूरी है।

क्षणभर को यह विचार मनमें आया कि क्या इससे झंझटें न बढ़ेंगी? क्या अशांति न होगी। क्या यह यशपूजा का व्यापार न होगा? क्या इसमें एक तरह की आत्मश्लाघा न करना पड़ेगी?

निःसन्देह अवीतराग मनुष्य में ये सब बातें होती हैं। पर मुझमें ये विकार नहीं हैं। निरिच्छकता से, योग्य नट की तरह निर्लिप्तभाव से काम करने से झंझटें नहीं बढ़तीं अर्थात् झंझटें मनके ऊपर असर नहीं करतीं, दुखी नहीं करतीं, तब अशांति कैसे होगी? और यश पूजा आदि की मुझे चिन्ता नहीं है। जगत की सेवा करने से और सफलता प्राप्त करने से यश-पूजा मिलती है। मिलना भी चाहिये, क्योंकि इससे अन्य मनुष्य भी जगत्सेवा की तरफ झुकते हैं। यशपूजा देकर जगत सच्चे उपकारकों का बदला उतना नहीं चुकाता जितना नये उपकारक पैदा करने के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। सो जगत अपना मार्ग प्रशस्त करे, मैं यश प्रतिष्ठा का दास न बनूंगा।

जो सत्य मैंने पाया है वह जगत् के कल्याण के लिये जगत को देना है। अगर अज्ञान के कारण मनुष्य उसे अस्वीकार करे, ईर्ष्या के कारण द्वेष करे, निन्दा करे और असत्य के

बदले में पूजा प्रतिष्ठा के प्रलोभन उपस्थित करे तो मैं अुसे अस्वीकार कर दूंगा. और यही इस बात की कसौटी होगी कि मैं यशपूजा के व्यापार के लिये नहीं निकला हूं। अपने विषय में आवश्यक सत्य का उल्लेख करना आत्मश्लाघा नहीं है। फिर भी जो यश पूजा या आत्मश्लाघा का प्रदर्शन होगा भी, वह केवल इसलिये कि साधारण जन सत्य की तरफ आकृष्ट हों। ज्ञानियों को तो आकर्षण के लिये ज्ञान ही पर्याप्त है पर साधारण जनता बाहरी प्रभाव यश प्रतिष्ठा आदि से ही आकृष्ट होती है। जब मुझे जन साधारण का भी भला करना है तब इन सब बातों को लेना होगा। निस्वार्थभाव से यह सब मुझे करना ही चाहिये। इसके लिये मेरी निम्नलिखित योजना है।

१- पहिले कुछ विद्वानों को अपना शिष्य बनाऊं। विद्वानों के शिष्य होने से केवल प्रभाव ही न बढ़ेगा किन्तु सत्य को पाने से अुनका अुद्धार भी होगा और प्रचार में सुविधा भी होगी।

२- तीर्थ में शामिल होनेवालों का व्यवस्थित संगठन करूं? और चार संघ की संघटना करूं।

३- ज्ञान का प्रचार मैं करूं पर संगठन में लाने का काम शिष्यों को सौंपूं। क्योंकि इस विषय में मेरी अपेक्षा मेरे शिष्यों का असर अधिक पड़ेगा। जगत् की मनोवृत्ति ही ऐसी है।

४- आने जाने में प्रवचन करने में कुछ प्रभावकता का परिचय दूं जिससे जन साधारण पर मेरे तीर्थ की छाप पड़े। क्योंकि जन साधारण तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिये जैसे मैंने जनसाधारण की बोली-अर्धमागधी-को अपनाया उसी तरह जनसाधारण की मनोवृत्ति के अनुसार प्रभावकता के

तरीके को भी अपनाना पड़ेगा।

५- वेदों की तरह अपने प्रवचनों का संग्रह कराना। मैं न रहूं किन्तु मेरे प्रवचन व्यवस्थित रूप में रहें तो जगत् शताब्दियों तक उनसे प्रेरणा पाता रहेगा। इसलिये प्रवचनपाठी भी तैयार करना है।

पर सबसे पहिला काम शिष्यों को ढूँढ़ना है।

६९ - मुख्य शिष्य

१८ टुंगी ९४४४ इतिहास संवत्

इन दिनों धर्मतीर्थ की सबसे बड़ी आवश्यकता पूर्ण होगई। मुझे ग्यारह विद्वान शिष्य मिलगये! और आश्चर्य यह कि सब के सब ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के विरुद्ध क्रांति करने में ब्राह्मणों का सहयोग शुभतम शकुन है। इन लोगों को सैकड़ों वर्षों से अपनी जीभ पर वेदों को सुरक्षित रखने का अभ्यास है, अब उस शक्ति का उपयोग वे मेरे प्रवचनों को सुरक्षित रखने में करेंगे। आजकल ब्राह्मणों का झुकाव नवीन सर्जन या क्रांति की तरफ तो नहीं जाता पर सृजित को सुरक्षित रखने, व्यवस्थित रखने, उसे फैलाने और स्थायी बनाने में पर्याप्त है। सर्जन की अपेक्षा इसका महत्व कम नहीं है। मां की अपेक्षा धात्री की सेवा कम नहीं होती या इतनी कम नहीं होती कि उसपर उपेक्षा की जाय।

ये ब्राह्मण मेरे तीर्थ के लिये सहायक तो हैं ही, साथ ही एक महान सुरहस्य को प्राप्त करके और जीवन में निःसंशय वृत्ति पैदा करके इनने अपना कल्याण भी किया है। इसप्रकार इनके जीवन की क्रान्ति स्वपर कल्याणमय होगई है।

ये लोग इस अपापा नगरी के सोमिल ब्राह्मण के यहां

यज्ञ कराने लिये आये थे। मैंने अपने प्रवचन में वर्तमान यज्ञों की आलोचना की। मैंने देखा कि जनता को यह रुचिकर हुई, इसलिये कुछ और लोग मेरे पास आये। लोगों का प्रवाह इस तरफ बदलता हुआ देखकर इन्द्रभूति गौतम को बड़ा संताप हुआ। तब वह मुझे पराजित करने के विचार से मेरे पास आया। और बोला-श्रमण, मैंने सुना है कि तुम यज्ञों का विरोध करते हो, और जनता को भी धर्म से विमुख करते हो।

मैं-धर्म तो धारण पोषण करनेवाला है, पर क्या इन हत्याकांडों से धारण पोषण होता है? निरीह जानवर तो जान से जाते ही हैं पर कृषिके काम में भी इससे बाधा पड़ती है। क्या यही धर्म है, क्या यही धारण पोषण है?

गौतम-जानवर जान से जाते हैं पर स्वर्ग तो पाते हैं। वास्तव में यह उनका पोषण ही है। और ऐसा पोषण है जो उन्हें इस जीवन में नहीं मिलसकता।

मैं-तो ऐसा पोषण खुद न लेकर जानवरों को क्यों दिया जाता है? यज्ञकर्ता और पुरोहित को चाहिये कि पहिले स्वयं यज्ञमें अपनी और अपने कुटुम्बियों की आहुति दें। जब उनके स्वर्ग चले जाने पर भी स्वर्ग में जगह खाली रहे तो जानवरों को बुलालें।

गौतम ने कुछ न कहा।

तब मैंने कहा-क्या तुम जानते हो गौतम, कि लोग ऐसा क्यों नहीं करते हैं?

गौतम-मैं इसका उत्तर नहीं देसकता। आप ही बतायें।

मैं-इसलिये कि न तो इन्हें स्वर्ग पर विश्वास है न आत्मा के अमरत्व पर।

गौतम-आत्मा के अमरत्व पर तो मुझे भी सन्देह है।

म-सो मैं जानता हूं। आत्मा के अमरत्व पर थोड़ा बहुत अविश्वास हुए बिना कोई इसप्रकार के पाप में नहीं फस सकता।

गौतम-पर आत्मा पर विश्वास किया जाय तो कैसे किया जाय। मरने पर सब तो यहीं राख होजाता है। बचता क्या है जिसे अमर कहा जाय ?

मैं-यह जाननेवाला अनुभव करनेवाला; सन्देह करनेवाला कौन है ?

गौतम-यह तो पंचभूतों के मिश्रण से पैदा होनेवाली अवस्था विशेष है। अलग अलग भूतों में जो गुण दिखाई नहीं देता वह मिश्रण में दिखाई दे जाता है। मद्य में जो मादकता है वह उसके भिन्न भिन्न घटकों में कहां है ?

मैं-है पर अल्प है। भोजन का भी नशा होता है, निद्रा भी एक नशा है पर अल्प है। परस्पर के संयोग से वह वर्गाकार रूपमें बढ़ता है पर असत् का उत्पाद नहीं है। दर्शन शास्त्र का यह मूल सिद्धान्त तो सर्वमान्य है कि सत् का विनाश नहीं होता असत् का उत्पाद नहीं होता। यह तो तुम भी मानते होगे गौतम !

गौतम-जी हां ! यह मैं मानता हूं।

मैं-जब कोई द्रव्य पैदा नहीं होता तब कोई गुण भी पैदा नहीं होता। गुणों का समुदाय ही तो द्रव्य है। गुणों की पर्यायें बदल सकती हैं, बदलती हैं पर नया गुण नहीं आता।

गौतम-आपकी बात कुछ कुछ जच तो रही है।

मैं-अच्छी तरह विचार करने पर पूरी तरह जचजायगी। तुम जरा सोचो कि कोई भी भूत द्रव्य क्या कभी यह अनुभव कर सकता है कि 'मैं हूं, और 'मैं हूं, इस अनुभव के क्या तुम टुकड़े टुकड़े कर सकते हो कि 'मैं हूं, अनुभव का एक टुकड़ा

पृथ्वी अनुभव करे, एक टुकड़ा जल अनुभव करे, इसी प्रकार एक एक टुकड़ा अग्नि वायु आकाश अनुभव करे? क्या अनुभव के टुकड़े सम्भव हैं?

गौतम-अनुभव के टुकड़े कैसे होसकते हैं?

महावीर-तब इसका मतलब यह हुआ कि किसी एक द्रव्य को ही यह अनुभव करना पड़ता है कि 'मैं हूं,' तब पंच भूतों में वह कौनसा एक भूत है जो अनुभव करता है कि मैं हूं।

गौतम-कोई एक भूत ऐसा अनुभव कैसे कर सकता है?

मैं—तब इसका मतलब यह हुआ कि भूतों से अतिरिक्त कोई द्रव्य ऐसा है जो यह अनुभव करता है।

गौतम-अब यह बात तो मानना ही पड़ेगी?

मैं—जब 'मैं हूं, इसप्रकार अनुभव करनेवाला एक स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध होगया तब उसका न तो उत्पाद हो सकता है, न नाश। क्योंकि असत् से सत् बन नहीं सकता, और सत् का विनाश नहीं हो सकता। उस स्वतन्त्र द्रव्य का नाम ही आत्मा है, जीव है।

गौतम ने हाथ जोड़कर कहा-आपने मेरे सब से बड़े संशय को नष्ट कर दिया प्रभु। अब आप मुझे अपना शिष्य समझें।

इतने में इन्द्रभूति के छोटे भाई अग्निभूति ने कहा—अविनश्वर आत्मा के सिद्ध होजाने पर भी यह बात समझ में नहीं आती कि आत्मा बँधा किससे है? अमूर्त्तिक अमूर्त्तिक से बंध नहीं सकता और मूर्त्तिक अमूर्त्तिक का बन्ध भी कैसे होसकता है?

मैंने कहा-दिव्य दृष्टि को प्राप्त हुए बिना तुम उन कमब-

धनों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते अग्निभूति, जिनसे यह आत्मा बंधा है, पर अनुमान भी कम विश्वसनीय नहीं होता, क्योंकि वह निश्चित तर्क पर खड़ा होता है, और उस अनुमान से तुम सरलता से जान सकते हो कि आत्मा कर्मबन्धनों से बंधा है। तुम्हारे सन्देह के दो रूप हैं। एक तो यह कि आत्मा बंधा है इसका क्या प्रमाण? दूसरा यह कि अमूर्त्तिक पर मूर्त्तिक का प्रभाव कैसे पड़ सकता है? पहिले पहिली बात लूं। यह बात तो निश्चित है कि बिना कारण-भेद के कार्यभेद नहीं होता। इस बात को सिद्ध करने की तो जरूरत नहीं?

अग्निभूति-जी नहीं। यह तो सर्वमान्य सिद्धांत है।

मैं—तब तुम यह तो देख ही रहे हो कि सब प्राणी एक समान नहीं है। इस विषमता का कारण कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जो आत्मा से भिन्न हो। मूल में सब जीव समान हैं इसलिये जीव से भिन्न कोई पदार्थ मिले बिना उनमें विषमता नहीं आसकती और जीव से भिन्न जो पदार्थ जीव के साथ लगा हुआ है वही कर्म-बन्धन है। इस अकाट्य अनुमान के सामने कर्म बन्धन में सन्देह कैसे रह सकता है?

अग्निभूति-वास्तव में नहीं रह सकता। फिर भी इतना सन्देह तो है ही, कि अमूर्त्तिक पदार्थ के ऊपर मूर्त्तिक का प्रभाव कैसे पड़ सकता है?

मैं-अमूर्तिक में रूप नहीं होता इसलिये उसपर क्या प्रभाव पड़ा क्या नहीं पड़ा यह दिख नहीं सकता, किंतु अमूर्तिक के गुणों का हमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो है ही, यदि उन गुणों पर भौतिक के प्रभाव का पता लगजाय तब यह समझने में कोई बाधा न रहेगी कि मूर्तिक द्रव्य का अमूर्तिक गुणों पर प्रभाव पड़ता है।

अग्निभूति-जी हां! निर्णय का यह तरीका बिलकुल

ठीक है।

मैं—तब देखो! क्रोध मान आदि या स्मृति आदि अमूर्तिक आत्मा के गुण या पर्यायें हैं, और उनके ऊपर मूर्तिक का असर होता है। किसी मूर्तिक पदार्थ को देखकर स्मृति होजाती है या क्रोध मान आदि पैदा होजाते हैं। इतना ही नहीं, मद्यपान आदि से अनेक विपरिणतियाँ होने लगती हैं इससे सिद्ध है कि आत्मिक गुणों पर भौतिक पदार्थ या उनके गुण प्रभाव डालते हैं तब कर्म भी प्रभाव डालते हों इसमें क्या आपत्ति है?

अग्निभूति-अद्भुत है प्रभु आपका तर्क! अभूतपूर्व है प्रभु आपका तर्क! मेरा सन्देह दूर होगया। अब आप मुझे अपना शिष्य समझें।

इतने में वायुभुति ने कहा-मैं आर्य इन्द्रभूति अग्निभूति का भाई हूं प्रभु, मुझे भी आप अपना शिष्य समझें।

मेरा सन्देह तो दोनों आर्यों के सन्देह के साथ ही दूर होगया। मैं समझता था कि आत्मा तो शरीर के भीतर पैदा होने वाला एक बुलबुला है जो पैदा होता है और नष्ट होजाता है। पर जब प्रभु ने सत्तर्क के द्वारा आत्मा सिद्ध कर दिया तब बुलबुले का अनुमान स्वयं मिथ्या होगया।

इसके बाद व्यक्त ने कहा—परन्तु प्रभु, अभी मेरा समाधान शेष है। आत्मा पंचभूतों से भिन्न है या अभिन्न यह प्रश्न मेरे सामने नहीं है। मैं कहता हूं यह सब शून्य है, कल्पना है, स्वप्न है।

मैंने कहा—व्यक्त, अगर तुम्हें कभी ऐसा स्वप्न आये कि तुम्हारे घर में आग लग गई है और घर जलकर राख होगया है तब भी तुम उसघर में पड़े पड़े स्वप्न देखसकते हो, लेकिन जागृतावस्था में तुम देखो कि घर जलकर राख होगया है तब

भी क्या तुम घर में पड़े रह सकते हो ?

व्यक्त-सो कैसे होगा प्रभु !

मैं-जब स्वप्न भी कल्पना है और जागृतावस्था की घटना भी कल्पना है तब इतना अन्तर क्यों होना चाहिये ? अगर अन्तर है तो वह अन्तर असत और सत के सिवाय और क्या है ?

व्यक्त—मेरा सन्देह कुछ कुछ दूर हो रहा है प्रभु ।

मैं-पूरा दूर होजायगा व्यक्त, तनिक और विचार करो कि जब सारे अनुभव कल्पना हैं, निराधार हैं, तो सब को एक सरीखे अनुभव क्यों नहीं होते ? सब प्राणियों के भिन्न भिन्न अनुभव क्यों होते हैं ?

व्यक्त-निमित्त उपादान भिन्न भिन्न होने से अनुभव भी भिन्न भिन्न होते हैं प्रभु !

मैं—पर जब सब निमित्त कल्पना हैं, सारे उपादान कल्पना हैं, तब इन निमित्तों और अुपादानों में भेद कैसे हुआ व्यक्त ! सत का अवलम्बन लिये विना असत भी भिन्न भिन्न कैसे होगा ?

व्यक्त-नहीं होगा प्रभु कहीं न कहीं सत् का अवलम्बन लेना ही होगा । अब मेरा सन्देह पूरी तरह दूर हो गया । अब प्रभु मुझे अपना शिष्य समझें ।

इसके बाद सुधर्म ने कहा मैं आर्य व्यक्त का भाई हूं । प्रभु मुझे सत् असत् या जीव के विषय में कोई सन्देह नहीं है । पर यह मेरी समझ में नहीं आता कि एक जीव मरकर दूसरी योनि में कैसे पैदा होसकता है ? अगर यव के बीज से व्रीहि (धान) नहीं पैदा होसकता तो मनुष्य का आत्मा पशु या पशु

का आत्मा मनुष्य कैसे बन सकता है। तब कर्म फल के रूप में दुर्गति सुगति का क्या अर्थ है ?

मैं—क्या तुम यह समझते हो सुधर्म, कि यव का कण जब उदर में पचकर विष्ठा बनकर मिट्टी होजायगा तब उससे फिर यव का दाना ही बनेगा, व्रीहि का दाना न बन सकेगा ?

सुधर्म-मिट्टी तो जो चाहे बन सकती है पर यव के दाने से व्रीहि का दाना नहीं बनसकता।

मैं—आत्मा के बारे में भी ऐसा ही है सुधर्म, मनुष्य की योनि से पशु पैदा नहीं होता, पर जैसे यव और व्रीहि का उपादान कारण मिट्टी है वह किसी भी धान्य रूप में परिणत होसकती है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर से भी पशु पैदा नहीं होता, पर मनुष्य का आत्मा पशु के शरीर के निमित्त से पशु बन सकता है। यदि ऐसा न होता सुधर्म, तो संसार में मनुष्यों की कीटपंतगों की वनस्पतियों की संख्या सदा एक सरीखी रहती, ऋतु या युग के अनुसार इनमें न्यूनाधिकता न होती।

सुधर्म-अब मैं समझगया प्रभु ! अब आप मुझे अपना शिष्य समझें।

इसके बाद मंडिक ने कहा-संसार में ऐसी कोई जगह नहीं है जो खाली कही जा सके, तब जीव जहां भी कहीं रहेगा वह भौतिक परमाणुओं से बँधा हीं रहेगा तब मोक्ष कैसे होगा ?

मैंने कहा-आसपास भौतिक परमाणुओं के रहने पर भी मोक्ष होसकता है मंडिक, अगर उनका असर आत्मा पर न पड़े तो आसपास उनके रहने पर भी मोक्ष में कोई बाधा नहीं है। एक सराग मनुष्य जिस परिस्थिति में काफी दुःखी होसकता है उसी में वीतराग मनुष्य परमानन्द में लीन रह सकता है। जिस परिस्थिति में सराग बद्ध है उसी में वीतराग मुक्त है

मुक्ति का सम्बन्ध तो आत्मा की शुद्धता है।

मँडिक-समझगया प्रभु, अब आप मुझे अपना शिष्य समझें।

इसके बाद मौर्यपुत्र ने कहा-मैं आर्य मन्डिक का भाई हूं प्रभु। हम दोनों के पिता यद्यपि जुदे जुदे हैं पर माता एक है। आर्यमंडिक के पिता श्री धनदेव का जब स्वर्गवास होगया तब उनकी और मेरी माता विजयादेवी ने विधवा होने पर धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य से विवाह किया। उस विवाह से मैं पैदा हुआ। इस प्रकार हम सवीर्य भ्राता न होने पर भी सहोदर भ्राता अवश्य हैं।

मैं-जन्म को कोई महत्व नहीं है मौर्यपुत्र, ज्ञान को महत्व है। सो जब तुम दोनों मेरे शिष्य होजाओगे तब ज्ञान की दृष्टि से सवीर्य भ्राता भी होजाओगे।

मौर्यपुत्र-ऐसा ही होगा प्रभु, केवल मेरी एक शंका है कि मुझे देव गति समझमें नहीं आती। विशेष कार्य से किसी मनुष्य या मनुष्य समुदायको देव कहना यह तो ठीक है पर मरने के बाद कोई देवगति होती है इस पर कैसे विश्वास किया जाय?

मैं-अमुक अंश में तुम्हारा कहना ठीक है मौर्यपुत्र, व्यवहार में मनुष्यों को ही देव कहा जाता है। पर देवगति भी है और तुम उसे समझ भी सकते हो।

मौर्यपुत्र-समझायें प्रभु, मैं समझने को तैयार हूं।

मैं-यह तो तुम समझते ही हो कि बीज की अपेक्षा वृक्ष महान होता है।

मौर्यपुत्र-समझता हूं प्रभु।

मैं-तब जो कुछ हम पुण्य करेंगे अर्थात बीज बोयेंगे

उसका फल भी उस त्यागसे महान होगा।

मौर्यपुत्र—अवश्य होगा।

मैं—अब मानलो कि किसी मनुष्य ने ऊंचे से ऊंचे भोगों का त्याग कर दिया, इस लोक में जो भी समृद्धि मिल सकती है वह सब अुसने लोक कल्याण में लगादी, तब उसका बढ़ा हुआ फल यहां तो मिल नहीं सकता क्योंकि यहां मिलने लायक ऊंची से ऊंची सम्पत्ति का तो उसने त्याग कर दिया है, उससे ज्यादा फल मिलने के लिये तो कोई दूसरा लोक ही होना चाहिये। जो ऐसा लोक होगा वही देवगति है।

मौर्यपुत्र- अहाहा! धन्य है प्रभु! अश्रुतपूर्व है प्रभु ऐसा तर्क! आपने कितनी जल्दी मेरी आंखें खोलदीं। औंधे को सीधा कर दिया। अब प्रभु मुझे आप अपना शिष्य समझें।

अकंपित ने कहा- मौर्यपुत्र को दिये गये उत्तर से मेरा भी समाधान होगया प्रभु। मैं सोचता था—देव भले ही होते होंगे परन्तु नरक के नारकी होते हों ऐसा नहीं मालूम होता। सुनते हैं कि देव कभी कभी यहां आते हैं परन्तु नारकी तो कभी आते हुए नहीं सुने गये। इसलिये देव गति को तो मैं किसी तरह मानलेता था पर नरक गति को नहीं मानता था। पर आपके अश्रुतपूर्व तर्क ने वह भी मनवा दिया। जो पुण्यफल यहां नहीं मिलसकता उसके लिये जैसे स्वर्ग की जरूरत है उसी प्रकार जो पापफल यहां नहीं मिलसकता अुसके लिये नरक की जरूरत है। अब आप मुझे भी अपना शिष्य समझें।

इतने में अचल भ्राता ने कहा—मुझे तो यह समझ में नहीं आता कि पुण्यपाप आखिर है क्या? पुण्य का फल अगर सुख है तो जगत में सैकड़ों पुण्यात्मा मारे मारे फिरते हैं और पाप-फल अगर दुख है तो सैकड़ों पापी आराम से रहते हैं। तब

पुण्य पाप कैसे माना जाय ?

मैं-देखो अचलभ्राता, जब कोई वस्तु खाई जाती है तब उसका अच्छा या बुरा परिणाम तुरंत नहीं होता, कुछ समय बाद और कभी कभी वर्षों बाद होता है, यही अवस्था पुण्यपाप की है। इस समय जो पुण्य किया जाता है उसका परिणाम समय पाकर होगा; किन्तु पहिले जो पाप किया गया है उसका परिणाम अभी भोगना पड़ता है। यह पुराने पाप का परिणाम है वर्तमान पुण्य का नहीं। पहिले अपथ्य से पैदा होनेवाली बीमारी लंघन करने पर भी धीरे धीरे जाती है, अर्थात् लंघन करते समय भी कुछ दिनों तक बनी रहती है तो इसका मतलब यह नहीं कि वह बीमारी लंघन से पैदा होरही है। पुण्य-पाप के फल में कभी कम और कभी ज्यादा जो काल का अन्तर पड़ता है उसमें पुण्यपाप-फल के विषय में संशय न करना चाहिये।

अचलभ्राता- अब मैं समझगया प्रभु ! अब आप मुझे भी अपना शिष्य समझें।

इसके बाद मेतार्य ने कहा- मुझे पुण्यपाप के फलमें सन्देह नहीं है पर पुण्यपाप का निर्णय कैसे किया जाय ? एक समय में जो काम अच्छा है दूसरे समय में वही बुरा होजाता है-तब अच्छा क्या और बुरा क्या ?

मैं--किसी कार्य को सदा के लिये अच्छा या बुरा, पुण्य या पाप नहीं कहते मेतार्य, द्रव्य क्षेत्र काल-भाव का विचार करके जो कार्य अच्छा हो, सबको सुखप्रद हो वह पुण्य और जो सबको दुखप्रद हो वह पाप। रूढ़ि से इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि एक को एक समय जो पुण्य हो दूसरे को उस समय या दूसरे समय वही कार्य पाप होजाय। इससे यह न समझना कि पुण्य पाप अनिश्चित हैं। नहीं, वे

निश्चित है, पर उनका निश्चय विवेक से करना पड़ता है, अपने मन के परिणाम, तथा फलाफल का विचार करना पड़ता है। जैसे कभी कोई चीज किसी को पथ्य और किसी को अपथ्य होजाती है इसलिये यह नहीं कह सकते कि पथ्य अपथ्य अनिश्चित हैं उसी प्रकार कोई कार्य किसी को पुण्य और किसी को पाप होजाता है इसलिये पुण्य पाप अनिश्चित नहीं होजाते, विवेक से सदा उनका निश्चय होता है।

मेतार्य-बड़ा अच्छा विश्लेषण किया प्रभु आपने। अब आप मुझे भी अपना शिष्य समझें।

इसके बाद प्रभास ने कहा-मुझे मोक्षप्राप्ति के विषय में ऐसा सन्देह है प्रभु, कि पुण्य से स्वर्ग मिलता है पाप से नरक मिलता है तब मोक्ष किससे मिलेगा ?

मैं-अशुभ परिणति नरक का मार्ग है प्रभास, शुभ परिणति स्वर्ग का मार्ग है, किन्तु मोक्ष के लिये शुद्ध परिणति चाहिये। शुभ परिणति में दूसरों की भलाई तो होती है पर उसमें मोह रहता है और किसी न किसी तरह की स्वार्थ वासना रहती है, शुद्धपरिणति में केवल विश्वहित की दृष्टि से कर्तव्य-भावना रहती है, निष्पक्षता रहती है इसलिये पीछे किसी तरह का दुष्परिणाम या क्लेश नहीं होता। शुभ और शुद्ध परिणति के कार्यों में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता किन्तु उसके मूल में रहनेवाली आशा में द्यावापृथ्वी का अन्तर रहता है। शुभ परिणति से लालसाएँ जागती हैं अन्त में उससे कष्ट भी होता है पर वही कार्य अगर शुद्ध परिणति से किया जाय तो वीतरागता के कारण कोई बुरी प्रतिक्रिया नहीं होती, उससे अनन्त शांति मिलती है।

प्रभास-समझ गया प्रभु, मैं अच्छी तरह समझ गया ! स्वर्ग मोक्ष का भेद भी ध्यान में आगया। अब मैं निःसन्देह हूं।

अब आप मुझे अपना शिष्य समझें।

इसप्रकार आज ये ग्यारह विद्वान मेरे शिष्य होगये हैं। अब सत्य का प्रचार बहुत अच्छे तरीके से होगा। इससे इन विद्वानों का भी उद्धार हुआ और जगत् का भी उद्धार होगा।

७०– साध्वीसंघ

२६ इंगा ९४४४ इतिहास संवत

कल प्रथम पोरसी के बाद चन्दना आई। उसे यह समाचार मिलगया था कि मैंने तीर्थस्थापना का कार्य प्रारम्भ कर दिया है इसलिये वह शतानिक राजा के प्रयत्न से यहां आगई और आते ही उसने दीक्षा लेने की बात कही। आखिर मुझे साध्वी संघ की स्थापना भी तो करनी है, क्योंकि नारी-समाजमें काम करने के लिये साध्वी संघ के बिना काम न चलेगा, तथा नारियों तक मेरा सन्देश पहुँचे बिना क्रांति न होगी। क्योंकि मेरी क्रांति का असर सिर्फ पुरुषों के जीवन या बाहरी जीवन तक ही नहीं होना है किन्तु घर के भीतर तक पहुँचना है तभी अहिंसा का सन्देश सफल होगा। घर के भीतर तो नारीका राज्य है इसलिये वहां तक सन्देश पहुँचना ही चाहिये। इसके लिये साध्वीसंघ तथा श्राविका संघ बनाना होगा।

इसके सिवाय एक बात और है और वह पर्याप्त महत्व की है कि आत्मोद्धार तथा धर्म जैसे पुरुष के लिये आवश्यक है वैसे नारी के लिये भी आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से तथा गृह-व्यवस्था की दृष्टि से नर नारी का कार्यक्षेत्र भले ही भिन्न भिन्न हो परन्तु धर्म आत्मविकास आदि की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों का स्वतन्त्रता से इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसलिये नारी के लिये साध्वी संघ और श्राविका संघ बनाना आवश्यक है। चन्दना सरीखी लड़की से साध्वी संघ

का प्रारम्भ हो रहा है यह बहुत अच्छी बात है, क्योंकि वह हर तरह योग्य है। इस छोटीसी उम्र में ही उसने जीवन के उतार चढ़ाव देखलिये हैं इसलिये साध्वी संघ में वह स्थिरता से रह सकेगी; दूसरों को स्थिर रख सकेगी और साध्वी संघ का संचालन कर सकेगी।

७१ सफल प्रवचन

७ दुंगी ६४४४ इ. सं.

आज प्रातःकाल के प्रवचन में राजग्रह के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे। राजा श्रेणिक थे, राजपुत्र अभयकुमार मेघकुमार नन्दिषेण थे, श्रेष्ठीवर्ग था, सचारीवर्ग भी था। आज का प्रवचन दार्शनिक नहीं था किन्तु धर्मरूप अर्थात् चारित्ररूप था। दर्शनशास्त्र तो इसी चारित्र या धर्म के लिये है। मैंने कहा-

संसार में चार चीजें बहुत दुर्लभ हैं। १-मनुष्यत्व, २-सत्यश्रवण, ३-सत्यश्रद्धा, ४-संयम।

संसार में अनन्त प्राणी दिखाई देरहे हैं उसमें मनुष्य बहुत थोड़े हैं। यह कहना चाहिये कि अनन्त में एकाध प्राणी ही मनुष्य जन्म पापाता है ऐसी हालत में उसकी दुर्लभता का क्या ठिकाना। फिर यह तो मनुष्य शरीर की दुर्लभता हुई। मनुष्य शरीर होने से ही मनुष्यता नहीं आती। मनुष्यता आती है समझदारी से, विवेक से।

बहुत से प्राणी मनुष्य का शरीर पाकर भी समझदारी नहीं पाते, इसप्रकार मनुष्य शरीर पाकर भी मनुष्यत्व उन्हें दुर्लभ रहता है, तुम्हारे लिये यह प्रसन्नता की बात है कि तुमने यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यत्व पालिया है।

पर इतने से भी जीवन सफल नहीं होसकता। जब तक सत्यश्रवण का अवसर न मिले तब तक मनुष्यत्व भी व्यर्थ है।

यों तो मनुष्य को बहुत कुछ सुनने को मिलता है और सुनते सुनते कभी कभी वह ऊब भी जाता है फिर भी सत्य सुनने को नहीं मिलता। सत्य वह है कि जिससे जीवन का या सब जीवों का कल्याण हो। पर किस से कल्याण है किस से अकल्याण, यह बात द्रव्य क्षेत्र कालभाव का विचार किये बिना नहीं जानी जासकती। लोग हर पुरानी चीज को सत्य मान बैठते हैं। तर्क यह रहता है कि वह किसी जमाने में सत्य थी।

पर पहिले तो यह समझना भूल है कि कोई चीज पुरानी होने से सत्य है। दूसरे अगर कोई पुरानी चीज सत्य भी हो तो वह अपने युग के लिये ही सत्य होसकती है हर युग के लिये नहीं। शास्त्रों के बारे में जब तक इस दृष्टि से विचार न किया जाय तब तक उनसे भी सत्य नहीं मिलसकता। ऐसी हालत में सुनने से क्या लाभ।

दूसरी बात यह है कि लोग सत्य को शिवरूप या कल्याण रूप नहीं देखना चाहते, सुन्दर देखना चाहते हैं। यह ऐसी ही चाह है जैसे कोई औषध को स्वादिष्ट रूप चाहे, और स्वादिष्टता से ही औषध की पहिचान करे। इससे अनेक बार भ्रम होता है। इसलिये भी बहुत कुछ सुनने को मिलने पर भी सत्य सुनने को नहीं मिलता। तुम्हारे लिये यह प्रसन्नता की बात है कि तुम्हें सत्य सुनने को मिल रहा है। जो अत्यन्त दुर्लभ है।

पर इतने से ही जीवन की सफलता नहीं है, जब तक सत्य पर श्रद्धा न हो तब तक सत्यश्रवण ऐसा ही है जैसे भोजन तो कर लिया जाय पर पचाया न जाय। श्रद्धा के बिना सत्य को आत्मसात् नहीं किया जासकता। श्रद्धा के बिना ज्ञानका कोई मूल्य नहीं। श्रद्धा होने पर ही यह समझा जासकता है कि जीव ने कल्याण के मार्ग में प्रवेश किया है, विकास की पहिली श्रेणी-पर वह पहुँचगया है। यह श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है। तुम्हें अवसर

मिला है, तुम चाहो तो इस श्रद्धा को पासकते हो।

पर श्रद्धा के बाद भी उससे आगे बढ़ना चाहिये, अर्थात् संयम का पालन करना चाहिये। पहिली तीनों बातों की-मनुष्यत्व, सत्यश्रवण सत्यश्रद्धा-की सार्थकता संयम से ही है। यही वास्तव में धर्म है। सारी शक्ति इसी संयम में लगाना चाहिये।

मुख्य संयम पांच हैं। १ हर तरह की हिंसा का हर तरह त्याग। मनसे वचन से काय से न हिंसा की जाय, न कराई जाय, न उसका अनुमोदन किया जाय।

२-झूठवचन का त्याग। दूसरों का अकल्याण करने वाले वचन न बोलना, न बुलवाना, न अनुमोदन करना।

३-मन से वचन और काय से न परधन का हरण करना, न कराना, न अनुमोदन करना।

४-मन से वचन से कार्य से ब्रह्मचर्य का पालन करना। ब्रह्मचर्यभंग न खुद करना, न कराना, न अनुमोदन करना।

५-मनवचन काय से परिग्रह का त्याग करना। धनधान्यादि परिग्रह न रखना, न रखाना, न रखने का अनुमोदन करना।

इन पांच पापों का पूर्ण त्याग करने से मनुष्य का उद्धार होता है, उसे मोक्ष मिलता है, साथ ही जगत् को भी सुख शांति मिलती है।

इन पांच महाव्रतों के पालन के लिये उच्च श्रेणी के त्याग की जरूरत है, इनका अच्छी तरह पालन श्रमण श्रमणी ही कर सकते हैं। गृहस्थाश्रम में इनका पालन कठिन है, वर्तमान द्रव्य क्षेत्र कालभाव के अनुसार घर में रहकर कोई अपवाद रूप में ही इनका पालन कर सकता है। पर गृहस्थ लोग श्रमणोपासक बनकर अणुव्रत के रूप में इनका पालन कर सकते हैं। वे चलते फिरते जीवों की हिंसा का त्याग कर अहिंसाणुव्रत का

पालन करें, स्थूल झूठ न बोलें, स्थूल चोरी न करें, व्यभिचार न करें, परिग्रह का परिमाण रक्खें। इसप्रकार जो अणुव्रती होगा वह मांस न खायगा, मद्यपान न करेगा। श्रमण न होने पर भी मनुष्य बहुत कुछ संयम का पालन कर सकता है और अपने जीवन को सफल बनासकता है।

मेरे इस प्रवचन का श्रोताओं पर काफी प्रभाव पड़ा। अभयकुमार ने अणुव्रत लिये, सुलसा ने भी अणुव्रत लिये, राजा श्रेणिक ने तथा और भी अनेक लोगों ने श्रद्धा प्रगट की।

८ हुंगी ९४४४ इ. सं.

कल के प्रवचन से प्रेरित होकर राजकुमार मेघ आज श्रमण दीक्षा लेने आया। मालूम हुआ वह माता पिता से विवाद करके अन्त में उन्हें समझाकर अनुमति लेकर आया है। मैंने उसे श्रमण दीक्षा देदी। हां, इसकी मनोवृत्ति सम्हालने के लिये काफी सतर्क रहना पड़ेगा क्योंकि इसका राजकुमारपन इस समभाव के लाने में अड़चन डालेगा जो एक श्रमण के लिये आवश्यक है। खैर! उसकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा मैं कर लूंगा। मेरे प्रवचनों से प्रेरित होकर राजकुमार भी श्रमण बनने लगे यह शुभ शकुन है।

७२ — मनोवैज्ञानिक चिकित्सा

९ हुंगी ९४४८ इतिहास संवत्

श्रमण संघ में कुल जाति का विचार नहीं किया जाता, और न पुराने वैभव का। केवल संयम और ज्ञान का विचार किया जाता है, सत्यप्रचार की उपयोगिता का विचार किया जाता है। मेघकुमार श्रेणिक राजा का पुत्र है पर इसीलिये संघ में उसका स्थान कोई विशेष नहीं होजाता। संघ में इन्द्रभूति आदि उन विद्वानों का स्थान ही बड़ा रहेगा, जिनने अपनी

विद्वत्ता के बलपर सत्य को चारों ओर फैलाने में अधिक से अधिक सहयोग दिया है। फिर उनका त्याग भी कितना महान है! वे लोग सैकड़ों शिष्यों के गुरु थे, और अधिकांश तो उम्र में भी मुझसे ज्यादा हैं। इन्द्रभूति मुझसे वय में आठ वर्ष अधिक हैं, दूसरे भी अनेक गणधर उम्र में मुझसे बड़े हैं फिर भी अपने को मेरा पुत्र समझते हैं, यह त्याग कितना असाधारण है। इस त्याग के आगे राजाओं के त्याग का क्या मूल्य है?

रात में मेघकुमार की बड़बड़ाहट मेरे कान में पड़ी थी। वह कल ही दीक्षित हुआ है इसलिये दीक्षापर्याय में सब से छोटा है इसलिये उसका स्थान भी अन्त में रहा, रात में उसका संथारा सब के अन्त में था। रात में पेशाब वगैरह को हर एक साधु उसके पास से गुजरता था, एक का तो पैर भी उसके पैर में लगगया। साधु को पश्चाताप हुआ, पर मेघकुमार को इससे सन्तोष नहीं हुआ। वह राजकुमार था, इस तरह का अपमान उसने कभी सहा नहीं था। इसलिये अस्पष्ट शब्दों में उसने अपना असंतोष व्यक्त किया।

पर मैं नहीं चाहता था कि मेघकुमार दीक्षा लेकर एक ही दिन में चला जाय। इससे मेघकुमार का जीवन ही कलंकित न होजाता साथ ही संघ की भी अप्रभावना होती तथा दूसरे राजकुमार भी झिझकते।

इसलिये मैंने रात में ही निर्णय किया कि जब मेघकुमार मेरे सामने असन्तोष व्यक्त करेगा, तब मैं उसकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा करके उसे संयम में दृढ़ करूंगा। इससे उसका भी कल्याण होगा और जगत का भी कल्याण होगा।

प्रातःकाल जल्दी से जल्दी मेघकुमार मेरे पास आया। प्रणाम करके नीचा सिर करके बैठ गया।

मैंने कहा–क्यों मेघ, इस जन्म में मनुष्य होकर सत्य-श्रवण करके, उसपर श्रद्धा करके भी संयम का बोझ तुमसे नहीं ढ़ता! एक ही रात में तुम घबरा गये! पर तुम्हें मालूम नहीं है कि तुम किस सहिष्णुता के बलपर राजकुमार हुए हो।

मेघकुमार उत्सुकता से मेरी तरफ देखने लगा।

मैंने कहा–पहिले जन्म में तुम एक हाथी थे। एक बार दावानल लगा तो तुम एक नदीके किनारे मैदान की तरफ भागे, पर तुम्हारे जाने के पहिले वनचर पशुओं से मैदान भर चुका था। बड़ी कठिनाई से तुम्हें खड़े होने को जगह मिली। जब तुम खड़े हुए तो छोटे छोटे पशु तुम्हारे पेट के नीचे खड़े हो गये। पर घमसान बहुत था, जानवर खूब सिकुड़कर बैठे थे। हिलना डुलना तक मुश्किल था। इतने में तुम्हें खुजली उठी और तुमने एक पैर ऊपर उठाकर खुजाया। पर उस पैर की जगह को खाली देखकर एक शशा उस जगह आ बैठा। तुम चाहते तो पैर रखकर उसे कुचल सकते थे पर दयावश तुमने ऐसा नहीं किया और तुम तीन पैर से ही खड़े रहगये।

वन में आग ढाई दिन रही इसके बाद सब पशु गये और तुमने भी पानी पीने के लिये नदी की ओर बढ़ना चाहा, पर तुम्हारा पैर ढाई दिन तक उठा रहने से अकड़गया था इससे ज्यों ही तुमने चलने की कोशिश की, कि तुम गिर पड़े। भूख प्यास से निर्बल तो तुम हो ही चुके थे, गिरते ही और असमर्थ होगये, पर जीवदया के भाव के साथ तुमने प्राण छोड़े, इसलिये तुम श्रेणिक राजा के पुत्र हुए। तुम प्यासे मरे थे और मेघों की तरफ तुम्हारा ध्यान था इसलिये तुम्हारी मा को मेघों के नीचे अर्थात् वर्षा में घूमने का दोहद हुआ था, इसीलिये जब तुम पैदा हुए तब तुम्हारा नाम मेघकुमार रक्खा गया। एक जीव पर दया के कारण हाथी से तुम राजकुमार होगये। एक

पशुयोनि में तुम इतनी सहिष्णुता दिखा सके और इतना विकास कर सके पर अब मनुष्य भव में, इतने विवेकी होकर संयमी जीवन का थोड़ासा भी कष्ट तुम से सहा नहीं जाता ?

मेरी बात पूरी होते न होते मेघ चिल्ला पड़ा—प्रभू !!!

अुसकी दोनों आंखों से आसुओं की धारा बह रही थी। उसने मेरे पैरों पर गिरकर कहा—"क्षमा करो प्रभु ! मेरी क्षुद्रता को क्षमा करो। मैं अपने अहंकार को लात मारता हूं, अपनी असहिष्णुता को धिक्कारता हूं अब मैं ऐसी भूल कभी न करूंगा।

मैंने उसे धीरज बँधाया। मेघकुमार सच्चा श्रमण बनगया। मेरी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा सफल हुई।

७३- नन्दीषेण की दीक्षा

७ मुंका ९४४४ इ. सं.

अर्हत होने के बाद यह मेरा पाहिला ही चातुर्मास था, पहिले बारह चौमासे की सफलता इस चौमासों में दिखाई दी। राजगृह नगर में सत्यश्रद्धा करनेवाले बहुत पैदा होगये हैं और मेरे धर्म का आकर्षण इतना बढ़गया है कि बड़े बड़े राजकुमार भी प्रव्रज्या लेने को अुत्सुक होगये हैं। प्रव्रज्या का बोझ उठाने की पात्रता न होने पर भी वे प्रव्रज्या लेते हैं यहां तक कि रोकने पर भी नहीं रुकते। मैंने प्रारम्भ से ही नियम रक्खा है कि माता पिता और पत्नी की अनुमति लिये बिना किसी को प्रव्रज्या न दी जायगी फिर भी किसी न किसी तरह से लोग इस नियम की पूर्त्ति करके दीक्षित होजाते हैं। इतना आकर्षण, इतना प्रभाव एक तरह से है तो अच्छा, फिर भी मुझे इसपर नियन्त्रण रखना पड़ेगा क्योंकि मैं नहीं चाहता कि निर्बल लोग या जो भोगाकांक्षा को नहीं जीतपाते ऐसे लोग प्रव्रज्या लें।

नन्दीषण श्रेणिक राजा का एक पुत्र है। मुझे मालूम
हुआ है कि वह अत्यन्त विलासी है। उसका भोगकर्मोदय इतना
तीव्र है कि अुसका शरीर ही ऐसा बनगया है। पर इन दिनों
मेरे प्रवचन सुनते सुनते उसपर वैराग्य की छाया पड़गई। और
वह किसी तरह अपने पिता से अनुमति लेकर मेरे पास दीक्षा
लेने को आया।

मैंने उसे रोका और अभी दीक्षा न लेने को कहा, पर
उसने तो मेरे पास ही अपने कपड़े फेंक दिये और श्रमण वेष
लेलिया।

इसके बाद इन्द्रभूति गौतम ने एकान्त में मुझसे पूछा-
भगवन् आप सदा श्रमण धर्म का उपदेश देते हैं, श्रमण बनने के
लिये प्रेरित करते हैं पर आज आपने नन्दीषेण को प्रव्रज्या लेने
से रोका, इसका कारण क्या है प्रभु!

मैंने कहा-गौतम, तीन तरह के कामी होते हैं। मन्द-
कामी, मध्यमकामी, तीव्रकामी। मन्दकामी मनुष्यों में मैथुन की
इच्छा इतनी कम होती है कि तीव्र निमित्त मिलने पर ही उनकी
कामवासना जगती है ऐसे लोग सहज ही श्रमण धर्म का बोझ
उठा सकते हैं। ये अगर कोई तपस्या न करें, सिर्फ स्त्रियों के
विशेष सम्पर्क से बचते रहें तो इतने से ही उनकी कामवासना
शान्त रहेगी। ऐसे लोगों को श्रमण बनाने में कोई बाधा नहीं।

मध्यमकामी मनुष्य पर्याप्त तपस्या करने पर और
नारियों के सम्पर्क से बचने पर काम को वश में रख सकता है।
सौ में पंचानवें मनुष्य इसी श्रेणी के होते हैं। ये भी श्रमण
बनाये जासकते हैं पर इन्हें तपस्या आदि में तत्पर रहना चाहिये।

तीव्रकामी मनुष्य अपनी कामवासना को तब तक
वशमें नहीं रख सकता जब तक वह जवानीभर पर्याप्त भोग न

भोगले। तीव्र कर्मोदय से उसकी शरीर रचना भीतर से ऐसी होजाती है कि इच्छा करते हुए भी वह कामवासना को जीत नहीं पाता। तपस्याएँ भी निष्फल जाती हैं।

नन्दीषेण तीव्रकामी मनुष्य है यह बात इस डेढ़ माह के परिचय से मैं समझ गया हूं, ऐसी अवस्था में इसका श्रमण बनना ठीक नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि वह सच्ची श्रद्धा से श्रमण हुआ है, वह श्रामण्यको पालने की पूरी कोशिश करेगा, तपस्याएँ करेगा, एकान्तवास करेगा पर उसका तीव्र कामोदय उसे कामवासना के दमन में सफल न होने देगा। कई वर्ष भोग भोगने के बाद जब उसके शरीर में कुछ शिथिलता आयगी तभी वह कामवासना को जीत पायगा। इसलिये मैंने उसे रोका था।

अब नन्दीषेण एक बार चारित्रभ्रष्ट तो अवश्य होगा फिर भी उसकी श्रद्धा इतनी बलवान है कि वह सम्यक्त्वभ्रष्ट न होगा और इसी कारण समय आने पर वह फिर संयमी बन जायगा। यही कारण है कि पहिले मैंने उसे रोका, फिर जब वह नहीं रुका तब मैंने उपेक्षा की।

गौतम ने हाथ जोड़कर कहा—धन्य है प्रभु आपकी दिव्यदृष्टि, अलौकिक है प्रभु आपका विवेक, असीम है प्रभु आपकी उदारता।

७४–जन्मभूमि दर्शन

६१ मम्मेशी ९४३५ इतिहास संवत्

गतवर्ष राजगृह से विहार कर मैं अपनी जन्मभूमि की तरफ निकला। अनेक गांवों में विहार करता हुआ ब्राह्मणकुंड आया, और बहुसाल चैत्य में ठहरा। क्षत्रियकुंड यद्यपि बहुत दूर नहीं था फिर भी मैं वहां नहीं ठहरा। इसके कई कारण थे।

मुख्य यह कि मैं जानना चाहता था कि मेरे जीवन की सफलता के महत्व को मेरी जन्मभूमिवाले स्वीकार करते हैं या नहीं। जन्मभूमि वाले कदाचित् प्यार करते हैं पर महत्व को स्वीकार नहीं करते। पर आज मुझे अुस प्यार की जरूरत नहीं है किन्तु महत्व के स्वीकार की जरूरत है जिससे वे लोग मेरे बताये हुए रास्ते पर चलकर स्वपरकल्याण कर सकें।

ब्राह्मणकुंडपुर में ठहरने का दूसरा कारण यह भी था कि मेरे लिये ब्राह्मणकुण्डपुर और क्षत्रियकुण्डपुर दोनों ही समान हैं। क्षत्रियकुण्डपुर में पैदा होने से मेरा उसके प्रति अधिक पक्षपात या आत्मीयता की भावना हो यह बात नहीं है। मुझे सारा जगत समान है।

फिर भी आखिर मैं मनुष्य हूं। जब मैं इस तरफ आया तब मुझे देवी का ध्यान अवश्य आया। सोचता था कि जानेपर पता लगेगा कि इतना लम्बा समय देवी ने किस तरह बिताया होगा। प्रियदर्शना तो अब काफी बड़ी होगई होगी। बल्कि उसका विवाह भी होगया होगा। देवी का और प्रियदर्शना का कैसा व्यवहार रहता है, अपना असन्तोष या उलहना वे किन शब्दों में प्रगट करती हैं, इस तरह मनमें एक तरह की उत्सुकता थी। हालांकि वह किसी रूप में किसीपर प्रगट नहीं होने पाई थी।

राजग्रह में काफी सफलता प्राप्त करके मैं इस तरफ शीघ्र से शीघ्र आया इसमें एक कारण यह भी था। हालां कि सत्यप्रचार के विरुद्ध न होने से इसमें कर्तव्य-विमुखता कुछ न थी।

पर यहां आनेपर मेरी सारी उत्सुकता भीतर की भीतर ठंडी होगई। जिसकी मुझे कल्पना तक नहीं थी वही बात सुनने को मिली।

प्रियदर्शना ज्यों ही मेरे पास आई त्यों ही रो कर पैरों पर

गिर पड़ी। वह भूलगई कि वह एक महान धर्मगुरु के सामने है जो वीतराग कहलाता है। उसने 'पिताजी' कहकर आंसू बहाते हुए कहा माताजी तो चली गईं पिताजी !

मैं क्षणभर को स्तब्ध होगया। प्रियदर्शना को सान्त्वना भी न दे सका।

उसने कहा-पिताजी, आपके जाने के बाद माताजी ने आपसे किसी न किसी तरह का सम्बन्ध जोड़े रखने की बड़ी कोशिश की, पर आपकी निष्पृहता के कारण वह जुड़ा न रह सका। जब आपने पारिपार्श्वक के रूप में भी किसी को पास रखना मंजूर न किया तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। मैं तो छोटी थी, कुछ समझती न थी, पर इतना याद है कि एक रात माताजी रातभर रोती रही थीं और इस तरह रोती रही थीं कि छोटी होने पर भी मुझे भी रातभर रोना पड़ा था। जब मेरी उम्र कुछ बड़ी हुई तब मैं बहुत कुछ समझी।

पिताजी ! माताजी मुझे हर तरह आराम पहुँचाती थीं, तरह तरह के गहने कपड़े पहिनाती थीं, अच्छा अच्छा खिलाती थीं पर मैंने कभी उन्हें अच्छा खाते नहीं देखा, मेरे आग्रह पर भी उनने कभी गहने या अच्छे कपड़े नहीं पहिने, और न उन्हें कभी रातभर नींद आई। पिताजी, बादल तो चार माह ही बरसते हैं पर मेरी माताजी की आंखें बारह माह बरसती रहती थीं।

मेरे विवाह के बाद विदा के समय उनने कहा था-'तेरे विवाह से मैं कृतकृत्य होगई बेटी। उनने बाहर जाकर मानव निर्माण का महान कार्य उठाया है और मुझे तेरे निर्माण का कार्य सौंप गये थे। उनका कार्य महान है वे उसे पूरा करने के लिये अमर हों, पर मैं अपना काम कर चुकी, अब यहां मेरे रहने की न मुझे जरूरत है न संसार को जरूरत है"

पिताजी, मां की यह बात सुनते ही मेरी तो छाती फटसी गई। मैं उनसे चिपटकर बड़ी देर तक रोई पर अपने आंसुओंसे उनके मन की आग बुझा न सकी। इसके बाद सात ही दिनमें मुझे उनके दर्शन मृत्यु शय्या पर करना पड़े। जाने के कुछ ही पहिले उनने इतना ही कहा-'जाती हूं बेटी, जाने के पहिले मैं उन्हें देख न सकी।'

मैंने रोते रोते बहुत कहा-मेरे लिये कुछ दिन और रहो मां! पिताजी भी किसी न किसी दिन आयेंगे, पर मेरी बात वे सुन न सकीं और चलीगईं। आप बहुत देर से लौटे पिताजी!

प्रियदर्शना भावावेग में थी, उसकी बातें सुनकर मेरे आसपास बैठे हुए इन्द्रभूति आदि के भी आंसू बहने लगे। बहने को तो मेरे आंसू भी उत्सुक थे, पर मैंने उन्हें बड़ी कठोरता के साथ रोक रक्खा। सोचा यदि आज मेरे भी आंसू बहने लगेंगे तो जगत् के बहते हुए आसुओं को मैं कैसे रोक सकूंगा।

इसलिये मैंने वात्सल्य और गम्भीरता का समन्वय करते हुए कहा-रो मत बेटी, तेरी मां ऐहिक कर्तव्य पूरा करके गई है। अब उसके बाद का स्वपरकल्याणमय जो कर्तव्य तुझे पूरा करना है, जिसके लिये तेरी मां ने तेरा निर्माण किया है, उसे पूरा करने की कोशिश करना!

प्रियदर्शना ने आंसू पोंछते हुए कहा-उसके लिये जो आप आज्ञा देंगे वही करूंगी पिताजी।

इतने में आई देवानंदा, उसका पति ऋषभदत्त भी उसके साथ था। देवानन्दा निर्निमेष दृष्टि से मुझे देखती रही, उसके हृदय से मातृस्नेह उमड़ पड़ा, स्तनों में दूध आगया। दूसरे लोगों की तरह वह वंदना करना तो भूलगई और उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा-बेटा!

मैंने गम्भीरता से कहा-आओ मां। तुम्हारे बेटे ने जो धर्म की कमाई की है वह ग्रहण करो!

देवानन्दा स्त्रियों के समूह में बैठगई ? तब इन्द्रभूतिने पूछा-भगवन् क्या देवानन्दा आपकी मां हैं ?

मैंने कहा-हां! एक तरह से मेरी मां ही है। शैशव में इनके शरीर से मेरा पोषण हुआ है, इनने मां की तरह मुझे प्यार भी किया है।

जब मैं पैदा हुआ तब मेरी जननी त्रिशलादेवी को दूध नहीं आया। क्योंकि जननी रुग्ण होगइ थीं। तब देवानन्दा ने ही व्यासी दिन तक मुझे दूध पिलाया। और व्यासी दिन तक मैं इन्हीं की गोद में रहा। चिकित्सकों का कहना था कि इस रुग्णावस्था में बालक को मां के पास न रहने देना चाहिये। इसलिये मैं दिनरात देवानन्दा के ही पास रक्खा गया। जननी की बीमारी काफी उग्र थी, उन्हें कोई सुध न रहती थी, किन्तु जब उन्हें सुध आती थी तब वे बालक के लिये चिल्लाने लगती थीं तब उनके पास देवानन्दा की नवजात पुत्री रेशमी दुकूल में लपेटकर रखदी जाती थी इसप्रकार देवानन्दा ने मुझे अपना दूध ही नहीं पिलाया, गर्भ के समान मुझे दिनरात अपनी गोद में ही नहीं रक्खा, किन्तु एक तरह से व्यासी दिनतक शिशुओं की अदलाबदली भी सहन की। इसकारण से ये मेरी मां बनी। और मां की तरह इनने जीवनभर स्नेह भी किया।

जब एक नैगमेषी नाम के वैद्य की चिकित्सा से मेरी जननी स्वस्थ होगईं तब मैं उनके पास रक्खा जाने लगा। मेरे छिन जाने से इन्हें बड़ा दुःख हुआ। ये आलंकारिक भाषा में कहा करती थीं कि नैगमेषी ने व्यासी दिन बाद मेरा गर्भ हरण कर लिया या बदल दिया। बहुत से भोले लोग तो इनकी बात

से यही विश्वास करते थे और अब भी करते होंगे, कि पहिले मैं इन्हीं के गर्भ में आया था बाद में नैगमेषी देव ने हरण करके त्रिशलादेवी के गर्भ में रख दिया था।

अस्तु, किंवदान्तियाँ तो कुछ की कुछ हो ही जाती हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि इन्हें मेरी मां कहलाने का पर्याप्त अधिकार है।

जन्मभूमि में मेरा प्रचार हुआ है। प्रियदर्शना दीक्षित हुई है, उसका पति जमालि भी दीक्षित हुआ है, और भी अनेक क्षत्रिय और ब्राह्मण दीक्षित हुए हैं। प्रचार की दृष्टि से जन्मभूमि दर्शन सफल हुआ है।

७५ — जयन्ती के प्रश्न

२८ चन्नी ९४४५ इ. सं.

जन्मभूमि की तरह करीब एक वर्ष विहार कर और वैशाली में अपना चौदहवां चातुर्मास पूरा कर वत्सभूमि में आया और अनेक ग्रामों में धर्म प्रचार करता हुआ कौशाम्बी आया और नगर के बाहर इस चन्द्रावतरण चैत्य में ठहरा।

कौशाम्बी इस समय बुद्धिमती और व्यवहार कुशल महिलाओं के लिये कुछ प्रसिद्ध होरही है। शतानिक राजा के शीघ्र मर जाने से उसका पुत्र यहां का राजा उदयन तो अभी बालक है इसलिये शासन कार्य राजमाता मृगावती चलाती है। मृगावती ने चण्डप्रद्योत सरीखे प्रचंड राजा से अपने राज्य की और शील की रक्षा बहुत चतुरता और साहस के साथ की है। मृगावती की ननँद जयन्ती बहुत जिज्ञासु और विदुषी महिला है, आतिथ्य सत्कार में भी यह बहुत प्रसिद्ध है।

आज मेरे प्रवचनमें ये सब महिलाएँ उपस्थित थीं। प्रवचन के समाप्त होने पर सब लोग तो चले गये पर जयन्ती

रहगई, वह मुझसे कुछ धार्मिक चर्चा करना चाहती थी। अवसर पाकर उसने मुझसे कुछ प्रश्न किये।

प्रश्न—जीवों की अधोगति क्यों होती है क्या वे भारी होजाते हैं ?

मैं—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह के पाप से जीव भारी होजाते हैं ?

जयन्ती—तो पुण्यसे भारी क्यों नहीं होते ? क्या पुण्य में वजन नहीं होता ?

मैं--वजन तो हर एक पुद्गल में होता है। पर जैसे दृति (मशक) में हवा भरने से वह पानी में ऊपर तरती है, और मिट्टी पत्थर भरने से डूब जाती है, हालांकि वजन हवा में भी है और मिट्टी पत्थर में भी है। अुसी प्रकार पुण्य से जीव ऊपर तैरते हैं और पाप से अधोगति में डूबते हैं।

जयन्ती-अब मैं समझ गई भगवन्! अब दूसरा प्रश्न है- कि कोई कोई जीव साधारण उपदेश से मोक्षमार्ग में लगजाते हैं और कोई कोई बड़े से बड़े अलौकिक ज्ञानी के समझाने पर भी नहीं समझते. तो इसका कारण क्या है ? समझाने की कमी या जीवों की स्वाभाविक अयोग्यता ?

मैं-इसमें जीवों की स्वाभविक अयोग्यता ही कारण है। जैसे कोई कोई मूंग का दाना कितना ही उबाला जाय वह पकता नहीं, इसमें अुबालनेवाले की कोई कमी नहीं, मूंग के दाने में ही स्वाभाविक अयोग्यता है इसीप्रकार कोई कोई जीव मोक्ष प्राप्त करने की स्वाभाविक अयोग्यता रखते हैं कि वे कितने भी निमित्त मिलने पर मोक्षमार्ग में नहीं लगते। जबर्दस्ती यदि बाहर से लगा भी दिये जायँ तो भी उनका मत नहीं बदलता। ऐसे प्राणियों को अभव्य कहते हैं। जीवों की भव्यता और अभ-

व्यता स्वाभाविक है। इसमें सद्गुरु भी कुछ नहीं कर सकता।

जयन्ती—समझगई भगवन्, अब यह बताइये कि सोना अच्छा या जागना?

मैं-जो लोग धर्ममार्ग पर चलते हैं उनका जागना अच्छा, क्योंकि वे जितनी देर तक जागेंगे धर्म करेंगे। और जो जीव पापमार्ग में जाते हैं उनका सोना अच्छा क्योंकि वे जितना अधिक सोयँगे उतने समय तक पाप कार्य से बचे रहेंगे।

जयन्ती-भगवन् सबलता अच्छी कि निर्बलता?

मैं-पापियों की निर्बलता अच्छी और धर्मात्माओं की सबलता अच्छी। पापी अगर निर्बल होगा तो कम पाप कर पायगा, सबल होगा तो ज्यादा करेगा। धर्मात्मा अगर सबल होगा तो अधिक धर्म करेगा और निर्बल होगा तो कम धर्म करेगा। इसलिये पापियों का निर्बल होना अच्छा, धर्मात्माओं का सबल होना अच्छा।

जयन्ती-कर्मठता अच्छी कि आलस्य।

मैं-धर्मात्माओं की कर्मठता अच्छी क्योंकि उससे वे धर्म करेंगे, पापियों का आलस्य अच्छा क्योंकि उससे वे पापसे रुकेंगे।

इसीप्रकार जयन्ती ने और भी प्रश्न पूछे और उन सब के उत्तरों से सन्तुष्ट हो उसने दीक्षा ली।

७६—गौतम की क्षमायाचना

८ मुंका ६४२६ इतिहास संवत्

उत्तर कोशल आदि की तरफ विहार कर विदेह के इस वाणिज्यग्राम में मैंने अपना पन्द्रहवां चतुर्मास किया है। यहां आज एक विशेष घटना होगई जो कि है तो छोटीसी, किन्तु

जिसका महत्व काफी है।

यहां के प्रतिष्ठित श्रीमान आनन्द ने मेरे पास श्रावक के व्रत लिये हैं। आनन्द स्वयं भी विद्वान और ज्ञानी व्यक्ति है। उसे अवधिज्ञान भी है जिसके द्वारा वह अमुक अंश में विश्वरचना का रूप जानता है।

आज जब इन्द्रभूति गौतम भिक्षा लेने नगर में गये तब आनन्द से भी मिले, क्योंकि आनन्द कुछ दिनों से बीमार है इसलिये उसका कुशल समाचार लेना था। इसी समय कुछ धर्म चर्चा भी छिड़ पड़ी। और आनन्द ने इस प्रकरण में अपने अवधिज्ञान का उल्लेख किया। पर गौतम ने उसकी बात का निषेध किया। आनन्द ने तीन बार वही बात कही, पर गौतम ने तीनोंबार उसका निषेध किया। कोई ने किसी की बात न मानी।

वहां से आने के बाद प्रतिदिन की तरह जब गौतम ने चर्या निवेदन किया उसमें यह बात भी निकली, तब मुझे यह बात खटकी। और मुझे मालूम हुआ कि गौतम ने गलती की है। गृहस्थ भी ऐसा दिव्यज्ञान पासकता है। गौतम ने निषेध कर सत्य का अपलाप तो किया ही है साथ ही संघ में भी वैमनस्य के बीज बोये हैं।

मैंने यह बात गौतम से कही।

गौतम ने आश्चर्य से कहा-क्या गृहस्थ को दिव्यज्ञान होसकता है भगवन।

मैं-गृहस्थ को दिव्यज्ञान होने में कठिनाई तो अवश्य है, पर असम्भव नहीं है। असली बात तो विवेक और समभाव है। गृहस्थ को पूर्ण समभावी होने में कुछ कठिनाई होने पर भी वह ऊंचे से ऊंचा समभावी, और दिव्यज्ञानी होसकता है। कूर्मापुत्र को तो गृहस्थ अवस्था में केवलज्ञान होगया था।

गौतम ने आश्चर्य से कहा-केवलज्ञान ! केवलज्ञान होने पर भी कूर्मापुत्र घर में रहे ? किसलिये रहे ?

मैं—माता पिता की सेवा करने के लिये। कूर्मापुत्र माता पिता की एकमात्र सन्तान थे। उन्हें मालूम हुआ कि अगर मैं दीक्षा लेलूंगा तो माता पिता का या तो अकाल मरण होजायगा अथवा उनका जीवन असहाय होकर अत्यन्त दुःखपूर्ण होजायगा। इसलिये जब तक माता पिता जीवित हैं तब तक वे घर में रहे। इस बीच धर्म साधना और उच्च समभाव के कारण वे केवलज्ञानी भी होगये, फिर तब तक घर में रहे जब तक माता पिता का देहांत न होगया।

गौतम-क्या इसे मोह नहीं कह सकते भगवन् ?

मैं—नहीं। मानव जीवन के आवश्यक कर्तव्यों को पूरा करना मोह नहीं है। माता पिता की सेवा के कारण ही बालक जीवित रहता है और मनुष्य बनता है। इस उपकार का बदला चुकाना आवश्यक है। यह पूर्ण निर्मोह को भी चुकाना चाहिये। मैं स्वयं मातापिता के लिये कई वर्ष दीक्षा लेने से रुका रहा था। यद्यपि मैं उस समय केवलज्ञानी नहीं हो सका फिर भी मैं पर्याप्त निर्मोह था। मोह से मनुष्य के हृदय में ऐसा पक्षपात स्वार्थ अविवेक आजाता है कि वह कर्तव्याकर्तव्य का भान भूल जाता है, जो ऐसा भान नहीं भूलता, वह मोही नहीं कहलाता। हमने इतना बड़ा संघ बनाया है, सब प्रेमभाव से विनय से रहते हैं सेवा करते हैं, इसका यह मतलब नहीं कि हम में मोह है। यह सब निर्मोह रहकर करते हैं। इसीप्रकार निर्मोह रहकर जगत के वे सब काम किये जासकते हैं जो सर्वसुख की नीति के अनुकूल हैं।

गौतम-जब निर्मोह रहकर सब अच्छे कार्य किये जासकते हैं और केवलज्ञान तक पाया जासकता है तब साधु साध्वी

संघ की आवश्यकता क्या है ?

मैं—दो कारणों से इसकी आवश्यकता है। पहिला कारण यह है कि अभी गृहस्थावस्था में ऐसा वातावरण नहीं मिल सकता जिससे सरलता से निर्मोह बनकर रहा जासके। जीवन संग्राम अभी जटिल है, उसकी चोटों से अधिक प्राणी मोही या रागद्वेषी होजाते हैं इसलिये उनकी जीवनचर्या और वातावरण बदलने की आवश्यकता है जिससे वे जीवनशुद्धि की साधना कर सकें। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य के जीवन में और समाज में जो क्रांतिकारी परिवर्तन करना है उसके प्रचार के लिये एक ज्ञानी संस्था की जरूरत है, जिसका जनता पर प्रभाव पड़ सके, जिसके सदस्य अधिक से अधिक स्थानों पर पहुँच सकें सदा भ्रमणशील रह सकें। गृहस्थ वह कार्य नहीं कर सकता, सन्तान के पालन पोषण तथा भविष्य के लिये उसे समर्थ बनाने में उसकी शक्ति केन्द्रित होजाती है। सर्वसंगत्यागी साधुसंस्था ही यह कार्य कर सकती है। इन दो कारणों से साधु साध्वी संघ की आवश्यकता है। तुम्हीं सोचो, अगर तुम साधु न बने होते तो जो सम्यक्त्व चारित्र का प्रचार तुम आज कर रहे हो वह क्या कर सके होते ? पुरानी रूढ़ियों का जाल तोड़ना और वातावरण को बदलना क्या सम्भव था ? जीविका की समस्या ही सारी सचाई खाजाती। साधु रहने से जीविका अब तुम्हें नचा नहीं सकती, तुम्हारे विचारों पर और प्रचार पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष कोई अकुंश नहीं डाल सकती। भ्रामरी वृत्ति से तुम कहीं भी गुजर कर सकते हो। किसी व्यक्ति विशेष जाति विशेष या दल विशेष का मुँह ताकने की तुम्हें जरूरत नहीं है। और न इससे तुम्हारे गौरव को धक्का लगता है। गृहस्थ इतना निर्भय, इतना निश्चिंत, इतना गौरवशाली साधारणतः नहीं होता, इसलिये आजकल राजमार्ग यही है कि जगत की सेवा के लिये

मनुष्य साधु बने, और साधुता को बढ़ाने और टिकाने के लिये साधु संघ का अंग बने।

गौतम-क्या ऐसा भी समय आसकता है भगवन् कि इस साधुसंस्था की आवश्यकता न रहे। या उसका बिलकुल ही दूसरा रूप हो।

मैं—आसकता है। आचार शास्त्र के विधान द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार बनते हैं। जैसा द्रव्य क्षेत्र काल भाव होता है वैसे साधुसंस्था के रूप होते हैं—जीवन शुद्धि और जगत्सुधार के कार्य की मुख्यता से साधुसंस्था की आवश्यकता सदा रहेगी, पर उसके रूप तो बदलते ही रहेंगे। द्रव्य क्षेत्र काल भाव को भुलाकर आज के ही रूप से सदा चिपटे रहना एकांत मिथ्यात्व होगा। और मिथ्यात्व के साथ स्वपर कल्याण नहीं हो सकता। असली वस्तु साधुता है साधुसंस्था नहीं। साधुसंस्था तो साधुता का वस्त्र मात्र है। वस्त्र तो ऋतु के अनुसार बदला ही करते हैं। देशकाल के भेद से भी उनमें परिवर्तन होता ही है।

गौतम—आज तो एक बहुत बड़े धर्म रहस्य का ज्ञान हुआ भगवन! साधुता और साधुसंस्था का विश्लेषण, और गृहस्थावस्था में जीवन विकास आदि की बहुत बातें जानने को मिलीं। अब मैं सोचता हूं कि आनन्द के अवधिज्ञान को अस्वीकार करके मैंने सत्य का विरोध किया है। इसलिये मुझे आनन्द से क्षमायाचना करना चाहिये।

मैं—करना तो चाहिये।

गौतम- तो मैं अभी जाता हूं।

मैं- कुछ ठहर कर भी जासकते हो।

गौतम- आपने सिखाया है भगवन कि मन का विकार

जितनी देर तक छिपा बैठा रहेगा उतने समय तक वह गुणाकार रूप में बढ़ता जायगा, और पाप बढ़ाता जायगा। मेरी भूल से आनन्द के मन में जो खेद हुआ है उसको जितने अधिक समय तक बना रहने दूंगा, मेरा अपराध उतना ही बढ़ता जायगा। इसलिये आज्ञा दीजिये भगवन, मैं शीघ्र क्षमायाचना कर आऊं!

मैं– जिसमें तुम्हें सुख हो वही करो।

गौतम गये और क्षमायाचना कर आये। मुझे इससे परम सन्तोष हुआ। सोचता हूं कि मेरे संघ का भवन संयम न्याय विनय की नींव पर खड़ा होरहा है।

आनन्द एक श्रावक है, और गौतम एक साधु ही नहीं हैं किन्तु मेरे बाद संघ में उन्हीं का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आनन्द की अपेक्षा गौतम का स्थान काफी ऊंचा है कई गुणा ऊंचा है। फिर भी इतने बड़े गणनायक को एक गृहस्थ के घर जाकर क्षमा याचना करने में संकोच नहीं हुआ यह संघ के लिये शोभा की ही बात नहीं है किन्तु जीवन की भी बात है।

इस विषय में मेरा क्या दृष्टिकोण है इसका पता लगते ही गौतम ने बिना किसी संकोच के बिना किसी टालमटूल के तुरंत ही पालन किया, यह अनुशासन भी संघ के जीवन को स्वस्थ बनाने वाला है। उम्र में मुझसे आठ वर्ष अधिक होने पर भी गौतम की यह नम्रता, यह विनय भक्ति यह अनुशासन-प्रियता, इतनी अमूल्य है कि इसे संघ का प्राण कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

७७ — स्वाभिमानी शालिभद्र

२४ इंगा ९४४७ इ. सं.

गतवर्ष वाणिज्य ग्राम से निकलकर अनेक नगर ग्रामों

में विहार करता हुआ सोलहवें चातुर्मास के लिये राजग्रह नगर आया। यह नगर मेरे तीर्थ के प्रचार का अच्छा केन्द्र बनगया है। यहां धन्य और शालिभद्र ने दीक्षा ली। शालिभद्र के स्वाभिमान से ही उसे दीक्षित किया। वह नहीं चाहता था कि किसी के आगे झुकना पड़े, पर एक बार उसे राजासे मिलनेके लिये महलसे नीचे उतरना पड़ा। इसका शालिभद्र के मनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह किसी ऐसे पद की खोज में था जिसे पाने पर राजाओं के सामने न झुकना पड़े। जब उसे पता लगा कि श्रमणों को राजा के सामने नहीं झुकना पड़ता तब वह श्रमण होगया।

इसमें सन्देह नहीं कि आत्मगौरवशाली व्यक्तियों को श्रामण्य पर्याप्त सुखप्रद है। अन्य इन्द्रियों का आनन्द श्रमणों को भले ही न मिले या कम मिले, पर यह मानसिक आनन्द तो पर्याप्त मिलता है। इसी निमित्त से शालिभद्र का उद्धार होगया।

७८-कालगणना

२८ धुंगा ९४४७ इ. सं.

गौतम ने आज कालगणना सम्बन्धी प्रश्न पूछा। मैंने लौकिक अलौकिक सभी प्रकार की गणना बताई।

समय- काल का सब से सूक्ष्म अंश।
आवलिका- असंख्यात समयों की।
उच्छ्वास- बहुतसी आवलिकाओं का।
निश्वास- उच्छ्वास के बराबर समय।
श्वासोच्छ्वास (प्राण)-उच्छ्वास निश्वास मिलाकर।
स्तोक— सात प्राणों का।
लव— सात स्तोकों का।
मुहूर्त- ७७ लवों का, या ३७७३ स्वासोश्वासों का।
अहोरात्र- तीस मुहूर्त का

पक्ष- पन्द्रह अहोरात्र का।
मास — दो पक्ष का।
ऋतु-दो मास की
अयन-छः मासका।
वर्ष-दो अयन का।
पूर्वांग-चोरासी लाख वर्षों का।
पूर्व-चौरासी लाख पूर्वांगों का।

इसप्रकार उत्तरोत्तर चौरासी लाख चोरासी लाख गुणित होते हुए, त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांव, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, नलिनांग, नलिन, निकुरांग, निकुर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, प्रहेलिकांग, प्रहेलिका।

इसप्रकार कालगणना है इसके बाद उपमा से असंख्य वर्षों के पल्य और उससे बड़े सागर का परिमाण बताया।

इसके बाद परमाणु या प्रदेश से लेकर योजन तक क्षेत्र का भी माप बताया।

यद्यपि तीर्थंकर का कार्य धर्म का सन्देश देना है और इसी विषय का वह सर्वज्ञ होता है, पर धर्म जीवन के हर कार्य में व्यापक है इसलिये अप्रत्यक्ष रूप में बहुत से विषयों के साथ उसका सम्बन्ध आजाता है इसलिये तीर्थंकर को अन्य विषयों पर भी अपना सन्देश देना पड़ता है। अपने शिष्यों को बहुश्रुत बनाना भी आवश्यक है।

७९—कठोर अनुशासन

१ धामा ९४४८ इतिहास संवत्

गतवर्ष राजगृह में सोलहवां चातुर्मास पूरा कर मैंने

में विहार करता हुआ सोलहवें चातुर्मास के लिये राजग्रह नगर आया। यह नगर मेरे तीर्थ के प्रचार का अच्छा केन्द्र बनगया है। यहां धन्य और शालिभद्र ने दीक्षा ली। शालिभद्र के स्वाभिमान ने ही उसे दीक्षित किया। वह नहीं चाहता था कि किसी के आगे झुकना पड़े, पर एक बार उसे राजासे मिलनेके लिये महलसे नीचे उतरना पड़ा। इसका शालिभद्र के मनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह किसी ऐसे पद की खोज में था जिसे पाने पर राजाओं के सामने न झुकना पड़े। जब उसे पता लगा कि श्रमणों को राजा के सामने नहीं झुकना पड़ता तब वह श्रमण होगया।

इसमें सन्देह नहीं कि आत्मगौरवशाली व्यक्तियों को श्रामण्य पर्याप्त सुखप्रद है। अन्य इन्द्रियों का आनन्द श्रमणों को भले ही न मिले या कम मिले, पर यह मानसिक आनन्द तो पर्याप्त मिलता है। इसी निमित्त से शालिभद्र का उद्धार होगया।

७८-कालगणना

२८ हुंगा ९४४७ इ. सं.

गौतम ने आज कालगणना सम्बन्धी प्रश्न पूछा। मैंने लौकिक अलौकिक सभी प्रकार की गणना बताई।

समय- काल का सब से सूक्ष्म अंश।
आवलिका- असंख्यात समयों की।
उच्छ्वास- बहुतसी आवलिकाओं का।
निश्वास- उच्छ्वास के बराबर समय।
श्वासोच्छ्वास (प्राण)-उच्छ्वास निश्वास मिलाकर।
स्तोक— सात प्राणों का।
लव— सात स्तोकों का।
मुहूर्त- ७७ लवों का, या ३७७३ श्वासोच्छ्वासों का।
अहोरात्र- तीस मुहूर्त का

पक्ष– पन्द्रह अहोरात्र का।
मास – दो पक्ष का।
ऋतु–दो मास की
अयन–छः मासका।
वर्ष–दो अयन का।
पूर्वांग–चौरासी लाख वर्षों का।
पूर्व–चौरासी लाख पूर्वांगों का।

इसप्रकार उत्तरोत्तर चौरासी लाख चोरासी लाख गुणित होते हुए, त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांव, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, नलिनांग, नलिन, निकुरांग, निकुर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, प्रहेलिकांग, प्रहेलिका।

इसप्रकार कालगणना है इसके बाद उपमा से असंख्य वर्षों के पल्य और उससे बड़े सागर का परिमाण बताया।

इसके बाद परमाणु या प्रदेश से लेकर योजन तक क्षेत्र का भी माप बताया।

यद्यपि तीर्थंकर का कार्य धर्म का सन्देश देना है और इसी विषय का वह सर्वज्ञ होता है, पर धर्म जीवन के हर कार्य में व्यापक है इसलिये अप्रत्यक्ष रूप में बहुत से विषयों के साथ उसका सम्बन्ध आजाता है इसलिये तीर्थंकर को अन्य विषयों पर भी अपना सन्देश देना पड़ता है। अपने शिष्यों को बहुश्रुत बनाना भी आवश्यक है।

७९—कठोर अनुशासन

१ धामा ९४४८ इतिहास संवत्

गतवर्ष राजगृह में सोलहवां चातुर्मास पूरा कर मैंने

हेमन्त के प्रारम्भ में ही चम्पा की ओर विहार किया। चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरा वहां मुझे सन्देश मिला कि वीतभय नगर का राजा उद्रायन चाहता है कि मैं उसके राज्य में विहार करूं और उसे भी दर्शन दूं। यात्रा लम्बी थी फिर भी मैंने उस तरफ विहार किया। उद्रायन ने पर्याप्त आदर सत्कार किया और स्वयं भी व्रत लिये पर उसके राज्य के लोग अनुरागी नहीं मालूम हुए। इसलिये राजा को प्रतिबोध देकर मैं अपने शिष्य परिवार सहित लौटा। क्योंकि चातुर्मास करने लायक वहां की परिस्थिति नहीं थी। रास्ते में खाने पीने की बड़ी तकलीफ हुई। प्रायः सभी साधु भूख प्यास से व्याकुल होगये। और आपस में खाने पीने के बारेमें चर्चा करने लगे।

रास्ते में कुछ गाड़ियाँ जारही थीं, और उनपर तिल लदे हुए थे। साधुओं की आपसी बातचीत से गाड़ीवालों ने समझ लिया कि साधु भूखे हैं। इसलिये उनने कहा– सब सन्त हमारे तिलों से भूख शांत करें।

सब साधुओं की नजर मेरे ऊपर पड़ी। मुझे यह दीनता और निर्बलता अखरी। मैंने सब को तिल लेने से मना कर दिया।

मैं नहीं चाहता कि साधु कोई ऐसी चीज खायें जो बीजरूप है, आगे खेती के काम आसकती है। साधु इस तरह बीजरूप वस्तुएँ खाने लगेंगे तो खेती के काम में नुकसान पहुँचायेंगे। उन्हें तो वे ही चीज खाना चाहिये जो गृहस्थों ने अग्नि संस्कार से या पीस कूटकर तैयार करली हों। आज मैं इन्हें बीजरूप कच्चे तिलों को खाने का आदेश दे दूं तो कल ये कच्चे खेत ही चर डालेंगे। बन्धन एक बार टूटा कि फिर वह रुकता नहीं है। इसलिये मैंने किसी को तिल न खाने दिये।

आगे चलने पर स्वच्छ पानी के तालाब मिले। साधु

साध्वी गण प्यास से व्याकुल था। सब की इच्छा थी कि पानी निर्मल है इसलिये पी लिया जाय। एक ने मुझ से पूछा। पर मैंने मना कर दिया।

यह कष्ट एक दिन का है, पर तालाबों से इस तरह पानी पीने की अनुमति दे दी जाय तो कल से साधु स्वच्छ अस्वच्छ का विचार न कर जिस चाहे तालाब का पानी पीने लगेंगे और तैरने तथा उछलने कूदने भी लगेंगे। सारी मर्यादा नष्ट होजायगी।

यह प्रसन्नता की बात है कि सब साधु साध्वियों ने अनुशासन का पूरी तरह पालन किया।

८०—देव लोक की अवधि

४ जिन्नी ९४४६ इ. स.

वाणिज्य ग्राममें १७ वां चातुर्मास पूरा कर मैं बनारस आया यहां के जितशत्रु राजा ने पर्याप्त सन्मान किया। बनारस के ईशान कोण में कोष्ठक चैत्य में ठहरा और अपने मत पर प्रवचन किये। कुछ लोगों ने मेरा प्रवचन स्वीकार किया और गृहस्थोचित व्रत भी लिये। चुलनीपिता और उसकी पत्नी श्यामा, और सुखदेव और उसकी पत्नी धन्या, ये दो श्रीमन्त दम्पति इनमें मुख्य रहे। फिर भी मैं जैसी चाहता था वैसी सफलता यहां दिखाई नहीं दी। सत्यप्रचार के लिये साधु एक भी न मिला। इसलिये काशीराज्य में थोड़ा विहार कर राजगृह की ओर लौटा और मार्ग में इस आलभिका नगरी के शंख वन में ठहरा हूं।

गौतम जब भिक्षा के लिये नगर में गये तब उन्हें मालूम हुआ कि यहां पोग्गल नाम के परिव्राजक का काफी प्रचार है। वह कहता फिरता है कि मुझे अपने दिव्यज्ञान से सारा देवलोक दिखाई देता है। अंतिम देवलोक ब्रह्मलोक है। बस, इतनीसी

बात को लेकर यह धर्मगुरु बन बैठा है।

गौतम ने जब उसकी बात कही तब मैंने कहा-पोग्गल का कहना ठीक नहीं, उसे अधूरा ज्ञान है, उसे सारे देवलोक का पता ही नहीं।

यह बात आलभिका के कुछ नागरिकों ने भी सुनी और वे यह बात नगर में कहते गये। फैलते फैलते पोग्गल परिव्राजक के कान में भी यह बात पहुंची। मेरे व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण केवल नगरवासी ही नहीं, स्वयं पोग्गल परिव्राजक भी शंकित हो उठा। व्यक्तित्व का प्रभाव भी वास्तव में बहुत काम करता है।

वह चर्चा के लिये मेरे पास आया और उसके साथ सैकड़ों नागरिक भी आये।

उसने मुझसे पूछा-भगवन, मुझे देवलोक दिखाई देता है और अन्तिम देवलोक ब्रह्मलोक है, पर आप इसे अधूरा मानते हैं तो बताइये कि ब्रह्मलोक के आगे देवलोक कैसा है और उसमें क्या प्रमाण है?

मैंने पूछा-तुम देवलोक को कैसा देखते हो परिव्राजक?

पोग्गल- वहां के सब देव खूब सुखी हैं, देवलोक आनन्दमय है।

मैं- क्या वहां इन्द्र है?

पोग्गल—जी हां वहां इन्द्र है।

मैं—क्या इन्द्र की सेवा के लिये दास दासी के समान देव भी हैं।

पोग्गल—जी हां, वहां दासदासी के समान देव भी हैं।

मैं—इन्द्र या उसके कुटुम्बियों की अपेक्षा साधारण प्रजाजन के समान देवों की और दासदासियों की संख्या कितनी है?

पोग्गल इन्द्र और उसके कुटुम्बियों की अपेक्षा साधारण देवों की और दासदासी के समान देवों की संख्या बहुत अधिक है।

मैं--तब तो इसका मतलब यह हुआ परिव्राजक, कि देवलोक में मुट्ठीभर देव ही सुखी हैं बाकी असंख्यगुणें देव तो उनके दास दासी के समान हैं, वे दीन हैं पराधीन हैं, उन्हें देवगति का सुख कितनासा ? जिस देवलोक में मुट्ठीभर देव सुखी हों और उनसे असंख्य गुणें देव दास दासी के समान दुःखी हों उस स्वर्ग को तुम अंतिम स्वर्ग कैसे कह सकते हो ? अंतिम स्वर्ग तो वहीं कहा जासकता है जहां सब देव सुखी हों। जब तुम्हें ऐसा देवलोक दिखाई ही नहीं देता जहां सब देव सुखी हों तब तुम कैसे कहते हो कि मुझे अंतिम देवलोक दिखाई देता है ?

पोग्गल-आप ठीक कह रहे हैं भगवन, अब तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि मानों मेरा सारा ज्ञान लुप्त होरहा है, अब तो देवलोक और अंतिम देवलोक का वर्णन आप ही बताइये भगवन्।

मैं—दो तरह के देवलोक हैं परिव्राजक, एक कल्पोपपन्न दूसरे कल्पातीत। जहां इन्द्र हैं उनकी प्रजा हैं, दास दासी हैं वे कल्पोपपन्न हैं। वहां मध्यलोक की अपेक्षा कुछ अधिक सुख तो है फिर भी बहुत कम है। क्योंकि परिग्रह की विशालता होने से एक के पीछे बहुत से देवों को दुखी होना पड़ता है। पर ज्यों ज्यों ऊंचे ऊंचे देवलोकों में जाते हैं त्यों त्यों परिग्रह कम होता जाता है इसलिये दूसरे दुखी देवों की संख्या भी घटती जाती है इसप्रकार बारहवें अच्युत देवलोक में नीचे के सब देवलोकों की अपेक्षा अधिक सुख है। इसके बाद ऐसे देवलोक आते हैं जहां सब देव समान सुखी हैं। वहां दास दासी आदि कुछ नहीं। न वहां कोई सब का इन्द्र है न कोई किसी इन्द्र की

प्रजा, सब अहमिन्द्र हैं सभी देव इन्द्र के समान सुखी है, इसलिये अहमिन्द्र कहलाते हैं। उनकी आवश्यकताएँ कम हैं और वे अपने आप पूरी होजाती हैं, उसके लिये दास दासियों की जरूरत नहीं होती। ऐसे अहमिन्द्र लोक ही अन्तिम देवलोक हैं। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्धि है।

पोग्गल—बहुत ठीक कहा भगवन आपने, बहुत ही तर्कयुक्त कहा भगवन आपने, अब आप मुझे अपना श्रमण शिष्य समझें।

पोग्गलपरिव्राजक ने मेरी शिष्यता स्वीकार करली। नागरिकों पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा। यहां के सब से बड़े श्रीमन्त चुलशतक और उसकी पत्नी बहुला ने मेरी उपासकता स्वीकार की।

८१—चतुरता का उपयोग

१८ धामा ९४४९ इ. सं.

अपने अठारहवें चातुर्मास के लिये मैं फिर राजगृह आया।

दो वर्ष पहिले इसी नगर में शालिभद्र नाम के एक श्रीमन्त युवक ने दीक्षा ली थी। साथ में उसके बहनोई धन्य ने भी दीक्षा ली थी। दो वर्ष बाद वे मेरे साथ फिर राजगृह नगर आये हैं। शालिभद्र की माता भद्रा की गिनती इस नगर के मुख्य श्रीमन्तों में है। वह अवश्य अपने पुत्र से मिलने को उत्सुक होगी और शालिभद्र भी माता से मिलने की उत्सुकता छिपा न सकेगा, इसलिये वह भिक्षा लेने अपनी माता के घर ही जायगा। इसलिये जब शालिभद्र मेरे पास भिक्षा के लिये नगर में जाने की अनुमति लेने आया तब मैंने सहजभाव से कार्य कारण के नियम का ध्यान रखकर कह दिया, कि आज तुम्हें

अपनी माता के हाथ से भिक्षा मिलेगी। सारी बातों को देखते हुए यही होना स्वाभाविक था।

पर हुआ उल्टा ही।

दो वर्ष की कठोर तपस्या से शालिभद्र और धन्य के शरीर काले पड़गये हैं, शरीर की हड्डियाँ दिखाई देने लगी हैं, इसलिये जब ये लोग अपने घर भिक्षा के लिये गये तब किसी ने इन्हें पहिचाना भी नहीं। शालिभद्र की माता मेरे पास आने की तयारी में थी, और अपने बेटे से मिलने के लिये उत्सुक थी। वह अपने वैभव के अनुरूप बड़े ठाठ से अनेक दास दासियों के साथ सजे हुए यान में बैठकर यहां आना चाहती थी। और इस तैयारी में इतनी मग्न थी कि सामने खड़े हुए अपने बेटे और जमाई को भी न पहिचान सकी। न उस घर में उन्हें भिक्षा मिल सकी। अन्त में अपने घर के द्वार पर थोड़ी देर खड़े रह-कर वे भूखे ही लौट आये।

रास्ते में एक ग्वालिन मिली जो दही बेंचने जारही थी। उसने इन दोनों को भूखा जानकर बड़े प्रेम से दही खिलाया। दही का भोजन कर ये मेरे पास आये।

इनने सारी घटना ज्यों की त्यों सुना कर कहा–भगवन्! आपने तो कहा था कि आज माता के हाथ की भिक्षा मिलेगी पर माता ने तो मुझे पहिचाना भी नहीं। भिक्षा तो एक वृद्धा ग्वालिन ने दी। आपका वचन असत्य कैसे हुआ भगवन्?

मैं क्षणभर रुका। फिर ध्यानावस्था में जो मैं असंख्य कहानियाँ अपने ज्ञानभण्डार में जमा करता रहा हूं उनमें से एक कहानी निकालकर प्रकरण के अनुकूल बनाकर सुनाई।

"इसी राजगृह नगर के पास शालीग्राम में एक गरीब ग्वालिन रहती थी। किशोरावस्था में ही उसको एक पुत्र हुआ

और उसका पति मर गया। बड़ी गरीबीसे उसने पुत्रका पालन किया। ज्यों ही वह दस वर्ष का हुआ कि गांववालों के ढोर चराने जाने लगा। इस तरह गरीबी से अुसकी गुजर होने लगी।

एक बार त्यौहार के दिन सब के घर में खीर बनी। यह बालक भी मां से खीर खाने का हठ करने लगा। गरीबी के कारण मां के पास इतना धन नहीं था कि वह अपने पुत्र को खीर खिलासके इससे दुखके मारे वह रोने लगी। जब पड़ो-सिनों को उसके रोने का कारण मालूम हुआ तब सब ने थोड़ा थोड़ा दूध दिया। तब उसने खीर बनाई। कई घरों से दूध मिलने के कारण बहुत दूध होगया इसलिये बहुतसी खीर बनी।

उसने लड़के के थालमें बहुतसी खीर परोसदी और वह दूसरे काम में लगगई। इतने में एक साधु भिक्षा मांगता हुआ वहां आया। साधुको भूखा और दुर्बल देखकर बालक को दया आगई और उसने थाली की सारी खीर साधुको अर्पित कर दी।

पर और भी खीर बहुत थी, और उसने खूब खाई। इतनी अधिक कि अुसे वह पचा न सका। अजीर्ण से बीमार हुआ और मर गया।

पर साधुको दिये हुए दान के प्रभाव से वही बालक भद्रा सेठानी के यहां शालिभद्र नामका पुत्र हुआ। उस शालि-भद्र को उसकी इस जन्म की मां ने साधुवेष में न पहिचाना, पर पहिले जन्म की ग्वालिन मां ने पहिचाना।

इसलिये आज जो तुम्हें भिक्षा मिली है वह मां के हाथों ही मिली है। निःसन्देह वह इस जन्म की मां नहीं है, पूर्वजन्म की मां है।"

मेरी इस चतुरता का शालिभद्र और धन्य पर काफी प्रभाव पड़ा। धर्म के ऊपर उनकी श्रद्धा और दृढ़ हुई।

८२–अनेकांत का उपयोग

१९ धामा ९४४९ इ. सं.

आज राजा श्रेणिक दर्शनों को आये थे। उनके चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ थीं। जो कि वृद्धावस्था के कारण पड़ी हुई झुर्रियों से अलग दिखाई दे रही थीं। मैंने जब कारण पूछा तब कहा–मैं पंडितों के मारे परेशान हूं। इनके वाद-विवादों ने राज्य की सारी शान्ति नष्ट करदी है। इनके नित्य-अनित्य द्वैत-अद्वैत से जगत का कब क्या भला होगा कौन जाने, पर आये दिन जो मार-पीट और हत्याएँ होती रहती हैं उससे यह राज्य ही नरक बना जारहा है।

मैंने पूछा–आखिर बात क्या है?

श्रेणिक ने कहा–इस नगर में कुलकर नाम का एक नित्यवादी पंडित है और मृगाक्ष नामका अनित्यवादी पंडित भी है। दोनों के पास शिष्यों की सेनाएँ हैं। एक दिन दोनों सदल-बल मार्ग में ही वाद-विवाद करने लगे। कुलकर ने मृगाक्ष की नाक पर इतने जोर से मुक्का मारा कि मृगाक्ष की नाक से खून बहने लगा। मेरे पास न्याय के लिये मामला आया और जब मैंने पूछा तो कुलकर ने कहा–मैंने मारने के लिये नहीं मारा, अपने पक्ष की सचाई बताने के लिये मारा था। क्योंकि मृगाक्ष का कहना था कि नाश होना वस्तुका स्वभाव है, स्वभाव परनिमित्तक नहीं होता। इसके विरोध में जो मैंने युक्तियाँ दीं वह मृगाक्ष ने मानी नहीं। तब मैंने मुक्का मार कर सिद्ध कर दिया कि और कोई नाश परनिमित्तक मानों या न मानों पर मुक्के से होनेवाला नाश तो परनिमित्तक मानोगे ही।

मृगाक्षजी से मैंने पूछा कि आप इसका उत्तर दें तो उनने कहा कि ऐसा उत्तर तो कलतक मिल सकेगा। पर रात में उनने कुलकर के बेटे की हत्या करदी। और दूसरे दिन न्याय-सभा में आकर कहा कि-मैंने कुलकर के तर्क का उत्तर दिया है। क्योंकि कुलकर नित्यवादी है, ये किसी वस्तु का नाश नहीं मानते, इसलिये इन्हें सन्तोष रखना चाहिये कि इनके बेटे का नाश नहीं हुआ, और नाश हुआ है तो ये अपने पक्ष को छोड़दें, और मेरे द्वारा हुए पुत्रवध को मेरे पक्ष की युक्ति समझें।

मुझे वह मामला स्थगित करना पड़ा।

इसी तरह एक दूसरा मुकद्दमा भी है। इसमें वादी प्रभाकर देव शर्मा हैं जो अद्वैतवादी हैं प्रतिवादी है आचार्य कौलिक, जो एक द्वैतवादी पण्डित हैं। कौलिक ने अद्वैतवाद की निःसारता बताने के लिये प्रभाकर की पत्नी के साथ व्यभिचार किया। और कहा कि यदि अद्वैत सत्य है तो स्वपत्नी पर पत्नी का भेद क्यों? इसके उत्तर में प्रभाकर देव ने कौलिक का सिर फोड़ दिया और कहा कि द्वैतवाद के अनुसार शरीर और आत्मा जुदे-जुदे तत्व हैं, इसलिये सिर फोड़ने से कौलिक की कुछ भी हानि नहीं हुई है।

आखिर मुझे यह मुकद्दमा भी स्थगित करना पड़ा है। समझ में नहीं आता कि इन लोगों को कैसे ठिकाने लगाया जाय, और नीति की रक्षा कैसे की जाय?

श्रेणिक की यह किंकर्तव्यविमूढ़ता देखकर मैंने कहा-यदि ये चारों पंडित अपने एकान्त पक्षपर इसीप्रकार दृढ़ हैं और उसे व्यवहार में भी लाते हैं तब आप उन्हें न्यायोचित दण्ड दें। यदि वे अपने सिद्धांत में इसी प्रकार दृढ़ हैं तब उन्हें मृत्युदण्ड भोगने में भी आपत्ति न होना चाहिये। क्योंकि मृत्युदण्ड पाने पर भी कुलकर की नित्यता में कोई अन्तर न आयगा, और मृगाक्ष तो क्षणिक-

वाद के अनुसार प्रतिसमय मर ही रहा है, इसलिये उसे भी मरने में कोई आपत्ति न होगी। प्रभाकर देव के लिये मृत्युदण्ड माया ही होगा, और कौलिक को तो शरीर से सम्बन्ध ही क्या है? जब कि आपका दण्ड शरीर पर ही प्रभाव डालनेवाला है। इसप्रकार दण्ड सुनाकर आप आठ दिन का उन्हें अवसर दीजिये। देखिये फिर आठ दिन में क्या होता है।

२३ धामा ९४४९ इ. सं.

आज वे चारों पंडित मेरे पास आये थे। उनके साथ राजा के पहिरेदार भी थे। उनसे मालूम हुआ कि उन्हें चार दिन में मृत्युदण्ड दिया जायगा। उन्हें पहिरे के भीतर रहकर अमुक क्षेत्र में आने जाने की और मिलने जुलने की स्वतन्त्रता है। वे मृत्युदण्ड से दुखी थे, और बचने के लिये मेरी शरण में आये थे।

मैंने कहा—जब आप लोग अपने अपने सिद्धांत में पक्के हैं, और आपके सिद्धांतों के अनुसार मृत्युदण्ड से कुछ परिवर्तन नहीं होता तब आप लोग मृत्युदण्ड से डरते क्यों हैं?

उनने कहा—भगवन् हम भूल में हैं। परन्तु समझ में नहीं आता कि हमारी भूल क्या है? तर्क हमें धोखा देरहा है।

मैं—तर्क धोखा नहीं देता, मनुष्य स्वयं अपने को धोखा देता है। लोग तर्क को अपने अहंकार का दास बनाना चाहते हैं इससे धोखा खाते हैं। तर्क का अधूरा उपयोग किया जाता है। इसलिये व्यवहार में आकर वह लँगड़ाकर गिर पड़ता है। तर्क कहता है कि सत् का विनाश नहीं होता, इसलिये वस्तु नित्य है। परन्तु जीवन में और मृत्यु में जो अन्तर है, एक को हम चाहते हैं, और दूसरे से डरते हैं, इसका भी तो कुछ कारण है। इससे यही मालूम होता है कि वस्तु एक अंश से नित्य है और

एक अंश से अनित्य, एक अंश से समान या अभिन्न है और दूसरे अंश से विशेष या भिन्न। इस प्रकार वस्तु तो अनेक-धर्मात्मक है, और आप लोग एक ही धर्म को पकड़कर रह जाते हैं, इससे व्यवहार में असंगति आजाती है और इसका फल आप लोग देख ही रहे हैं।

इसके बाद मैंने उन्हें अनेकांत सिद्धांत पर विस्तार से समझाया।

पंडितों ने कहा—अब हम अपनी भूल अच्छी तरह से समझ गये गुरुदेव। अब हम इस सचाई को पाकर मर भी जायँ तो भी समझेंगे कि घाटे में नहीं हैं।

इतने में राजा श्रेणिक आपहुँचे। मैंने कहा राजन्, आपका काम हो चुका, इनको प्राणदण्ड मिल चुका और इनका पुनर्जन्म भी होगया।

श्रेणिक ने आश्चर्य से पूछा-यह क्या रहस्य है भगवन।

मैंने कहा-रहस्य कुछ नहीं है सीधी बात है। जो एकांतवादी कुलकर, मृगाक्ष, प्रभाकर और कौलिक एकांतवाद के कारण अपना और जगत् का अकल्याण कर रहे थे वे मर चुके, अब उनने स्याद्वादी बनकर नये रूप में जन्म लिया है अब इन्हें दण्ड देने की क्या जरूरत? जब पापी का पाप मरगया तब पापी कहां रहा, जिसे दण्ड दिया जाय?

श्रेणिक—बहुत ठीक किया भगवन आपने। आपका न्याय एक राजा के न्याय से बहुत ऊंचा है बहुत कल्याणकारी है।

८३—परिचित की ईर्ष्या

१७ सत्येशा ९४५० इ. सं.

आर्द्रक मुनि ने गोशालक के साथ हुई चर्चा का विवरण दिया। मेरे बढ़ते हुए प्रभाव से गोशालक का हृदय ईर्ष्या

से अशान्त हो गया है। वह छः वर्ष मेरे साथ रह चुका है। प्रारम्भ में उसे मेरे विषय में बड़ी भक्ति थी पर जब उसने देखा कि मैं उसके ऐहिक स्वार्थ के लिये उपयोगी नहीं हूं तब उसने साथ छोड़ दिया। उस समय उसे कल्पना नहीं थी कि किसी दिन मेरा प्रभाव बढ़ सकता है, मेरा सत्यसन्देश फैल सकता है। उसने मुझे एक तरह से साधारण मनुष्य समझकर छोड़ दिया था। पर आज साधारण को असाधारण रूप में देखना पड़ रहा है, और अपनी उस भूलको वह समझना नहीं चाहता है।

यह रोग प्रायः सभी परिचितों में होता है। विकास के पहिले अधिक परिचितों का होना भी एक दुर्भाग्य है। क्योंकि उस समय के जितने अधिक परिचित होंगे ईर्ष्यालुओं की संख्या भी उतनी अधिक होगी। इसलिये अविकास के बारह वर्षों में मैंने किसी से परिचय बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया, पर यह गोशाल प्रारम्भ से ही परिचय में आगया इसलिये यह सब से बड़ा ईर्ष्यालु बन बैठा है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। मनुष्य पहिले पहल किसी दूसरे मनुष्य से जिस रूप में परिचित होता है प्रायः उसी रूप में उसे वह जीवनभर देखना चाहता है। अगर कोई दूसरा मनुष्य एक दिन अपने बराबर का या नाममात्र के अन्तर का हो, और पीछे वह अधिक विकसित होजाय, अपनी योग्यता तथा व्यक्तित्व से उसकी योग्यता और व्यक्तित्व इतना अधिक बढ़जाय जितने की उसे आशा नहीं थी तो इस बात में उसे अपमान का अनुभव होता है और इस कारण वह दूसरे मनुष्य की महत्ता अस्वीकार करता है और साथ ही वह अस्वीकारता उचित समझी जाय इसलिये वह दूसरे के व्यक्तित्व को गिराने की पूरी चेष्टा करता है, निन्दा करता है, इच्छापूर्वक

अुपेक्षा करता है। अगर योग्यता की निन्दा नहीं कर सकता तो योग्यता की सफलता में दुरभिसन्धि की कल्पना करके उसकी निन्दा करता है। यह है तो बुरी बात, पर साधारण मनुष्यों में प्रायः पाई जाती है। गोशाल ने भी आर्द्रक के साथ छेड़छाड़ करके अपनी इसी मनोवृत्ति का परिचय दिया।

उसने आर्द्रक से कहा—आर्द्रक, जरा सुनो तो। तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पहिले तो बड़े एकांतप्रिय और मौनी रहते थे, और अब यह क्या तमाशा मचा रक्खा है कि बड़ी बड़ी साधुमण्डली और सभाओं में बैठकर उपदेश फटकारते हैं. लोगों को प्रसन्न करते हैं, अब वे इस धन्धे के चक्कर में क्यों पड़गये ?

आर्द्रक—यह धन्धा नहीं है श्रमण, किन्तु जिस सत्य का प्रभुने साक्षात्कार किया है उसे जगत को देने का अुपकार है।

गोशाल—बहुत दिनों बाद सूझा यह उपकार। पर ऐसे बहुरूपिया का कौन सा जीवन ठीक समझा जाय ? पहिले का एकांतमय निर्दोष जीवन या आजकलका कोलाहलपूर्ण अशान्त जीवन। मैं तो समझता हूं कि उनका पहिला जीवन ही पवित्र था, अगर वे अुससे ऊब न जाते तो बहुत कल्याण करते।

आर्द्रक—कल्याण तो उनका होगया, अब तो जगत-कल्याण की बारी है। अुनकी एकांत साधना जगत कल्याण के लिये ही तो थी, जब साधना हो चुकी तब उसके द्वारा जगत-कल्याण न करते तो उनकी साधना व्यर्थ होजाती। एक आदमी अकेले में बैठकर भोजन पका सकता है पर खिलाने के लिये तो भोजन के परिमाण के अनुरूप अधिक मनुष्य बुलाता ही है। प्रभु ने जो अनन्त ज्ञान का भंडार पाया है उसका वितरण वे मनुष्य-

मात्र को कर रहे हैं इसमें बुराई क्या है ? और धंधा किस बात का ?

गोशाल—यदि तुम्हारे धर्माचार्य ऐसे ही समर्थ ज्ञानी हैं तो सब के साथ उन अतिथिशालाओं में क्यों नहीं ठहरते हैं, सम्भवतः जानते हैं कि सब में ठहरने से चर्चा होगी और उन्हें निरुत्तर होना पड़ेगा।

आर्द्रक—क्या हास्यास्पद बात करते हो श्रमण, किसान झाड़ झंखाड़ों में बीज नहीं बोता अच्छी जमीन में बीज बोता ह, इसका यह कारण नहीं है कि किसान की कुल्हाड़ी झाड़ झंखाड़ों को काट नहीं सकती ? पर काट करके भी वहां डालागया बीज निष्फल जायगा इसलिये वह साफ खेतों में बीज डालता है। प्रभु ने जो सत्य पाया है वह मल्लयुद्ध करने के लिये नहीं, किंतु जगत का कल्याण करने के लिये। इसलिये कल्याणेच्छु जनता को वे सत्यका सन्देश देते हैं। यों कोई कैसा ही प्रश्न या प्रश्न-जाल करे वे उसे उसी तरह निर्मूल कर देते हैं जैसे किसान अन्न के पौधों के बीच में ऊगे हुये घास फूस को उखाड़ फेंकता है।

यह सुनकर गोशालक मुँह मटकाकर चला गया। और आर्द्रक ने आकर वह विवरण मुझे सुनाया।

मनुष्य-प्रकृति कैसी आश्चर्यजनक है। जो गोशाल मेरे साथ अत्यन्त विनीत था, लाड़ प्यार के बच्चे के समान बना हुआ था, समय समय पर मेरी प्रशंसा के पुल बांधता था. आज कितना कृतघ्न और निंदक बनगया है। मेरे पास से ली हुई ज्ञान सामग्री को तोड़-मरोड़कर ऊपर से नाममात्र का ननुनच लगाकर अपनी छाप लगाता है। अपनी तुच्छता पर तो महत्ता की छाप लगाता है, और पूर्वपरिचित होने के कारण मेरी प्रगट महत्ता को अस्वीकार करता है।

पर वह कितना भी कृतघ्न बने, कितना भी ज्ञानचोर बने वास्तविक महत्ता उसे न मिलेगी, जीवन के अन्त में अुसे पछताना पड़ेगा। समान क्षेत्र में काम करने वाले परिचित लोग ईर्ष्यालु बनकर इसी प्रकार सत्य-विद्रोही बनजाते हैं।

८४—मृगावती की दीक्षा

२० मम्मेशी ९४११ इतिहास संवत्

अपना १९ वां चातुर्मास भी मैंने राजगृह में किया। फिर आलभिका होते हुए कौशाम्बी पहुँचा जहां मृगावती आदि ने दीक्षा ली, और इससे हजारों मनुष्यों की हत्या बचगई।

अुज्जयिनी का राजा चंडप्रद्योत मृगावती के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर कौशाम्बी पर चढ़ आया था। इसी समय मृगावती का पति शतानिक राजा अतिसार से बीमार होकर मर गया था। राजकुमार उदयन छोटा था। मृगावती ने छल से कहा कि अभी तो मैं नवविधवा हूं इसलिये शादी नहीं कर सकती, और राजकुमार भी छोटा है इसलिए नगरी नहीं छोड़ सकती, पर नगरी की रक्षा का प्रबन्ध होजाय तो मैं तुमसे विवाह कर लूंगी, तब तक वैधव्य को भी काफी दिन हो जायँगे इसप्रकार लोकलाज से भी रक्षा होगी। चंडप्रद्योत मृगावती की इन बातों में आगया और उसने चारों तरफ का कोट मजबूत करा दिया और नगर में खाद्यान्न का संग्रह भी अच्छा करवा दिया। तब मृगावती ने उसे धुतकार दिया और उज्जयिनी से गड़बड़ी के समाचार आने से अुसे वापिस जाना पड़ा।

परन्तु मृगावती को पाने का इरादा उसने न छोड़ा। मृगावती की चालाकी से भी वह क्रुद्ध होगया था। इसलिए बड़ी भारी सेना लेकर उसने फिर नगर घेर लिया और इसी अवसर पर मैं कौशाम्बी पहुँचा। चण्डप्रद्योत मेरे दर्शन को भी आने लगा।

इस समाचार से चतुर मृगावती ने आत्मरक्षा का उपाय ढूंढ निकाला। अुसने नगर के फाटक खोलदिये और बालक राजकुमार को लेकर मेरे दर्शन को आई। चण्डप्रद्योत भी वहीं बैठा था। इस अवसर को लक्ष्य में रखकर, और चण्डप्रद्योत को पाप से निवृत्त करने के लिये मैंने प्रवचन किया—

बहुत से पुरुष सौन्दर्य के आकर्षण में पड़कर जिस किसी स्त्री की तरफ खिंच जाते हैं और स्त्री की भावना का खयाल नहीं रखते। पर वे यह नहीं सोचते कि जिस स्त्री पर वे बलात्कार करना चाहते हैं वह पहिले जन्म की मां भी होसकती है, बहिन भी होसकती है, पुत्री भी होसकती है। और नारी के ऊपर अत्याचार करने से अगले जन्म में अुन्हें भी नारी बनकर अत्याचारों का शिकार बनना पड़ सकता है। इस विषय में एक श्रीमन्त सुनार की कथा है—

चम्पा नगरी में एक धनी सुनार रहता था। वह अत्यन्त कामुक तथा सौन्दर्य लोलुपी था। जिस किसी सुन्दर स्त्री को देखता, पैसे के बलपर शादी कर लेता। इसप्रकार उसके पास पांचसौ पत्नियाँ होगईं। वह प्रतिदिन एक एक स्त्री को अपने पास बुलाता था। इसप्रकार बहुत दिनों बाद स्त्री का नम्बर आता था। इसलिये अुसे सन्देह रहता था कि ये स्त्रियाँ व्यभिचारिणी न होजायँ इसलिये उनको वह भीतर बन्द रखता था और दरवाजे पर पहरा देता था। दिनको भी कहीं न जाता था। एक दिन किसी जरूरी काम से उसे बाहर जाना पड़ा, बेचारी स्त्रियों को कुछ स्वतन्त्रता मिली और उसदिन अुनने खूब ऊधम मचाया। सुनार जब आया तो उसे स्त्रियों को ऊधम करते देखकर बड़ा क्रोध आया और एक स्त्री को पकड़कर उसने उसे इतना मारा कि वह बेहोश होकर मरगई। बाकी स्त्रियों ने जब यह देखा तब उन्हें बड़ा क्रोध आया और सबने

मिलकर उस सुनार को मार डाला। और अन्त में उसकी लाश के साथ स्वयं भी जल मरीं। मरकर वे सब की सब पुरुष हुईं और सुनार मरकर स्त्री हुआ और जिस स्त्री को उसने मारा था वह स्त्री उसका भाई हुई।

वे सब स्त्रियाँ डकैत हुईं। और सुनार की आत्मा जो स्त्री बनी थीं वह कुलटा होगई। एक बार उन पांचसौ डकैतों ने नगर लूटा और उस कुलटा को भी लूट लेगये। सब डाकुओं ने उस कुलटा के साथ बलात्कार किया इससे वह मर-कर दुर्गति में गई। इसप्रकार उस सुनार को नारी के प्रति अत्याचार करने से जन्म जन्म तक फल भोगना पड़ा। इसलिये हरएक पुरुष को चाहिये कि वह पुरुषत्व के मद में आकर नारियों को उनकी अुचित इच्छा के विरुद्ध बन्धन में न डाले अन्यथा कर्मप्रकृति का अमोघ दण्ड उसे भोगना पड़ेगा।

मेरा प्रवचन सुनकर रानी मृगावती अुठी और अुसने निवेदन किया कि मैं राजा चण्डप्रद्योत की अनुमति से साध्वी दीक्षा लेना चाहती हूं और आशा करती हूं कि बालक राजकुमार उदयन के राज्य की रक्षा राजा चण्डप्रद्योत करेंगे।

सब पर मेरे प्रवचन का रंग जमा हुआ था, ऐसे वातावरण में चण्डप्रद्योत इनकार नहीं कर सकता था। उसने रानी मृगावती को अनुमति दी और अुदयन के राज्य की रक्षा का भी वचन दिया।

इसप्रकार एक बड़ा युद्ध टलगया और दो राज्यों में स्थायी मैत्री होगई।

८५—शब्दालपुत्र

२४ सत्येशा ६४५२ इ. सं.

कौशाम्बी के आसपास भ्रमण कर मैं बीसवां चातुर्मास

बिताने के लिये वैशाली गया। वहां से उत्तर विदेह की तरफ जाकर मिथिला काकन्दी आदि की ओर विहार किया, काकन्दी में धन्य सुनक्षत्र आदि को दीक्षा दी। उसके बाद पश्चिम की ओर विहार कर श्रावस्ती आदि होता हुआ लौटकर पोलासपुर आया। वहां शब्दालपुत्र नाम का एक श्रीमन्त कुम्हार रहता है, वह आजीविकोपासक बनगया है। मेरे साथ रहते रहते जीवन के अधूरे अध्ययन से गोशाल में जो दैववाद समागया था उसी के आधार से इसने एक तीर्थ खड़ा कर लिया है। और उस तीर्थ में बड़े बड़े श्रीमन्त भी सम्मिलित होगये हैं। दैववाद में वृथा आत्मसन्तोष को पर्याप्त अवकाश होने से हर तरह के मनुष्य चले जाते हैं। कायर और परिग्रही लोग तो विशेष रूप में चले जाते हैं। कायरों को अपनी कायरता छिपाने का, और बहुपरिग्रहियों को अपनी वैधानिक लूट छिपाने का, दैववाद अच्छा सहारा है।

कायर तो यह सोचते हैं कि मनुष्य के हाथ में है ही क्या, जो कुछ भाग्य में बदा है और पहिले से नियत है वह अवश्य होगा इसलिये कुछ करने धरने की बात व्यर्थ है। इस-प्रकार कायरों को अपनी कायरता की कोई लज्जा नहीं रहती।

श्रीमन्त लोग धन के लिये जो पाप करते हैं, उसके लिये भी वे दैववाद के कारण लज्जित नहीं होते। वे सोचते हैं, जो कुछ होरहा है उस में अपना क्या अपराध? यह सब तो पहिले से नियत था। हजार पुरुपार्थ करके भी मैं इसे बदल नहीं सकता था। तब जो हुआ या होरहा है उसका उत्तर-दायित्व मेरे ऊपर क्या है?

इसप्रकार दैववाद जीवन सुधार का शत्रु है और पापियों को पाप छिपाने के लिये सहारा है। इसलिये बहुत से

कायर, तथा श्रीमन्त लोग दैववादी नियतिवादी या आजीवक बनजाते हैं।

कहने को तो वे यह कह दिया करते हैं कि इससे हमें शांति मिलती है, और सचमुच उन्हें शांति का अनुभव होता है, यही शांति खरीदने के लिये वे दैववादियों या नियतिवादियों को पूजा भेंट दिया करते हैं। पर यह शांति नहीं है जड़ता है। जीवन का घोर पतन है।

एक मनुष्य मरकर अगर झाड़ होजाय तो उसकी संवेदन शक्ति घट जायगी, उसे जीने मरने की, कर्तव्य अकर्तव्य की, कोई चिन्ता न रहेगी। कहा जासकता है कि मनुष्य मरकर वृक्ष होगया तो बड़ी शांति का अनुभव हुआ, पर क्या इस जड़ता को शांति कह सकते हैं ?

एक मनुष्य मद्य पीकर नशे में चूर होजाय, तो उसे भी कोई चिन्ता न रहेगी, और वह कहेगा कि मुझे बड़ी शांति का अनुभव हुआ, पर क्या यह जड़ता शांति है ?

मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, अपने पापमय या पतनमय जीवन में भी शांति सन्तोष का अनुभव करने लगे तो उसके लिये यह आशीर्वाद की बात नहीं, किंतु बड़े से बड़े अभिशाप की बात होगी। दैववाद या नियतिवाद का प्रचार करनेवाले लोग मनुष्यों पर इसी तरह अभिशाप की वर्षा कर रहे हैं। भले ही वे इसके लिये कैसा भी अच्छा नाम क्यों न दे देते हों।

बेचारा शब्दालपुत्र इसी दैववाद का शिकार होकर आजीवक बन गया है। मैंने सोचा—यह महर्द्धिक है अगर इसका उद्धार होजाय तो इसके साथ बहुतों का उद्धार होजायगा।

इसमें सन्देह नहीं कि शब्दालपुत्र भद्र है। वह मेरे पास भ्रम से ही आया, फिर भी उसने भद्रता दिखाई और अपनी भाण्डशाला में ठहरने का मुझे निमन्त्रण दिया। और मैंने भी उसे स्वीकार कर लिया।

भाण्डशाला में सैकड़ों लोग काम करते थे। कोई मिट्टी लाता था, कोई साफ करता था, कोई सानता था, कोई चक्रपर घुमा घुमाकर भाण्ड बना रहा था, कोई सुखाने के लिये रख रहा था। शब्दालपुत्र उन सब का निरीक्षण कर रहा था। मैंने उससे कहा-शब्दालपुत्र, तुम्हारे यहां जो इतने भाण्ड बनते हैं वे सब तुम्हारे प्रयत्न से बनते हैं या आपसे आप बनजाते हैं। आखिर इतने आरम्भ समारम्भ का उत्तरदायित्व किस पर?

शब्दालपुत्र ने शुक की तरह रटा हुआ पाठ सुना दिया-सब नियतिबल से बनते हैं भगवन्! सब पदार्थ नियत स्वभाव हैं, उसमें निमित्त क्या कर सकता है? निमित्त आखिर पर है, पर अगर स्व में कुछ करने लगे, घुसने लगे, तो पदार्थ का स्वभाव ही नष्ट होजाय अर्थात् पदार्थ ही न रहे। इसलिये जो कुछ होता है वह अपने स्वभाव के अनुसार स्वयं नियतिबल से होता है, पुरुष प्रयत्न या परनिमित्त से कुछ नहीं होता। इसलिये इस आरम्भ समारंभ का उत्तरदायित्व किसी पर नहीं है। या उन्हीं पदार्थों पर है जिनमें वह परिवर्तन होरहा है, जो उन क्रियाओं के उपादान कारण हैं।

मैं- अगर कोई पुरुष लगुड़ लेकर ये सब भाण्ड फोड़ने लगे, या तुम्हारी स्त्री के ऊपर बलात्कार करने लगे तो सच कहो शब्दालपुत्र, क्या तुम इन कुकार्यों का उत्तरदायित्व उसपर न डालकर, नियति पर डालोगे? उसे किसी तरह का दंड न दोगे, इसे नियति कार्य मानकर शांत रहोगे?

शब्दालपुत्र कुछ रुका, फिर बोला—शांत तो न रह सकूंगा भगवन्: अुसे पूरा दंड दूंगा, पीटूंगा या प्राण ही लेलूंगा।

मैं- इसका तो तात्पर्य यह हुआ कि तुम उसे उसके कार्य का उत्तरदायी मानोगे। पर जब हर एक कार्य नियत हैं तो उसे उत्तरदायी क्यों मानना चाहिये ? क्या नियतिवाद का यही अर्थ है कि मनुष्य अपने पापोंको नियतिवाद के नाम पर ढकदे और दूसरे के पापों का बदला देने के लिये नियतिवाद को भुलादे। शब्दालपुत्र, अगर तुम नियतिवाद मानकर चलो तो जीवन में कितने पाद चल सकते हो, और जगत की व्यवस्था किस प्रकार कर सकते हो ?

शब्दालपुत्र- नहीं कर सकता प्रभु, मैं अब समझगया कि नियतिवाद एक तरह की जड़ता की राह है, दम्भ है, अपने पापमय और पतनमय जीवन के उत्तरदायित्व से बचने के लिये एक ओट है। यह बहुत बड़ी आत्मवञ्चना और परवञ्चना है प्रभु।

मैं- आत्मवञ्चना से अपनी आंखों में धूल झोंकी जासकती है शब्दालपुत्र, परवञ्चना से जगत् की आंखों में धूल झोंकी जासकती है, पर जगत की कार्य कारण व्यवस्था की आंखों में धूल नहीं झोंकी जासकती। नियतिवाद की ओट लेकर जो आलसी कायर अकर्मण्य बनेगा वह निगोद वनस्पति आदि दुर्गतियों में जायगा। जो नियतिवाद की ओट लेकर पापी बनेगा, पाप छिपायगा वह नरक आदि दुर्गतियों में जायगा। वह नियतिवादी था इसलिये परलोक में अपनी जड़ता और पापशीलता के उत्तरदायित्व से न बच पायगा।

शब्दालपुत्र- नहीं बच पायगा प्रभु, सचमुच नहीं बच-पायगा। अब मैं आपका शरणागत हूं प्रभु, मुझे आप अपने

उपासक रूप में ग्रहण करें।

यह कहकर शब्दालपुत्र ने अपना सिर मेरे पैरों पर रख दिया।

८६ — पत्नी का अपमान

६ हुंगी ९४५३ इतिहास संवत्

पोलासपुर से भ्रमण करता हुआ इक्कीसवां चातुर्मास विताने के लिये वाणिज्यग्राम आया इसके बाद मगध की ओर विहार कर राजगृह आया। यहां कुछ पार्श्वापत्यों को अनेकांत दृष्टि से लोक अलोक का वर्णन सुना था। महाशतक ने भी यह वर्णन सुना और इससे वह बहुत प्रभावित हुआ। तब उसने श्रमणोपासक दीक्षा ली।

राजगृह में प्रचार की दृष्टि से मैं बहुत दिन ठहरा और अपना बाईसवां वर्षावास भी राजगृह में किया।

कल मुझे समाचार मिला कि महाशतक ने प्रोषधशाला में बैठ बैठे अपनी पत्नी को नरक जाने का अभिशाप दिया है। यह ठीक नहीं हुआ। पति पत्नी को एक दूसरे के प्रति आदर का व्यवहार करना चाहिये। तथ्यपूर्ण बात भी कटुता के साथ नहीं कहना चाहिये। खासकर प्रोषधशाला में तो चित्त बहुत शांत रखना चाहिये। यह माना कि रेवती ने प्रोषधशाला में जाकर पति से काम-याचना की थी। यह याचना अनवसर और अस्थान में थी, फिर भी इस कारण से महाशतक को अपने मनका सन्तुलन नहीं खोना चाहिये था।

मैंने गौतम को बुलाकर कहा—गौतम, तुम महाशतक के पास जाओ और कहो कि 'तुमने एक श्रमणोपासक होकर और प्रोषधशाला में बैठकर पत्नी को जो गाली दी वह ठीक नहीं किया। इसका तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिये।

गौतम के द्वारा मेरा सन्देश पाकर महाशतक ने प्रायश्चित किया। और इस बात के प्रति कृतज्ञता प्रगट की कि भगवान अपने शिष्य की जीवन शुद्धि का बड़ा ध्यान रखते हैं।

८७- स्कन्द परिव्राजक

१८ चन्नी ९४५३ इतिहास संवत्

राजगृह से वायव्य दिशा में विहार करता हुआ कचंगला नगरी के छत्रपलास चैत्य में ठहरा। यहां स्कन्द परिव्राजक मिलने आया।

स्कन्द का इन्द्रभूति से पुराना परिचय था। वह जिज्ञासु था। उसके कुछ प्रश्न थे—

उसने पूछा-लोक सान्त है या अनन्त ?

मैंने कहा-द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है। परन्तु काल और भाव की दृष्टि से अनन्त है।

स्कन्द-और जीव ?

मैं-जीव भी द्रव्य क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है और काल भाव की दृष्टि से अनन्त।

स्कन्द-और मुक्ति ?

मैं-मुक्ति भी द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टिसे सान्त है और कालभाव की दृष्टि से अनन्त।

स्कन्द-भगवन्, मरण कौनसा अच्छा ?

मैं-पंडित मरण अच्छा, बालमरण बुरा। जो मरण जीवन के कर्तव्य पूर्ण कर, जीवन को निष्पाप रखकर शान्ति के साथ होता है, जिसमें मृत्यु का भय नहीं होता, किन्तु अपना कर्तव्य करके विदा लेने का भाव होता है वह पण्डित मरण है। किन्तु जो मरण जीवन को पापमय बनाकर आशा तृष्णा से रोते और

दुःखी होते हुए होता है वह बाल मरण है, वह बुरा है।

स्कंद को इससे बहुत सन्तोष हुआ। उसने कहा-भगवन्, मैं पंडित मरण मरना चाहता हूं इसलिये आपके शिष्यत्व में श्रमण धर्म स्वीकार करता हूं।

मैंने कहा-जिसमें तुम्हें सुख हो वही करो।

८८—जमालिकी जुदाई

२७ चिंगा ६४५४ इ. सं.

छत्रपलास चैत्य से निकलकर मैं श्रावस्ती आया। कोष्ठक चैत्य में ठहरा। यहां नान्दिनीपिया तथा उसकी पत्नी अश्विनी और सालिहीपिया और उसकी पत्नी फाल्गुणी ने उपासकता स्वीकार की। वहां से विदेह की तरफ आया और वाणिज्य ग्राम में तेईसवां वर्षावास पूर्ण किया। वहां से ब्राह्मण-कुंड आया। यहां आज एकान्त में जमालि मेरे पास आया और बोला-अब मैं अपने संघ के साथ अलग विहार करना चाहता हूं भगवन्!

मैं—सो किसलिये ? ?

जमालि—इसलिये कि संघ में मेरा उचित मान नहीं है। मैं आपका जमाई हूं, कुलीन हूं, ज्ञानी हूं, पर मुझे अभी तक केवली घोषित नहीं किया गया, न गणधर का पद दिया गया।

मैं—केवली होने का सम्बन्ध अपने आत्मविकास से है, मेरी नातेदारी से नहीं। और गणधर होने के लिये विशेषमात्रा में श्रम और लगन चाहिये।

जमालि—तो मेरे आत्मविकास में क्या कमी है ?

मैं—अपने को केवली घोषित कराने के लिये जो तुम मेरे ऊपर इतना जोर डाल रहे हो यही कमी क्या कम है। केवली

इस तरह अपने गुरु के सामने मांग पेश नहीं करता।

जमालि—मांग न करूं तो क्या करूं? आपने मुझे कोई चीज अपने आप दी है? आपने गौतम की हजार बार प्रशंसा की, मेरी एक बार भी की? यश सन्मान स्नेह आप गौतम के ऊपर उडे़लते रहते हैं, पर मुझे कभी पूछते भी हैं?

मैं—गौतम की सेवाएँ जितने यश सन्मान के योग्य हैं गौतम को उतने की भी पर्वाह नहीं है इसलिये मुझे उसकी पर्वाह करना पड़ती है। पर तुम्हें जितना मिलना चाहिये उतना या उससे कुछ अधिक तुम अपने आप ले लेते हो तब बच ही क्या रहता है जो तुम्हें दूं।

जमालि—आपको मेरी योग्यता का पता नहीं है भगवन्, मैं तार्किक हूं, वक्ता हूं निर्माता हूं, गौतम तो रटने में ही होश्यार है। फिर भी आपने उन्हें गणधर बना रक्खा है और मेरी अवहेलना की है।

मैं—तुम जिसे गौतम की अयोग्यता समझ रहे हो वह गौतम की अयोग्यता नहीं श्रुतसेवा है। गौतम श्रुतकी रक्षा करना चाहते हैं और तुम उसपर अपने नाम की छाप लगाने के लिये विकृत करना चाहते हो।

जमालि के चेहरे पर लज्जा और रोष दोनों का मिश्रण पुतगया। क्षणभर चुप रहकर वह बोला—आप जो चाहे समझिये। पर मैं अब इस संघ में रह नहीं सकता।

मैं—चुप रहा।

जमालि—चलागया।

२८ चिंगा ९४५४ इ. सं.

आज गौतम से मालूम हुआ कि कल जमालि मेरे पास

से गौतम के पास गया था और गौतम को भड़काने की, विद्रोही बनाने की पूरी चेष्टा की थी। उसने गौतम से कहा था—

अब मैं बाहर जारहा हूं। जो सत्य मुझे चाहिये था वह मैंने ले लिया। अब मैं यहाँ कैद होकर नहीं रुक सकता, मैं आगे बढ़ूंगा।

गौतम—बात तो अच्छीसी कह रहे हो जमालि, बताओ तो वह कौनसा सत्य है जिसे पाने के लिये तुम संघ छोड़ रहे हो और जो तुम्हें यहां नहीं मिल रहा है। और भगवान् के सन्देश में वह कौनसा असत्य है जो तुम्हें खटक रहा है।

जमालि—सब से बड़ी खटकनेवाली बात है भगवान की अधिनायकता। आवश्यकता इस बातकी है कि संघमें सब का अधिकार हो। सब की बात सुनी जाय और बहुमत से निर्णय हो। अकेले भगवान की ही न चलना चाहिये सब की चलना चाहिये। राजनैतिक क्षेत्र में मगध में गणतन्त्र है जिसमें सभी का अधिकार है तब धार्मिक क्षेत्र में क्यों नहीं?

गौतम—धार्मिक क्षेत्र एक पाठशाला के समान है जहां सत्यासत्य के बारेमें अध्यापक की बात मानी जायगी छात्रों के बहुमत की नहीं। अथवा धार्मिक क्षेत्र चिकित्सालय के समान है जहां चिकित्सा के निर्णय में वैद्य की बात मानी जायगी रोगियों के बहुमत की नहीं। हां! रोगी उस वैद्य से चिकित्सा कराने न कराने के लिये स्वतन्त्र है, छात्र अध्यापक से पढ़ने न पढ़ने के लिये स्वतन्त्र है। राजनीति में यह बात नहीं है। मनुष्य को राज्य का हुक्म मानना अनिवार्य है इसलिये राज्य के बारे में उसका मताधिकार भी जन्मसिद्ध है। पर भगवान का शिष्य बनना अनिवार्य नहीं है जिससे वहां जन्मसिद्ध मताधिकार मिलजाये। यह तो राजी राजी का सौदा है। इच्छा हो लो, न

इच्छा हो न लो। इसमें भगवान की अधिनायकता का प्रश्न ही नहीं है।

जमालि-पर दूसरों की भी तो सुनना चाहिये।

गौतम—जिसप्रकार वैद्य रोगी की बात सुनता है उस तरह सुनी ही जाती है। पर रोगी को वैद्य मानकर नहीं चला जाता।

जमालि—क्या हम रोगी हैं ?

गौतम-हां, जीवन की चिकित्सा कराने के लिये ही तो हम यहां आये हैं। भगवान के ऊपर दया करके नहीं आये हैं, अपने ऊपर दया करके आये हैं।

जमालि- इसीलिये तो भगवान को घमंड होगया है। वे कहते थे कि मैं अकेला ही सन्तुष्ट हूं। जो मेरा साथ देने में अपना भला समझे, वह साथ दे, जो भला न समझे वह न दे।

गौतम- यह ठीक ही कहा था। भगवान किसी के गले नहीं पड़ते। उनने अन्तरंग बहिरंग तपस्या वर्षों की, और उससे जो सत्य की खोज की वह जगत को देरहे हैं। लेने में जबर्दस्ती नहीं है। जिसे लेना हो ले, न लेना हो न ले। इस बात में तो भगवान की निस्पृहता दिखाई देती है। घमण्ड का इससे क्या सम्बन्ध ?

जमालि—पर हम लोगों के शब्दों का कोई मूल्य न रहा।

गौतम—भगवान किस किस के शब्दों का मूल्य करें। जगत में मिथ्यात्वी बहुत हैं इसीलिये क्या मिथ्यात्वियों के शब्दों का मूल्य करके सम्यक्त्व छोड़ दें।

जमालि- मैं मिथ्यात्वियों की बात नहीं कहता पर अपने संघ के लोगों की बात कहता हूं।

गौतम—संघ में क्या मिथ्यात्वी नहीं होते? जहां जो भूल करता है वहां वह अुतने अंश में मिथ्यात्वी ही है। अगर वे मिथ्यात्वी अपनी बात पर अड़जायँ तो सत्य की तो बुट्टी बुट्टी लुटजाय।

जमालि- पर एक आदमी जितनी भूल कर सकता है उतनी भूल बहुत आदमी नहीं कर सकते।

गौतम—हम संघ में जितने आदमी हैं उन सब को वह सत्य क्यों नहीं सूझा जो अकेले भगवान को सूझ गया था। हम सब बहुत थे फिर भी भूल में थे, और भगवान अकेले थे फिर भी सत्यमय थे। जांच परखकर हम सब भगवान की तरफ झुके। क्या अब भी सन्देह है कि हम सब के सत्य की अपेक्षा भगवान का सत्य कितना महान है? क्या बहुमत के आधार पर हम वह सत्य पासकते थे? इसलिये तो भगवान जनमत की पर्वाह नहीं करते, जनहित की पर्वाह करते हैं।

जमालि-जनहित की पर्वाह तो मैं भी करता हूं।

गौतम—न तुम जनमत की पर्वाह करते हो न जनहित की, न सत्य की। तुम्हें पर्वाह है अपने गुरु की सम्पत्ति चुराकर उसपर अपने नाम की छाप मारने की। पर इससे सत्य की भयंकर अवहेलना होगी। सोने को पीतल के नाम से बाजार में वेंचना मूर्खता है। भगवान का सत्य तुम सरीखे लोगों का सत्य कहलाकर बाजार में लाया जाय इससे बढ़कर सत्य की विडंबना क्या होगी?

जमालि-भगवान का नाम ऐसा क्या बड़ा है?

गौतम—नाम किसी का बड़ा नहीं होता। काम से नाम बड़ा हो जाता है। भगवान ने जो सत्य की खोज का महान कार्य किया अुसी से उनका नाम बड़ा हो गया। उनका माल

चुरा कर कोई कितनी भी कोशिश करे उसकी चोरी आज नहीं तो कल खुल ही जायगी।

जमालि—अच्छा, जाने दो गौतम, तुम्हें दासता ही पसन्द है तो तुम दास बन रहो, मैं स्वतन्त्र बनूंगा, जिन बनूंगा, तीर्थंकर बनूंगा। अब मैं जाता हूं।

गौतम--जाओ। पर याद रक्खो कि कृतघ्न और चोर अपने को धोखा भले दे लें पर जगत को कभी धोखा नहीं दे सकते; और महाकाल को तो धोखा दे ही नहीं सकते।

जमालि मुँह बिगाड़कर चला गया।

गौतम के मुँह से यह सब समाचार सुनकर मुझे कुछ तो खेद हुआ और कुछ दया आई। बेचारा जमालि अहंकार का शिकार होकर अपना जीवन नष्ट कर रहा है। और बेचारी प्रियदर्शना भी भ्रम में पड़कर मिथ्यात्व का शिकार हुई है। वह भी उसी के साथ चली गई है। मेरी पुत्री होकर भी प्रियदर्शना इतनी जल्दी सत्यभ्रष्ट हुई यह इस बात की निशानी है कि जीवन में कुल जाति या वंश का कोई मूल्य नहीं है।

८९—गोशाल का आक्रमण

४ चन्नी ९४५१ इ. सं.

श्रावस्ती से निकलकर वत्स भूमि में विहार करते हुए कौशाम्बी आया। वहां से काशी देश में भ्रमण कर राजगृह आया। यहां गुणशिल चैत्य में चौबीसवां चातुर्मास किया।

इस वर्ष वेहास और अभय आदि का देहान्त होगया।

राजगृह से चम्पा आया। अब यह राजधानी बन गई है। राजा श्रेणिक के देहावसान के बाद कुणिक ने इसे राजधानी बना लिया है। श्रेणिक के साथ कुणिक ने जो दुर्व्यवहार किया,

जिस में श्रेणिक की मृत्यु होगई, उससे कुणिक बहुत बदनाम होगया, इसलिये राजगृह नगर में रहना भी कुणिक के लिये बहुत कठिन होगया था।

अस्तु, कुणिक ने मेरा स्वागत किया और बहुत आधिक किया। इस बहाने से भी कुणिक अपने कलंक को कम करना चाहता था। कुणिक के भतीजों ने यहां दीक्षा भी ली।

चम्पा से काकन्दी नगरी होते हुए विदेह गया और मिथिला में पच्चीसवां वर्षावास किया। इन दिनों वैशाली में कुणिक और चेटक के बीचमें महाभयंकर युद्ध चलरहा था, जिसमें लाखों आदमी मारे गये थे। फल दिये विना यह उन्माद शान्त होनेवाला नहीं था इसलिये अंगदेश की तरफ विहार किया। परन्तु फिर लौटा और मिथिला में ही छब्बीसवां चातुर्मास किया। इसके बाद वैशाली के निकट होकर श्रावस्ती आया। ईशान कोण के इस कोष्ठक चैत्य में फिर ठहरा हूं।

आज गौतम भिक्षा के लिये नगर में गये थे। वहां से समाचार लाये हैं कि इस नगर में हालाहला कुम्हारिन की भाण्डशाला में गोशाल सदलबल ठहरा हुआ है और नगर में चर्चा है कि आजकल श्रावस्ती में दो जिन, दो सर्वज्ञ या दो तीर्थंकर ठहरे हुए हैं। लोग गोशालक को भी जिन सर्वज्ञ या तीर्थंकर समझते हैं। नियतिवाद की स्वपरवञ्चना में बहुत से लोग फसगये हैं।

गौतम ने मुझ से पूछा कि क्या सचमुच गोशालक तीर्थंकर या सर्वज्ञ है ?

तब मुझे गोशालक की सारी बातें कहना पड़ीं कि किस तरह यह शिष्य रूपमें मेरे साथ रहा, विपत्ति से ऊबकर किस तरह उसने साथ छोड़ा, किस तरह वह अधूरे अनुभवों के आधार

से नियतिवादी बना, आदि। वह एक गोशाला में पैदा हुआ था इसलिये उसका नाम गोशालक हुआ और मंखलि नामक एक मंख (भिक्षुक) का पुत्र होने से मंखलिपुत्र कहलाता है। न वह सर्वज्ञ है न तीर्थंकर।

ये सब बातें जनता ने भी सुनीं।

५ चन्नी ९४५७ इ. सं.

आज भिक्षा से लौटकर श्रमण आनन्द ने कहा कि गोशाल रास्ते में मिला था और मुझसे कहता था कि 'तेरे धर्माचार्य को बहुत लोभ और तृष्णा है। उसने काफी यश प्रतिष्ठा प्राप्त करली है फिर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती इसलिये जहां तहां मेरी निन्दा करता फिरता है। इसलिये तू जा और कहदे कि मैं आता हूं और उसे भस्म करके मिट्टी में मिलाता हूं। मेरी मन्त्र-शक्ति का उसे पता नहीं है पर अब लग जायगा"

यह कहकर आनन्द चिन्तित होकर मेरी तरफ देखने लगा, फिर कहा कि क्या गोशालक में इतनी मंत्रशक्ति है कि वह किसी को नष्ट करदे ?

मैंने कहा- हां आनन्द ! गोशालक में मंत्रशक्ति है और उसके प्रभाव से साधारण मनुष्य मर भी सकता है पर अर्हन्त पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिये तुम सब मुनियों से कहदो कि जब गोशालक यहां आवे तब उससे कोई बात न करे, तर्क वितर्क न करे, जो कुछ कहना सुनना होगा मैं कह सुन लूंगा।

आनन्द ने यह समाचार सब मुनियों से कह दिया।

थोड़ी देर बाद गोशाल अपने भिक्षुओं की सेना लेकर आगया और मुझसे थोड़ी दूर ठहर कर बोला

"तुम मेरी खूब निन्दा कर रहे हो काश्यप, कि मैं तुम्हारा शिष्य हूं, मंखलिपुत्र।"

मैं—छः वर्ष तक मेरे साथ रहकर तुम क्या इन बातों से भी इनकार करते हो गोशालक ! ऐसे सैकड़ों लोग अभी जीवित हैं जिनने वर्षों तुम्हें मेरे अनुचर के सामान पीछे चलते चलते देखा है।

गोशालक-भूल रहे हो काश्यप, वह गोशालक तो मर चुका।

मैं—पर तुम्हारे कहने से संसार की आंखें धोखा नहीं खासकतीं।

गोशालक-आंखें सिर्फ शरीर को देख सकती हैं काश्यप. आत्मा को नहीं। यह शरीर वही है जो तुम कहते हो, पर उसके भीतर जो आत्मा है वह दूसरा ही है। मेरा नाम उदायी कुण्डियायन है। मोक्षगामी जीव को अपने अन्तिम भव में सात शरीर बदलना पड़ते हैं। मेरा पहिला शरीर उदायी कुण्डियायन था। राजगृह के मण्डित कुक्षि चैत्य में वह शरीर छोड़कर मैंने ऐणेयक के शरीर में प्रवेश किया। इसके बाद उद्दंडपुर नगर के चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोड़कर मल्लराम के शरीर में प्रवेश किया। चम्पा नगरी में अंगमंदिर चैत्य में मल्लराम का शरीर छोड़कर माल्यमंडित के शरीर में प्रवेश किया। इसके बाद वाराणसी नगरी के काम महावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़कर रोह के शरीर में प्रवेश किया। उसके बाद आलभिका नगरी के पत्रकालय चैत्य में रोह का शरीर छोड़कर भारद्वाज के शरीर में प्रवेश किया। इसके बाद वैशाली नगरी के कोण्डियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर छोड़कर अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। इसके बाद श्रावस्ती में हलाहला कुम्हारिन की भाण्डशाला में अर्जुन का शरीर छोड़कर गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। अब तुम जान गये होंगे

काश्यप कि मैं कौन हूं। मैं तुम्हारा शिष्य गोशालक नहीं, किन्तु उदायी कुण्डियायन हूं।

मैं-अपने को और अपनी कृतघ्नता को छिपाने के लिये खूब कहानी गढ़ी गोशाल तुमने। सम्भव असम्भव का विवेक भी न रहा। पर क्या इस तरह सन के एक नहीं सात तन्तुओं से कोई चोर छिप सकता है?

गोशालक-काश्यप तुम बहुत धृष्ट होगये हो। मालूम होता है कि अब तुम्हारी मौत आगई है।

गोशालक के ये शब्द सर्वानुभूति श्रमण से न सुन गये। उनने कहा--

गोशालक महाशय, इतने कृतघ्न न बनो। एक भी धर्म वचन सुनकर सज्जन जन्मभर कृतज्ञ रहते हैं और तुम वर्षों प्रभु के साथ रहे, उन्हीं से सब कुछ सीखा, उन्हीं की पूंजी से यह नई दूकानदारी खड़ी की और अब उन्हीं का ऐसा अपमान करते हो! कुछ तो लाज शर्म रखना चाहिये।

सर्वानुभूति की बात से गोशाल का क्रोध भड़का, और उसने प्रचण्ड मुद्रा बनाकर, मनमें कुछ मन्त्र पढ़कर अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी इस तरह चलाई मानों ज्वाला फेंकी हो और कहा बस तू इसी क्षण मरजा।

सर्वानुभूति इससे घबरागये और हाय खाकर जमीन पर गिर पड़े।

इसके बाद गोशालक ने मुझ और भी अधिक मात्रा में विचित्र विचित्र गालियाँ देना शुरु की। मैं शांति से सहता रहा परन्तु श्रमण सुनक्षत्र से ये गालियाँ न सुनीगईं इसलिये उनने गोशाल को काफी फटकारा, पर गोशाल ने उन्हें भी सर्वानुभूति की तरह जमीन पर गिरा दिया।

इस के बाद भी वह बकझक करता ही रहा और बोला-काश्यप, देखा मेरा प्रभाव, तेरे चेलों को देखते देखते मिट्टी में मिला दिया अब भी तू मुझे अपना शिष्य कहेगा।

मैं—जो वस्तुस्थिति है वह तो कहना ही पड़ेगी।

यह सुनकर उसने उसी तरह मंत्र पढ़कर मेरे ऊपर भी ज्वाला छोड़ने का नाट्य किया। पर मैं न घबराया न हिला, बल्कि मुसकराया। और इसके बाद हलका सा प्रतिनाट्य करते हुए कहा-देख गोशाल, तेरी दिव्य ज्वाला मेरे पास आई परन्तु वह लौटकर तेरे ही ऊपर आघात करने चली गई है। देख तेरे शरीर में धीरे धीरे जलन बढ़ने लगी है।

मेरी दृढ़ता से तथा शब्दों से गोशाल घबराया। फिर भी बोला-काश्यप, तू मेरी दिव्य ज्वाला से बीमार होकर छः महीने में मर जायगा।

मैं—मैं जब मरूंगा तब मरूंगा; पर गोशाल, तू सात दिन में ही मर जायगा। क्योंकि जो भयंकर ज्वाला तूने मेरे ऊपर छोड़ी थी वह लौटकर तेरे ही भीतर घुसगई है।

मेरी बात से गोशाल शंकाकुल हुआ, व्याकुल हुआ, वह कांपने लगा।

तब मैंने अपने सब शिष्यों से कहा-अब तुम लोग गोशाल के साथ तर्क वितर्क कर सकते हो, उसका मुँह बन्द कर सकते हो, इसकी शक्ति क्षीण होगई है। शिष्यों ने जब उसके साथ तर्क वितर्क किया तब वह घबराकर चलागया। पर उस-पर मेरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव इतना पड़ चुका था कि वह अन्त-र्दाह का अनुभव करने लगा।

६ चन्नी ९४५७ इ. सं.

कल गोशाल के साथ जो झगड़ा हुआ उसकी चर्चा

नगर में गली गली फैली। प्रत्येक चौराहे पर यह बात थी कि दो जिनों में खूब लड़ाई हुई है, एक दूसरे ने मरजाने के अभिशाप दिये हैं।

लोगों की इन बातों से मनमें कुछ अशांति है।

८ चन्नी ९४५७

समाचार मिला है कि गोशाल बीमार पड़गया है और पागल भी होगया है। उसके शिष्य गण उसके पागल प्रलाप के अच्छे अच्छे अर्थ करके उसका पागलपन ढक रहे हैं।

१३ चन्नी ९४५७

समाचार मिला है कि गोशाल का देहान्त होगया। सुनते है कि अन्त समय में उसे पश्चात्ताप हुआ था और उसके मुँह से यहां तक निकला था कि 'मैं मिथ्यावादी हूं पापी हूं कृतघ्न हूं गुरुद्रोही हूं मेरी लाश को रस्सी से बांधकर श्रावस्ती की सब सड़कों पर घसीटकर घुमाना चाहिये।" सुनते हैं कि एक कमरे में श्रावस्ती का चित्र बनाकर उसके शिष्यों ने उसकी यह आज्ञा पूरी करदी है। और बाद में बड़े से बड़े समारोह के साथ उसकी अन्तक्रिया की है।

गोशाल के जीवन की दुर्घटना मेरे जीवन की सब से बड़ी दुर्घटना है। आज तक कोई दुर्घटना मुझे विचलित नहीं कर सकी, पर उस दिन गोशाल के साथ चर्चा में मन कुछ विचलित हुआ पर थोड़ी ही देर बाद सम्हल गया। अब मैं गोशाल के विषय में पूर्ण समभावी होगया हूं। उसके जीवन पर एक तटस्थ की दृष्टि से विचार कर सकता हूं। उसने जो मेरे साथ दुर्व्यवहार किया और अपने जीवन की कमजोरी ढाकने के लिये शरीरान्तर प्रवेश का जो मिथ्यासिद्धांत निकाला वह अच्छा नहीं किया। पर मरते समय पश्चात्ताप करके उसने अपने पाप

को बहुत कम करालिया।

उसने जो मिथ्यात्व का प्रचार किया उससे उसे अनेक दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा पर उसने जो पश्चात्ताप किया उससे उसकी सद्गति ही हुई है।

गोशालक की मृत्यु के बाद जब गौतम ने मुझसे पूछा कि गोशालक मरकर कहां गया ? तब मैंने कह दिया कि बारहवें अच्युत देवलोक में गया है

इससे उन लोगों को कुछ आश्चर्य हुआ। पर गोशालक की सद्गति से भी अधिक आश्चर्य हुआ उन्हें मेरी वीतरागता का, अद्वेष वृत्तिका। ऐसे भयंकर शत्रु की सद्गति की बात वीतराग ही कह सकता है।

९०—मेरी बीमारी

४ धामा ९४५८ इतिहास संवत्

यद्यपि मैं पर्याप्त स्थिरचित्त हूं, और यही कारण है कि जमाले और प्रियदर्शना के जाने की चोट और गोशाल के दुर्व्यवहार की चोट सहगया हूं फिर भी इन घटनाओं के विचार में कभी कभी रातरात नींद नहीं आती इसलिये पिछले छः माह से मैं बीमार रहता हूं। पित्त ज्वर भी है और खून के दस्त भी लग रहे हैं। मैं चाहता हूं कि यह बीमारी बिना दवा के ही अच्छी होजाय। आज तक मैंने कभी दवा नहीं ली। खान पान के संयम से ही नीरोग होगया हूं। अगर अनिद्रता की शिकायत न होती तो यह बीमारी भी अच्छी होगई होती। अस्तु आज नहीं तो कल ठीक हो ही जायगी।

पर मेरी इस बीमारी की चर्चा चारों ओर फैल गई है। कुछ लोग तो यह कहने लगे हैं कि गोशालक की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध होगी और महावीर का देहान्त इस मेंढियग्राम के

चैत्य में ही होजायगा।

यह बात मेरे प्रिय शिष्य सिंह मुनि के कान पर पड़गई। अुसके मन में विचार आया कि यदि यह बात सत्य होजाय तो संसार क्या कहेगा? इस विचार से ही उसका दिल दहल अुठा और वह फूट फूट कर रोने लगा।

मैंने उसे समझाया कि मेरी मृत्यु अभी दूर है। तुम इसकी चिन्ता न करो। धैर्य रक्खो।

सिंहमुनि-कब तक धैर्य रक्खूं भगवन्, छः महीने होगये पर आपकी बीमारी नहीं जाती, न आप कोई औषध लेते हैं। आप औषध लीजिये, नहीं तो मैं अनशन करूंगा।

मैं—इस कारण से तुम्हें अनशन न करने दूंगा सिंह, मैं औषध लूंगा। जाओ रेवती के यहां एक बिजौरा पाक है वह ले जाओ! अुसके लेने से मेरी बीमारी दूर होजायगी।

सिंह वह पाक ले आया और मैंने वह पाक लिया है।

९१—प्रियदर्शना का पुनरागमन

१४ धामा ९४१८ इ. सं.

गौतम को इधर बहुत दिनों से उदास देखता हूं। आज जब मेरे पास गौतम आये तब मैंने कहा—मैं बहुत दिनों से तुम्हें उदास देखता हूं। अब तो मेरा स्वास्थ्य भी सुधर रहा है। फिर उदासी का कारण क्या है?

गौतम-भंते, जमालि का विद्रोह देखकर मेरा मन बेचैन रहता है और आर्या प्रियदर्शना ने भी जमालि का साथ दिया यह देखकर तो रोना आता है। संघ की अगर अभी से यह दुर्दशा होने लगेगी तो आगे न जाने क्या दुर्दशा होगी?

मैं—सत्य के मार्ग में किसी की दुर्दशा नहीं होती गौतम, दुर्दशा उन्हीं की होती है जो सत्य से भ्रष्ट होते हैं।

गौतम-पर जमालि तो सत्य से भ्रष्ट होकर भी तीर्थंकर बन रहा है। सुनते हैं-अुसने नया सिद्धान्त भी निकाल लिया है। कहता है-जब तक कोई क्रिया पूरी न होचुके तब तक उसे हुई न कहना चाहिये। क्रियमाण को क्रियमाण और हुई को हुई कहना चाहिये।

मैं-यद्यपि यह सत्य है फिर भी व्यवहार को भुलाकर है। जो सत्य व्यवहार में न अुतरे वह सत्य किसी काम का नहीं। पर यह जमालि का मतभेद हुआ नहीं है किन्तु उसने मतभेद पैदा किया है। वह मतभेद के कारण अलग नहीं हुआ, किन्तु अलग होने के कारण मतभेद बनाया।

गौतम-अुसके पास जो कुछ पूंजी है सब आपकी दी हुई है, और आज भी लेता रहता है और अुसी को औंधासीधा करके या नाममात्र का ननु नच लगाकर वह अपने नामसे चला रहा है। वह प्रथम श्रेणी का नामचोर और कृतघ्न है।

मैंने—दुर्भाग्य बेचारे का! जो ईमानदारी से बहुत कुछ पासकता था वह बेईमानी से मृगतृष्णा के पीछे पड़ा है। महाकाल तो सब साफ कर देगा। जिस नाम के लिये वह यह सब पाप कर रहा है वही नाम बदनाम होजायगा। महाकाल अुसे चोर और कृतघ्न रूप में जगत के सामने रक्खेगा।

गौतम-आश्चर्य भंते, जमालि इतना निकट सम्बन्धी होकर भी आपको न समझा।

मैं—निकट सम्बन्धी था इसीलिये तो न समझा। गौतम, एकाध अपवादात्मक घटना को छोड़कर ज्ञातिजन किसी तीर्थंकर या जनसेवक को नहीं पहिचान पाते, न उसके प्रति ईमानदार रहते हैं। उसे लूटना, विश्वासघात करना, उसका अपमान करना वे अपना अधिकार समझते हैं।

गौतम-कितना दुःखदाई तथ्य है यह।

मैं—पर उतना ही अुपेक्षणीय भी है। क्यों कि इस से सत्यविजय में कोई बाधा नहीं पड़ती। तीर्थंकर या क्रांतिकारी इन बातों की पर्वाह नहीं करता।

गौतम- भंते, आपके द्वारा होनेवाली सत्यविजय को जगत् देखे या न देखे पर मैं तो आपकी विजय को देख रहा हूं और अपना जीवन सफल बना रहा हूं।

इतने में आई प्रियदर्शना। उसके पैर धूलधूसरित थे। वह कई कोस चलकर आई हो इस प्रकार थकी हुई मालूम होती थी। आते ही वह पैरोंपर गिरकर बोली-क्षमा कीजिये प्रभु मुझको, दुर्भाग्य से मैं मिथ्यात्व के चक्कर में पड़गई थी, पर श्रावक शिरोमणि ढंक ने मेरी भूल दूर करदी।

गौतमने आश्चर्य से पूछा-ढंक ने? यह क्या बात है आर्ये!

सुदर्शना- आज सबेरे मेरी साड़ी में आग लगगई। देखते ही मैं चिल्लाई-मेरी साड़ी जलगई। तब ढंक श्रावक ने कहा—आर्ये अपने सिद्धांत के अनुसार झूठ क्यों बोल रही हो। साड़ी जली कहां है जलरही है। क्रियमाण को कृत कहने से आपको मिथ्यात्व का दूषण लग जायगा।

ढंक की बात सुनकर मैं स्तब्ध होगई। सोचने लगी-जिस सिद्धान्त का और जिस भाषा का मैं जानमें अनजान में दिनरात व्यवहार करती हूं उसी का विरोध करके मैं गुरु द्रोहिणी बनी? इस विचार से पश्चात्ताप से मेरा हृदय जलने लगा और उसे शांत करने के लिये मैं दौड़ी चली आरही हूं।

गौतम-ढंक का ग्राम तो यहांसे दो योजन से भी अधिक दूर है। आजही चलकर आप आगई! क्या गोचरी नहीं ली?

प्रियदर्शना-गोचरी कैसे लेती आचार्य ? जब तक भीतर पाप का मल भरा हुआ था तब तक जानबूझकर अन्न का अपचन कैसे करती ?

गौतम की आंखें हर्षाश्रुओं से भरगईं। उनके मुँहसे कुछ आवाज न निकली। प्रियदर्शना ने मुझसे कहा-अब मैं प्रायश्चित्त चाहती हूं प्रभु।

मैंने कहा-अपनी भूल का सच्चा ज्ञान होजाना, उसे स्वीकार कर लेना और उससे निवृत्त होजाना यही सब में बड़ा प्रायश्चित्त है और यह सब तूने ले लिया है।

प्रियदर्शना-नहीं प्रभु, मेरा अपराध महान है, मैंने संघ को पूरी क्षति पहुंचाई है। एक हजार आर्यिकाओं को मार्ग से गिराया है, आपकी पुत्री होने के गौरव का पूरा पूरा दुरुपयोग किया है; इसलिये मैं पूरा प्रायश्चित्त चाहती हूं, जिससे मेरे पाप धुलजायँ।

गौतम-आर्ये, पहिले तो तुम गुरुदेव से पिताजी कहती थीं अब प्रभु कहती हो, यह भी प्रायश्चित्त है क्या ?

प्रियदर्शना-आचार्यजी, मैं अयोग्य हूं। मैंने गुरुदेव को पिताजी कहने का गौरव पाया था पर उसे सम्हाल न सकी। इसलिये अब मैं उन्हें प्रभु ही कहती हूं। आपको आचार्य कहूंगी, आर्या चन्दना को पूज्य मानूंगी, अपने पास की आर्याएँ उनके अधीन कर दूंगी। यह तो इसलिये कि मैं अयोग्य हूं, पर इससे मेरा प्रायश्चित्त नहीं होजाता।

मैं—पर यह तो तूने आवश्यकता से अधिक प्रायश्चित्त कर लिया है।

प्रियदर्शना-तो आप एक भिक्षा देने की कृपा करें !

मैं—वह क्या ?

प्रियदर्शना-मेरे ऊपर आपकी वात्सल्य दृष्टि जो पहिले थी वही फिर चाहती हूं।

यह कहकर प्रियदर्शना मेरे पैर पकड़कर फफक फफककर रोने लगी।

मैंने उसके सिरपर हाथ रखकर कहा-बेटी, मेरी वात्सल्य दृष्टि तो सारे संसार पर है, फिर तू तो प्रायश्चित्त करके पवित्र बन चुकी है। मुझे प्रभु कहने की कोई जरूरत नहीं है। मुझसे तू पिता ही कहाकर। प्रभु पिता से अधिक नहीं होता।

९२—केशी गौतम संवाद

२२ चन्नी ९४५८ इतिहास संवत्

मोढियाग्राम से मिथिला गया और वहां सत्ताइसवां वर्षावास पूर्णकर श्रावस्ती आया और कोष्ठक चैत्यमें ठहरा। इन्द्रभूति अपने शिष्यों सहित बहुत पहिले ही यहां आचुके थे और उनने तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के अनुयायी आचार्य केशी श्रमण को चर्चा में सन्तुष्ट कर मेरे अनुयायिओं में शामिल कर दिया था। इन्द्रभूति का यह प्रयत्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्द्रभूति ने ही सारी घटना सुनाई उससे मालूम हुआ कि—

इन्द्रभूति स्वयं केशी के पास तिंदुकोद्यान में गये थे। उस समय अन्य तीर्थवाले साधु और गृहस्थ भी थे। केशी ने गौतम का आदर किया।

केशी ने गौतम से पूछा अभी तक तो धर्म चार रूप था पर आपके तीर्थंकर ने पांच रूप क्यों कर दिया? ब्रह्मचर्य क्यों बढ़ादिया?

गौतम-ब्रह्मचर्य के बिना श्रमण संस्था ठीक तरह से कार्य नहीं कर सकती। ब्रह्मचर्य के भंग होने से जीवन पर, तथा श्रमण संस्था पर दुष्प्रभाव पड़ता है पर लोग यह कहकर बच-

जाना चाहते हैं कि इसमें किसी धर्म का खण्डन नहीं होता। न हिंसा होती है, न झूठ, न चोरी, न परिग्रह। फिर दोष क्या है? इसलिये धर्म के पांच भेद करना आवश्यक है। देशकाल के अनुसार धर्म का विवेचन और भेद प्रभेद करना पड़ते हैं।

केशी- ठीक है। यह कारण समझमें आया, पर नग्न वेष क्यों चलाया?

गौतम-वेष तो लोगों को यह विश्वास कराने के लिये है कि यह साधु है। सो नग्न वेषसे भी यह बात मालूम होजाती है। यों वेष कल्याण का साधक नहीं है, कल्याण का साधक तो दर्शन ज्ञान चारित्र ही है। इसलिये वेष बदलने से कोई हानि नहीं है। सुविधानुसार कोई भी वेष नियत किया जासकता है।

केशी—ठीक है, किसी भी वेष से काम चल सकता है। महत्व वेष को नहीं, किन्तु आत्मशुद्धि को है, पर यह आत्मशुद्धि हो कैसे? आत्मा में हजारों विकार पार्श्वप्रभु ने बताये हैं पर एक साथ उन्हें कैसे नष्ट किया जाय इसका क्रम हमें नहीं मालूम। आपके तीर्थंकर ने क्या इसका कोई क्रम बताया है?

गौतम-बताया है। पहिले मिथ्यात्व को नष्ट करना चाहिये। क्योंकि यही सब अनर्थों की जड़ है। इसके बाद क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायों को जीत लेना चाहिये। इन पांचों के जीत लेने पर पांच इन्द्रियाँ वश में होजाती हैं। इन दस के जीत लेने पर हजारों वश में होजाते हैं।

केशी-ठीक है। यह क्रम योग्य है। पर यह मिथ्यात्व छूटे कैसे? मनुष्य संस्कारों के और परिस्थिति के बन्धनों में बँधा हुआ है, उससे वह स्वतंत्र कैसे बने?

गौतम-अपनी वस्तुका राग और पराई वस्तुका द्वेष छोड़ देने से यह भी छूटजाता है। अगर मनुष्य यह सोचले कि

अपना कौन और पराया कौन ? अनन्त भवों में भ्रमण करते हुए सब अपने और पराये हुए हैं पर कोई अपना न रहा, तो राग और मिथ्यात्व आदि दूर हो जायँ।

केशी—ठीक है, पर हृदय में एक ऐसी लता है जिसमें विषफल लगाही करते हैं उसे कैसे उखाड़ा जाय ? श्रमण जीवन भी उस लता को उखाड़ नहीं पाता।

गौतम-श्रमणता का फल स्वर्गीय भोग नहीं लेकिन आत्मा से पैदा हुआ स्वतन्त्र अनंत सुख है। स्वर्गीय भोगों की तृष्णा छोड़ देने से वह लता उखड़ जाती है।

केशी—फिर भी आत्मा में एक तरह की ज्वालाएँ उठा ही करती हैं। उन्हें कैसे शांत किया जाय।

गौतम-महावीर प्रभुने इन कषाय ज्वालाओं को शान्त करने के लिये विशाल श्रुत का निर्माण किया है शील और तपों का विधान किया है उससे इन कषाय ज्वालाओं को शांत किया जासकता है।

केशी—पर तप हो कैसे ? यह दुष्ट घोड़े के समान मन स्थिर रहे तब तो।

गौतम-महावीर प्रभुने मनोनिग्रह करने के लिये जो धर्मशिक्षा दी है अुससे मन वश में हो सकता है।

केशी—लोक में इतने कुमार्ग है कि धर्म शिक्षा पाना और ठीक निर्णय करना अत्यन्त कठिन है।

गौतम-महावीर प्रभुने मार्ग और कुमार्ग का इतने विस्तार से वर्णन किया है कि उसे सुन लेने के बाद मनुष्य राह भूल नहीं सकता।

केशी—पर एक और बड़ी कठिनाई है। राह कुराह का ज्ञान हो भी जाय पर अुससे लाभ क्या ? आखिर जाना कहां है

इसका भी तो पता होना चाहिये। जगत तो प्रवाह में बह रहा है, यह प्रवाह जीवन को कहां बहा ले जायगा इसका क्या ठिकाना? ऐसी कोई जगह तो नहीं मालूम होती जहां प्रवाह न पहुँचे।

गौतम--है, पानी में एक द्वीप ऐसा है जहां प्रवाह का डर नहीं है, वह मोक्ष है।

केशी—पर यह शरीर रूपी नौका उस द्वीप तक पहुँ-गी कैसे? इस में तो छेद ही छेद हैं इससे तो पाप ही होते रहते हैं।

गौतम-महावीर प्रभुने उन आश्रवों को रोकने के उपाय बताये हैं जिनसे शरीर रहने पर भी पाप आत्मा में नहीं आपाते। आश्रव के रोक देने पर शरीर रूपी नौका पानी में रहने पर भी पानी से नहीं भरती। पापमय हिंसामय संसार में रहने पर भी प्राणी पाप से लिप्त नहीं होता।

केशी—पर निष्पाप बनकर आखिर यह आत्मा कहां रहेगा, यह संशय बना ही रहता है।

गौतम-सबसे उच्चस्थान पर, मोक्ष में।

केशी—आपकी बातों से बड़ा सन्तोष होता है महाभाग। जगत में आज बड़ा अंधेरा फैला हुआ है। कोई ध्येय स्पष्ट नहीं है। वितण्डावादों से बिलकुल शिथिलता आरही है। सब अंधेरे में टटोल रहे हैं। आज तो किसी महाप्रकाश की जरूरत है।

गौतम-सूर्य के समान जिनेन्द्र महावीर का उदय हो चुका है। अब सारा अंधकार दूर होजायगा।

केशी—मानता हूं महाप्राण, मैं आपकी बातों को मानता हूं। आपकी बातों से मुझे बड़ा सन्तोष हुआ है और बड़ी आशा पैदा हुई है। अब मैं भी महावीर प्रभु को तीर्थंकर स्वीकार करता हूं और उनके धर्म को अंगीकार करता हूं।

गौतम की यह विजय वास्तव में बहुत बड़ी विजय है इससे मुझे बहुत सन्तोष हुआ और मैंने गौतम को शाबासी दी।

९३—सामायिक पर आक्षेप

२४ मम्मेशी ९४३०इ. सं.

श्रावस्तीसे पश्चिम तरफ विहार करके शिवराजर्षि को दीक्षित किया। फिर मोका की तरफ विहार किया और अपना अट्ठाइवां वर्षावास वाणिज्यग्राम में पूर्ण कर विहार करता हुआ राजगृह के गुणशिल चैत्य में ठहरा हूं। यह नगर धर्मतीर्थों का अखाड़ा बना हुआ है। मेरे अनुयायी यहां पर्याप्त हैं पर दूसरों के अनुयायी भी कम नहीं हैं। खण्डन मण्डन और उपहास चला करता है। आज इन्द्रभूतिने कहा कि आजीवक लोग अपने श्रमणोंसे पूछते हैं कि 'जब एक श्रमणोपासक सामायिक में सब का त्याग कर देता है उससमय यदि उसका कोई भाण्ड चोरी चलाजाय तो श्रमणोपासक उसे ढूंड़ेगा या नहीं ? यदि ढूंड़ेगा तो यह कैसे कहा जासकता है कि सामायिक के समय वह सर्वसंगत्यागी है, आजीवकों के इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय ?

मैं-श्रमणोपासक की क्रियाएँ श्रमणता की शिक्षा के लिये हैं इसलिए शिक्षाव्रत कही जाती हैं। सामायिक में बैठा हुआ श्रमणोपासक सर्वसंग के परित्याग का अभ्यास करता है, पर श्रमण सरीखा ममत्वहीन हो नहीं जाता है। इसलिए जितनी देर श्रमणोपासक सामायिक करता है उतनी देर शांत रहेगा, हानिलाभ का विचार न करेगा, पर सामायिक समाप्त होते ही उसके सारे सम्बन्ध ज्यों के त्यों चालू होजायंगे।

गौतम को इस स्पष्टीकरण से सन्तोष हुआ।

९४–राज्य को दुलत्ती

१० चन्नी ९४६० इ. सं.

राजगृह में अुन्तीसवां वर्षावास विताकर मैं चम्पा नगरी की ओर अुसके उपनगर पृष्ठचम्पा में ठहरा। यहां के राजा शाल ने मेरा अुपदेश सुनकर श्रमण होने की इच्छा प्रगट की। बोला—मैं छोटे भाई को राज्य का भार सम्हलाकर दीक्षा लूंगा। पर जब छोटे भाई महाशाल को राज्य दिया जाने लगा तब उसने भी राज्य को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार बेचारे राज्य पर दुलत्तियां पड़ने लगीं। न उसे शाल रखने को तैयार, न महाशाल लेने को तैयार।

मुझे इससे बड़ा सन्तोष हुआ।

भोग और लालसा से जगत में द्वंद्व होते हैं, पाप होते हैं। इस द्वन्द्व से भोग सामग्री नष्ट ही होती है। और लालसा-वालों का भी जीवन नष्ट और अशांत होता है। अगर लोग यह तृष्णा छोड़दें तो द्वन्द्व बन्द होजायँ। सभी शांति के साथ अधिक भोग प्राप्त कर सकें। स्वर्ग और नरक इसी जीवन में पास पास हैं पर मनुष्य तृष्णा और और अज्ञान से स्वर्ग को ठुकराता है और नरक निर्माण करता है। शाल और महाशाल सरीखे लोग राज्य को दुलत्तियाँ लगाकर सिद्ध कर देते हैं कि असली सुख का श्रोत कहां है।

अन्त में राज्य लेने को जब कोई राजी न हुआ तब उसने अपने भानेज को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

९५ – सोमिल प्रश्न

१० अंका ९४६१ इ. सं.

पृष्ठचम्पा से चम्पा आया। पूर्णभद्र चैत्य में ठहरा। यहां श्रमणोपासक कामदेव की कष्ट सहिष्णुता निर्भयता, अटूट

साधना के समाचार मिले। मैंने उसे शाबासी दी। इसी तरह तपस्या करने के लिये श्रमण श्रमणियों को प्रेरित किया। चम्पा से दशार्णपुर होता हुआ विदेह भूमि में इस वाणिज्य ग्राम में ठहरा हूं।

यहां सोमिल ब्राह्मण बहुत विद्वान है। वह अपने शिष्य परिवार सहित मेरे पास आया, और कुछ प्रश्न पूछे।

सोमिल—आपके धर्म में यात्रा क्या है ?

मैं—स्वाध्याय ध्यान आदि के द्वारा ज्ञान जगत् में भ्रमण करना यही यात्रा है।

सोमिल—आपके यहां भोग क्या है ?

मैं- दो तरह के भोग हैं। इन्द्रियभोग तो यह है कि इन्द्रियां वश में रक्खो जिससे किसी भी तरह के विषयसे कोई कष्ट न होने पावे और अनिन्द्रिय भोग यह है कि क्रोध मान माया लोभ का त्याग करो जिससे मनमें किसी तरह की अशांति कष्ट आदि न होने पावे।

सोमिल- आपके यहां स्वास्थ्य क्या है ?

मैं- संयम और तप से शरीर में विकार नहीं जमने पाते हैं इससे शरीर नीरोग रहता है यह स्वास्थ्य है।

सोमिल- आप निर्दोष विहार कैसे करते हैं—मैं ऐसी जगह नहीं ठहरता जहां ठहरने से दूसरों की उचित सुविधाओं में बाधा हो, यही मेरा निर्दोष विहार है।

सोमिल- आप एक हैं या अनेक ?

मैं-- आत्मद्रव्य दृष्टिसे एक, गुण पर्याय या कार्य दृष्टिसे अनेक।

सोमिल—आप नित्य हैं या अनित्य ?

मैं- द्रव्य दृष्टि से नित्य, पर्याय दृष्टिसे अनित्य।

सोमिल-मुझे बहुत सन्तोष हुआ। मैं श्रमण तो नहीं बन सकता पर आप मुझे अपना उपासक समझें।

मैंने कहा-जिसमें तुम्हें सुख हो वही करो।

९६—श्रमणोपासक परिव्राजक

२१ जिन्नी ९५६२ इ. सं.

तीसवां वर्षावास मैंने वाणिज्यग्राम में ही किया। और भ्रमण करता हुआ काम्पिल्यपुर आया। यहां अम्मड परिव्राजक रहते हैं। सातसौ परिव्राजक इनके शिष्य हैं। इन सबने मेरा धर्म स्वीकार कर लिया है फिर भी बाहर से ये परिव्राजक वेष में ही रहते हैं।

अम्मड की बहुत प्रतिष्ठा है, इन्हें अनेक तरह की ऋद्धियाँ प्राप्त हैं।

श्रमणोपासक होजाने पर भी गौतम को उनके धर्म में कुछ सन्देह हुआ और अम्मड के बारे में गौतम ने पूछा।

मैंने कहा-अम्मड का भीतरी और बाहरी आचार बहुत शुद्ध है। उनने सम्यक्त्व भी पाया है और बारह व्रतों का पालन भी करते हैं। यही तो धर्म है। अगर वे परम्परागत वेष को नहीं छोड़ते तो इससे उनके पुण्यमय जीवन में कोई अन्तर नहीं आता।

गौतम को मेरी बात से सन्तोष हुआ।

९७—गांगेय

१२ बुधी ९४६३ इ. सं.

इकतीसवां वर्षावास वैशाली में बिताया और काशी

आदि देशों का विहार कर ग्रीष्मकालमें फिर विदेह भूमि लौटा। वाणिज्य ग्राम के दूतीपलास चैत्य में ठहरा हूं। आज गांगेय नामक एक पार्श्वापत्य श्रमण ने नरक आदि गतियों के बारेमें तथा प्राणियों की उत्पत्ति के बारे में बहुत प्रश्न किये। प्रश्नों के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर उसने पूछा—

आप ये बातें किस आधार से कहते हैं? क्या शास्त्र के आधार से?

मैं—नहीं, शास्त्र के आधार की केवली को जरूरत नहीं होती।

गांगेय-तो तर्क के आधार से?

मैं—नहीं, हेतु न मिलने से तर्क का आधार भी नहीं है।

गांगेय-तो इन्द्रिय प्रत्यक्ष से?

मैं—देशान्तरित होने से ये इन्द्रिय प्रत्यक्ष के भी विषय नहीं हैं।

गांगेय तब कैसे?

मैं—भीतर के दिव्यानुभव से, मानस प्रत्यक्षसे।

गांगेय को इससे सन्तोष हुआ और उसने पार्श्वापत्यों की परम्परा छोड़ मेरे धर्ममें दीक्षा लेली।

९८—गौतम प्रश्न

३ सत्येशा ९४९४ इ. सं

वैशाली में बत्तीसवां वर्षावास बिताकर भ्रमण करता हुआ राजगृह आया। गुणशील चैत्य में ठहरा। आज यहां गौतम ने दूसरे दर्शनों से तुलना करते हुए मेरे विचार जानना चाहे।

इसलिये पूछा—

गौतम—कोई कोई लोग कहते हैं कि शील श्रेष्ठ है कोई कोई कहते हैं श्रुत श्रेष्ठ है। इस विषय में आपका क्या विचार है ?

मैं-जो श्रुतवान् नहीं किन्तु शीलवान हैं वे देशाराधक (एक अंश के रूपमें धर्म की आराधना करने वाले) हैं। जो शीलवान नहीं श्रुतवान हैं वे देश विराधक हैं। जिनके पास दोनों हैं वे सर्वाराधक हैं। जिनके पास दोनों नहीं हैं वे सर्ववि-राधक हैं।

गौतम-बहुत से लोग जीव और जीवात्मा को अलग अलग मानते हैं। इस विषय में आपका क्या विचार है ?

मैं—जीव और जीवात्मा दोनों एक हैं।

गौतम-कोई कोई कहते हैं कि केवली के शरीर में यक्षा-वेश होजाय तो वे भी असत्य बोल सकते हैं, आप क्या कहते हैं ?

मैं- ज्ञानियों के यक्षावेश नहीं होता।

९९—पञ्चास्तिकाय

२७-जिन्नो ९४६४ इ. सं.

राजगृह से पृष्ठचम्पा गया, वहां पिठर गांगलि आदि की दीक्षाएँ हुईं। वहां से फिर राजगृह लौटकर गुणशिल चैत्य में ठहरा।

आज मद्दुक आया और उसने कहा कि मुझे रास्तेमें कालोदायी आदि अन्यतीर्थिक मिले थे। उनने मुझसे पञ्चा-स्तिकाय का स्वरूप पूछा। मैंने बताते हुए कहा- इनमें एक चेतनकाय है और बाकी चार अचेतनकाय। एक पुद्गल-मूर्त्तिक है, बाकी अमूर्तिक हैं।

उनने कहा—किसी को मूर्तिक बताना किसी को अमूर्तिक बताना, किसीको चेतन कहना किसी को अचेतन, यह क्या बात है ? क्या तुम इन्हें देखसकते हो ?

मैं (मद्दुक) नहीं देखसकता.।

वे-फिर मानते क्यों हो ?

मैं- तुम हवा को देखे विना हवा मानते हो कि नहीं, गंधपरमाणु को देखे विना गंधपरमाणु मानते हो कि नहीं ? लकड़ी के भीतर आग छिपी रहती है जो दिखती नहीं है फिर भी तुम मानते हो कि नहीं ?

वे लोग निरुत्तर होगये।

मैंने मद्दुक से कहा—ठीक निरुत्तर किया मद्दुक तुमने। हर एक श्रमण और श्रमणोपासक को हेतु तर्क के साथ बात करना चाहिये। ऐसी बात नहीं करना चाहिये जिसका सयुक्तिक उत्तर न दिया जासके। तुमने अपनी योग्यता के अनुसार ठीक उत्तर दिया मद्दुक।

११ अका ९४६९ इ. सं.

राजगृह में तेवीसवां वर्षावास विताकर आसपास भ्रमण कर ग्रीष्मकाल में फिर राजगृह आया। आज गौतम जब भिक्षा लेकर लौट रहे थे तब कालोदायी ने गौतम को रोककर पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी प्रश्न पूछा। गौतम ने अतिसंक्षेप में अस्पष्ट उत्तर दिया। कहा-हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते, नास्ति को अस्ति नहीं कहते। तुम लोग स्वयं विचार करो जिससे रहस्य समझ सको।

कालोदायी को इससे सन्तोष नहीं हुआ इसलिये गौतम के थोड़ी देर बाद वह मेरे पास आया। और पंचास्तिकाय

का खुलासा मांगा, और प्रमाणित करने का आग्रह किया।

मैंने कहा— सुख दुःख का संवेदन तुम्हें होता है कालोदायी ?

कालोदायी—जी हां !

मैं—यही जीवास्तिकाय का संवेदन है। अब इसको सिद्ध करने के लिये तो प्रमाण की जरूरत न रही।

कालोदायी—ठीक है।

मैं—रूप रस गन्ध स्पर्श वाला भौतिक जगत् तुम देखते ही हो जो जड़ है। यही पुद्गलास्तिकाय है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है इसे भी सिद्ध करने की जरूरत नहीं है।

कालोदायी- यह भी ठीक है।

मैं- जितने पदार्थ गतिमान होते हैं उनको कोई न कोई निमित्त जरूर होता है। जैसे पथिक को पंथ। इसीप्रकार सारे गतिमान पदार्थों की गति में जो सामान्य निमित्त है वही धर्मास्तिकाय है। वह लोक व्यापक है। वह किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं है, अमूर्त्तिक है।

कालोदायी- यह भी ठीक है।

मैं- जो पदार्थ गतिमान हैं उनको जब तक कोई रोकनेवाला न मिले वे नहीं रुकते। चाहे पृथ्वी से रुकें, या जलसे, या वायुसे, किसी न किसी से वे रुकेंगे। तब जो सब गतिमान पदार्थों को रोकने में निमित्त कारण है वही अधर्मास्तिकाय है।

कालोदायी- यह भी ठीक है।

मैं- हर एक पदार्थ अपनी स्थिति के लिये कोई न कोई

आधार चाहता है। साधारणतः पृथ्वी सब का आधार माना-जाता है पर जो पृथ्वी जल आदि सभी द्रव्यों का आधार है वह आकाशास्तिकाय है।

कालोदायी- यह बात भी ठीक ही मालूम होती है भंते। आपका पंथ बहुत युक्तियुक्त मालूम होता है भंते! कृपाकर अब आप अपने तीर्थका विशेष प्रवचन करें।

मैंने अपने धर्म का विस्तार से विवेचन किया। इससे कालोदायी दीक्षित होगया।

१००—भेदभाव का बहाना

१८ बुधी ६४६५ इ. सं-

नालन्दा के एक धनिक लेप के हस्तियाम उद्यान में ठहरा हूँ। गीष्म ऋतु के लिये यह उद्यान बहुत अच्छा है। इसके पास में एक उदक शाला (स्नान गृह) भी है। तीर्थंकर पार्श्व-नाथजी का अनुयायी एक उद्दक नाम का श्रमण भी ठहरा है। आज गौतम से उसकी बातचीत हुई। मनुष्य भेदभाव बनाये रखने के लिये जान में या अनजान में किस प्रकार बहाने ढूँढ लेता है, जानकर आश्चर्य होता है। जहां भेद का कोई कारण नहीं होता वहां भी मनुष्य हास्यास्पद भेद बना लेता है। उद्दक ने भी इसी प्रकार के भेद की कल्पना कर रक्खी थी। उसने गौतम से कहा—

आप लोग श्रमणोपासक को इस प्रकार प्रतिज्ञा कराते हैं—"राजदंड देने के अतिरिक्त मैं किसी त्रसजीव की हिंसा न करूंगा" इस प्रतिज्ञा के अनुसार वह स्थावर जीव की हिंसा करता है। पर स्थावर भी कभी त्रस रहा होगा इस दृष्टि से स्थावर भी त्रस है और स्थावर की हिंसा में प्रतिज्ञाभंग का दोष लगता है इसलिये प्रतिज्ञा में ऐसा शब्द डालिये कि त्रस-

भूत जीवों की हिंसा न करूंगा।

गौतम ने कहा-आयुष्मन्, इस निरर्थक शब्दाडंबर का कोई अर्थ नहीं। जो त्रसभूत है वहीं त्रस कहलाता है, जो त्रस-रूप नहीं हुआ है उसे त्रस नहीं कहा जाता है।

पर उद्दक अपना हठ छोड़ने को तैयार न हुआ। इतने में दूसरे पार्श्वापत्य स्थिविर आगये। उनसे गौतम ने पूछा—

आर्यो, अगर कोई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा लेले कि मैं अन-गार साधुओं को नहीं मारूंगा और फिर वह ऐसे किसी व्यक्ति को मारता है जो कभी अनगार साधु था पर आज साधुता छोड़ चुका है। तो क्या अुसकी प्रतिज्ञाभंग होगी ?

स्थविर-नहीं, इनसे प्रतिज्ञाभंग न होगी, जब वह मनुष्य अनगार है ही नहीं, तब उसमें प्रतिज्ञा भंग का कारण क्या रहा।

इस प्रकार अनेक उदाहरण देकर गौतम ने समझाया। पर उद्दक न समझा और चलने लगा। तब गौतम ने उसे रोका और फिर समझाया तब वह समझा और पार्श्वनाथजी का धर्म छोड़कर मेरे धर्म को अंगीकार किया।

३ सत्येशा ६४६८ इ. सं.

नालन्दा में चौंतीसवां चातुर्मास बिताकर विदेह के वाणिज्यग्राम आया। यहां सुदर्शन सेठ को उसके पूर्वभव की कथा सुनाकर प्रभावित किया जिससे वह दीक्षित होगया।

पैंतीसवां चातुर्मास वैशाली में विताया।

इसके बाद कौशल की ओर विहार कर फिर विदेह लौटा और छत्तीसवां चातुर्मास मिथिला में बिताया। वहां से विहार कर राजगृह के गुणशिल चैत्य में ठहरा हूं।

यहां कुछ अन्य तीर्थिकों ने मेरे स्थविर शिष्यों पर आक्षेप किया कि तुम लोग अदत्त ग्रहण करते हो, क्योंकि जिस समय दाता कोई चीज देता है वह चीज जब तक तुम्हारे पात्र में नहीं आजाती तब तक तुम्हारी नहीं है। बीच के समय में वह दीयमान है दत्त नहीं। जो दत्त नहीं वही तुम लेते हो इसलिये अदत्तग्राही कहलाये।

साम्प्रदायिकता के मोह में पड़कर मनुष्य किस प्रकार के हास्यास्पद आक्षेप करने लगता है इसका यह नमूना है।

अस्तु, स्थविरों ने उत्तर दे दिया कि दाता के हाथ से छूटने पर वह हमारी होजाती है। हम दीयमान को भी दत्त मानते हैं।

बस, इस उत्तर से बेचारे अन्यतीर्थिक निरुत्तर होगये।

कैसे बालोचित प्रश्नोत्तर!

४ धामा ९४६९ इ. सं.

सैंतीसवां वर्षावास राजगृह में बिताकर तथा उसके बाद मगध में ही विहार कर फिर राजगृह आकर गुणशिल चैत्य में ठहरा हूं।

गत वर्ष दीयमान और दत्त की चर्चा में जो अन्यतीर्थिक निरुत्तर हुए थे उनने उसके आगे का वक्तव्य सोचविचार लिया है। अब अपनी बात जमाये रखने के लिये वे कहने लगे हैं कि दीयमान दत्त नहीं होसकता, चलमान चलित नहीं होसकता। क्योंकि दीयमान यदि दत्त होजाय तो दान की क्रिया बन्द होजाना चाहिये, चलमान यदि चलित होजाय तो चलने की क्रिया बन्द होजाना चाहिये।

ये लोग नीचा दिखाने के लिये किस प्रकार बाल की

खाल निकालने की निरर्थक कोशिश करते हैं कि आश्चर्य होता है। अस्तु मैंने भी जैसे को तैसा उत्तर देदिया। मैंने कहा--

कोई पदार्थ चलमान तभी कहलाता है जब कि थोड़ा बहुत चल चुका हो। जो बिलकुल नहीं चला वह चलमान नहीं कहला सकता। इसलिये चलमान जितने अंश में चल चुका है उतने अंश में चलित कहलाया। इसलिये चलमान चलित भी है। नहीं तो वह चलमान नहीं कहला सकता।

बेचारे अन्यतीर्थिक फिर निरुत्तर होगये।

१०१—जीव कर्तृत्व

११ जिन्नी ६४७० इ. स.

अड़तीसवां चातुर्मास नालन्दा में बिताकर विदेह में विहार करता हुआ मिथिला आया। यहां गौतम ने एक प्रश्न का खुलासा कराया कि जगत् के सब कार्य कार्यकारण की परम्परा के अनुसार होते हैं फिर जीव पुण्यपाप कैसे करता है? इसमें जीव का उत्तरदायित्व क्या है।

गतवर्ष कालोदायी ने भी कुछ इसी ढंग का प्रश्न पूछा था।

मैंने कहा-कार्यकारण की परम्परा में जीव का कर्तृत्व भी शामिल है। पर जड़ पदार्थों की अपेक्षा जीव में विशेषता है। जड़ पदार्थों में कारणत्व तो है पर कर्तृत्व नहीं। जीव की यह बड़ी भारी विशेषता है कि वह कर्ता है। उसमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न है।

ज्ञान की कमी से तथा असंयमवृत्ति से जीव पाप करता है और पर्याप्त ज्ञान तथा संयम वृत्ति से जीव पुण्य, करता है।

गौतम—पुण्य का फल सुख है और पाप का फल दुःख

है, और हर एक जीव सुख चाहता है और दुःख नहीं चाहता तब वह पाप क्यों करता है? कैसे करता है? सुखके लिये वह पुण्य ही क्यों नहीं करता?

मैं—सम्यक्त्व या सत्य का दर्शन न होने से ऐसा होता है गौतम। जैसे जब कोई मनुष्य स्वादिष्ट किन्तु अपथ्य भोजन करता है तब अन्त में रोगी होकर दुःखी होता है। प्रवृत्ति तो उसकी स्वाद के सुख के लिये हुई थी परन्तु भविष्य में वह अपथ्य अधिक दुःख देगा इस सत्य का अनुभव उसे नहीं था। सत्यदर्शन की इस कमी से वह सुख की लालसा में दुःख पैदा कर गया।

एक बीमार आदमी दुःस्वादु औषध लेता है। औषध से उसे सुखानुभव नहीं होता किन्तु जानता है कि इसका परिणाम अच्छा होगा, इस सत्यदर्शन से वह सुख की लालसा में दुःख भी उठा जाता है।

अगर प्राणी सर्वहित का ध्यान रक्खे सर्वकाल के हित-पर ध्यान रक्खे तो वह पाप न करे। पर इस सम्यक्त्व की कमी से प्राणी पाप करता है।

गौतम—क्या यह सम्यक्त्व और संयम प्राप्त करना प्राणी के वश की बात है?

मैं—हां! वश की बात है। जब तक प्राणी संज्ञी नहीं होता तब तक वह इस दिशा में प्रगति नहीं कर सकता, पर जब संज्ञी होजाता है तब उसमें विवेक की मात्रा प्रगट होने लगती है, दुरदर्शिता आने लगती है, इसका उपयोग करना प्राणी के वश की बात है। इसलिये वह उत्तरदायी है। जड़ पदार्थों के समान वह कार्यकारण की परम्परा ही नहीं है किन्तु उसमें कर्तृत्व का, ज्ञान इच्छा प्रयत्न का सम्मिश्रण भी हुआ है।

इसीलिये जीव को विशेषतः मनुष्य को भवितव्य के भरोसे या कार्यकारण परम्परा के भरोसे अकर्मण्य या अनुत्तरदायी न बनना चाहिये, किन्तु उन्नति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

१०२—तत्व अतत्व

१० चिंगा ११६७२ इ. सं.

मिथिला में उन्तालीसवां चातुर्मास विताकर विदेह में विहार किया और फिर चालीसवां चातुर्मास भी मिथिला में विताया। वहां से मगध की तरफ विहार कर राजगृह के गुणशिल चैत्य में ठहरा। यहां अग्निभूति वायुभूति का देहान्त होगया। अब मेरे गणधरों में इन्द्रभूति और सुधर्मा ही वच रहे हैं।

मेरा शरीर भी कुछ शिथिल हो चला है पर जगदुद्धार का कार्य तो अन्त समय तक करना ही है।

मैंने इकतालीसवां चातुर्मास राजगृह में विताया।

इन दिनों गौतम ने मुझ से ऐसे बहुत से प्रश्न पूछे जिनका मोक्षमार्ग से सम्बन्ध नहीं है। जैसे सूर्य और चन्द्र तथा तारों की स्थिति गति, विश्व रचना, युगपरिवर्तन, परमाणुओं की रचना, उनका बन्ध विघटन तथा रासायनिक परिवर्तन आदि। यहां तक कि राजगृह में जो उष्ण जल के स्रोत वहते हैं उनका कारण भी पूछा।

इन दिनों मैं गौतम के इन सब प्रश्नों के उत्तर बहुत विस्तार से देता रहा हूं। और गौतम के लिये वे सन्तोष-जनक भी हुए हैं। पर आज मैंने गौतम से इस विषय में एक रहस्य की बात कही।

मैंने कहा—गौतम इस बात का ध्यान सदा रखना है कि

जगत में जितनी जानकारी हैं सब को तत्वज्ञान नहीं कहते। अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहिये पर यह न भूलना चाहिये कि तत्वज्ञान के सिवाय अन्य बातों के ज्ञान में कुछ भूल होजाय तो भी सम्यक्त्व में क्षति नहीं पहुँचती।

गौतम—तत्वज्ञान से क्या तात्पर्य हैं भन्ते।

मैं—तत्व तो मैं तुम्हें बताचुका हूं कि तत्व सात हैं। मूल तत्व तो स्व और पर है। इसे आत्म और अनात्म भी कह सकते हैं। इसके बाद यह जानना होता है कि जीवनमें वे कौन कौन से विचार और आचार हैं जिनसे दुःख आता है यह आश्रव तत्व है। दुःख के बन्धन में आत्मा किस तरह बंधा रहता है यह बन्ध तत्व है। आश्रव के रोकने के उपाय को संवर कहते हैं। बन्धनों को धीरे धीरे कम करने या हटाने को निर्जरा कहते हैं और बन्धनरहित अवस्था का नाम मोक्ष है। इसमें अनन्त सुखका स्रोत भीतर से उमड़ने लगता है।

जो ज्ञान साक्षात् या परम्परा से इस तत्वज्ञान का अनिवार्य अंग बन जाता है, वह महत्वपूर्ण है, उसी पर सम्क्त्व या सत्य निर्भर है बाकी ज्ञान इतना महत्व नहीं रखता। वह सच हो तो ठीक ही है, न हो तो इससे सम्यक्त्व तत्वज्ञता आदि में धक्का नहीं लगता। अर्हत तत्वों का प्रत्यक्षदर्शी और सर्वदर्शी होता है।

इन दिनों तुमने जो अनेक प्रश्न पूछे हैं जैसे विश्वरचना, ज्योतिर्मण्डलकी गति, उष्ण जल के झरने आदि उनकी जानकारी बुरी नहीं है पर यह ध्यान रखना कि वे तत्वज्ञान रूप नहीं हैं। उनकी जानकारी सच झूठ होने से मोक्षमार्ग के ज्ञानमें, तत्वज्ञता में अर्हतपनमें कोई बाधा नहीं आती।

गौतमने हाथ जोड़कर कहा-बहुत ही आवश्यक रहस्य बतलाया प्रभु आपने।

१०३-निर्वाण

२८ धनी ११६७३ इ. सं.

राजगृह से विहार कर मैं अपापा नगरी आया। पिछले कुछ दिनोंसे प्रचार और प्रवचन की मात्रा बढ़ादी थी क्योंकि मुझे मालूम होने लगा था कि मेरा शरीरवास इस वर्ष समाप्त होजायगा। इसलिये जितना अधिक भला कर जाऊं उतना ही अच्छा।

आज राजा हस्तिपाल के सभाभवनमें प्रहर भर रात जाने तक प्रवचन करता रहा।

इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा को अुपदेश देने के लिये पासके गांव में भेजदिया है। सम्भव यही है कि गौतम के आने के पहिले ही मेरी विदा होजायगी। गौतम को इससे दुःख तो बहुत होगा पर अच्छा ही है। अुसमें इससे आत्म निर्भरता भी आयगी।

सब लोगों को शयन करने की मैंने अनुमति देदी है। आधी रात्रि बीत भी चुकी है। ऐसा मालूम होता है कि सूर्योदय होने के पहिले मेरा महाप्रस्थान होजायगा।

आज मुझे पर्याप्त सन्तोष है। जीवन की अन्तिम रात्रि तक मैंने कार्य किया। इससे कहना चाहिये कि अर्हत को बुढ़ापा नहीं आता।

जिस क्रांति को लक्ष्य करके मैंने घर छोड़ा था अुसमें बहुत कुछ सफलता मिली है। जगत में अहिंसा का-दया का, प्रचार पर्याप्त हुआ है, इससे लाखों प्राणियों की रक्षा हुई है, लाखों जीवन शुद्ध हुए हैं।

व्यापारी तो पूंजी के दूने होने को भी बड़ा लाभ समझता है, फिर मैं तो हजारों गुणा होगया हूं।

पर अगर इतनी सफलता न मिलती तो ? तो क्या अपने ध्येय पर अटल रहता ? मैं अन्त समय में बिलकुल अक्षब्ध भाव से कह सकता हूं कि तो भी अटल रहता। मैंने जो किया अुसका भीतरी आनन्द इतना था, कि बाहरी सफलता निष्फलता की पर्वाह ही नहीं थी।

यही तो मेरा मोक्ष था।

मैंने वह पाया और दूसरों को दिया।

संसार के प्राणियो! मैंने तुम सब का भला चाहा है और अुसीके लिये दिनरात प्रयत्न किया है।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार सब जीव स्वपर कल्याण के कार्य में लगें, लगे रहें यही मेरी शुभाकांक्षा है, यही मेरी विश्वमैत्री है, यही मेरी वीतरागता है।

जगत् में शान्ति हो ! चित् शान्ति हो ! अच्छा, अब विदा।

वर्धमान — महावीर

म. महावीर और सत्यसमाज

महावीर के अन्तस्तल में महावीर स्वामी का जीवन चरित ही नहीं है, समूचे जैन धर्म का मर्म भी है और साथ ही धर्म संस्थाओं के स्वरूप पर भी सच्चा प्रकाश पड़ता है। कोई महान से महान व्यक्ति और महान से महान धर्म संस्था भी समाज के कल्याण के लिये हैं, जगत के सुधार के लिये और उसकी समस्याओं को हल करने के लिये हैं, और यही उसके अच्छे बुरे या जीवित मृत की कसौटी है

अन्तस्तल को पढ़ने से उस युग की समस्याओं का और उन्हें हल करने के लिये म. महावीर के घोर प्रयत्नों का पता लगता है। तप त्याग विश्वहितैषिता और दिनरात की सेवा के कारण हृदय कृतज्ञता से और विनय से भर जाता है। परंतु म. महावीर के प्रति कृतज्ञ रहते हुए भी हम म. पार्श्वनाथ के प्रति भी कृतज्ञ रहते हैं हालांकि दोनों तीर्थंकर होने से दोनों के अपने अपने तीर्थ थे। महावीर स्वामी के तीर्थ में म. पार्श्वनाथ का तीर्थ समागया, द्रव्यक्षेत्र काल भाव के अनुसार स्वतन्त्र रूप में आवश्यक क्रांति हुई, पर मान्यता दोनों की रही। जैन धर्म का यह सफल प्रयोग इस बात की निशानी है कि क्रान्ति होजाने पर भी, भिन्न भिन्न तीर्थंकर होजाने पर भी, नये पुराने की विनय भक्ति समान भाव से रक्खी जासकती है। अनेकांत सिद्धांत का यह बहुत सुन्दर व्यावहारिक रूप था, बड़ी से बड़ी सार्थकता थी।

म. पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद सिर्फ पौने दो सौ वर्ष वर्ष में म. महावीर का जन्म होता है। इसप्रकार दोनों के न काल में अधिक दूरी है न क्षेत्र में अधिक दूरी, उन दोनों के युगों में वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से भी कोई विशेष अन्तर नहीं है।

फिर भी दोनों के अलग अलग तीर्थ हैं। अब उस युग को बीते ढाई हजार वर्ष होगये हैं, क्षेत्रीय सम्बन्ध पहिले से सैकड़ों गुणा बढ़गया है सारी पृथ्वी का एक सम्बन्ध होगया है। पिछली कुछ शताब्दियों में जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है वह पहिले के हजारों वर्षों की प्रगति से भी बीसों गुणी है।

इन सब बातों का जब हम विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि मगध और उसके आसपास के इलाके को ध्यान में रखकर ढाई हजार वर्ष पहिले बने हुए धर्म तीर्थ से अब काम नहीं चल सकता। खासकर जब कि इस लम्बे समय में वह तीर्थ जीर्ण शीर्ण होगया है। अब तो उसके उत्तराधिकारी के रूप में किसी नये तीर्थ की जरूरत है।

वह है सत्यसमाज। अब वैज्ञानिक साधनों ने सारी पृथ्वी से सम्बन्ध जोड़ दिया है, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान, विश्वरचना आदि के क्षेत्र में विशाल सामग्री इकट्ठी कर दी है, पुरानी मान्यताएँ टूट चुकी हैं, नये सिद्धान्त उनका स्थान लेचुके हैं। धर्म और विज्ञान के मिलाने का पुराना तरीका बेकार पड़गया है नये तरीके से उनके समन्वय की जरूरत आपड़ी है। राजनीति और अर्थशास्त्र के रूपमें जमीन आसमान का फर्क पैदा होगया है। इन सब बातों का ध्यान रखकर ही नये तीर्थ की जरूरत है। सत्यसमाज ने इन सब समस्याओं को युगानुरूप और वैज्ञानिक ढंग से सुलझाया है। इसके चौबीस सूत्र जीवनके तथा समाज के हर सवाल पर प्रकाश डालते हैं। सत्यसमाज में जैनधर्म के अनेकान्त का फैला हुआ विकसितरूप साफ दिखाई देता है।

सत्यसमाज, हिन्दू मुसलमान जैन बौद्ध ईसाई, आदि सभी का समन्वय करता है। ३६३ मतों का समन्वय करने वाले

अनेकान्त का यह आधुनिक और व्यवहारिक रूप है। यों दूसरे धर्मतीर्थों के राम आदि देवों को जैनधर्म ने अपनाया ही है, अुन्हें केवली आदि मानकर सांस्कृतिक समन्वय का पूरा प्रयत्न किया है। सत्यसमाज इसी नीति का व्यापक और व्यवस्थित रूप है। ऐसी हालत में यदि अधिकांश जैन लोग सत्यसमाज को अपनायें तो वे सच्चे और आधुनिक जैनधर्म को, या जैन धर्म के नये अवतार को अपनायँगे।

मनुष्य जिस वातावरण में शैशव से पलता है वह उसी का पुजारी होजाता है, सो पूजा करने में, कृतज्ञता प्रगट करने में बुराई नहीं है; परन्तु जैसे बाप दादों की पूजा करते हुए भी धन के लिये बाप दादों से भिन्न साधन अपनाता है, जिसमें लाभ होता है वही करता है, उसी प्रकार पुराने तीर्थंकरों और तीर्थों की पूजा करते हुए भी धर्म के लिये आधुनिक तीर्थ को अपनाना चाहिये। सत्यसमाज आधुनिक धर्म तीर्थ है, इसमें इस युग की सभी समस्याओं का समाधान है। महावीर स्वामी यदि आज आते तो वे भी इसीसे मिलते जुलते सन्देश देते। और अुनका दृष्टिकोण यही होता।

हरएक धर्मसंस्था दुनिया को सुखी बनाने के लिये आती है। भीतर बाहर से हरतरह सुखी बनाने का कार्यक्रम बनाती है। जैनधर्म के अनुसार जब यहां भोगभूमि का युग था अर्थात् समाज की कोई समस्या नहीं थी तब यहां कोई धर्म नहीं था। जब समस्याएँ पैदा हुईं, दुःख बढ़ा, तब कुलकर तीर्थंकर आदि आये। इससे मालूम होता है कि जीवन की तथा समाज की समस्याओं का हल करना ही हर एक धर्म का कार्य है और यही उसकी कसौटी है। जैनधर्म ने अपने युग में यही किया और काफी सफलता मिली। अब युग आगे बदला है, आगे बढ़ा है, जटिल और कुटिल हुआ है, उसके लिये युग के

अनुरूप नये कार्यक्रम की जरूरत है। वह सत्यसमाज के चौवीस जीवन सूत्रों के रूप में दिया है

चोवीस जीवन सूत्र ये हैं।

१—विवेकी (सम्यक्त्वी) बनो।

२—सर्वधर्म समभावी (अनेकांत सिद्धांत को इस युग के अनुरूप काम में लाने वाले) बनो।

३—सर्व जाति समभावी बनो।

४—नर नारी समभावी बनो।

५—अहिंसा का पालन करो।

६—सत्य बोलो।

७—ईमानदार अर्थात् अचौर्य व्रतधारी बनो।

८—शील का पालन करो।

९—दुर्व्यसन (जूआ धूम्रपान शराब आदि छोड़ो)

१०-अपने निर्वाह के लिये उपयोगी श्रम करो। (दूसरों की मिहनत के भरोसे अपनी गुजर न करो। किसी की कोई सेवा लो तो उसके बदले में ऐसी सेवा भी उसी के अनुरूप दो जिससे उसका भला हो।)

११-अतिपरिग्रह न रक्खो।

१२-अतिभोग न करो।

१३-मन तन आदि से हर तरह बलवान और गौरवशाली बनो।

१४-स्वतंत्र बनो। (संयम और सहयोग का बन्धन रहे, पर किसी को कोई गुलाम बनाकर राज्य न करे, शासन न चलावे।

१५-शान्त सभ्य बनकर शिष्टाचार का पालन करो।

१६-पुरुषार्थ को महत्ता दो। दैव अपना काम करता रहे तुम उसकी चिन्ता न करो।

१७-संसार का स्वभाव उन्नतिशील मानो, अवनति को बीमारी समझो और उन्नति की आशामें सदा काम करते रहो।

१८-सेवाभावी सदाचारी और योग्य व्यक्तियों के हाथमें शासन कार्य सौंपो।

१९-न्यायसे निर्णय होने दो, पशुबल या युद्ध से नहीं। युद्धों को गैरकानूनी ठहराओ।

२०-नीति का विरोध न करके भौतिक सुखसाधनों की वृद्धि करो।

२१-मनुष्य मात्र की एक भाषा और एक लिपि बनाओ।

२२ मनुष्य मात्र का एक राष्ट्र बनाओ।

२३-सारे संसार में कौटुम्बिकता लाने की कोशिश करो।

२४-कर्मयोगी बनो।

ये चौबीस जीवन सूत्र सत्यसमाज के प्राण हैं। अधिकांश जैनधर्म से मेल खाते हैं, कुछ युग के अनुसार जोड़े गये हैं परन्तु मानव मात्र के लिये जरूरी हैं। जैन लोग इन्हें जैनधर्म का परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण समझकर इन्हें अपनायें। अन्तस्तल पढ़कर सत्यामृत सत्येश्वरगीता जीवनसूत्र, सत्यलोकयात्रा आदि ग्रन्थ पढ़ें। सम्प्रदायों में छिन्न भिन्न हुए जैनधर्म को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने के लिये जैनधर्म मीमांसा पढ़ें। यह सब साहित्य पढ़ने से तथा विवेकपूर्वक विचार करने से उन्हें सत्यसमाजी बनना जरूरी मालूम

होगा। और वे स्वपर कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ेंगे।

उसके लिये जैनधर्म छोड़ने की जरूरत नहीं है पर सत्यसमाज में शामिल होकर सच्चे जैनत्व से नाता जोड़ने की जरूरत है।

आशा है इस अन्तस्तल को पढ़ने से पाठकों का ध्यान इस ओर जायगा।

६ टुंगी ११९५३ इतिहास संवत्   सत्यभक्त
२८-८-५३   सत्याश्रम वर्धा

